

# वायुपुराण का समीक्षात्मक अनुशीलन

(A Critical Study of the Vāyu-Purāṇa)



अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

की

पी-एच०डी० (संस्कृत) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

का सार

निर्देशक :

प्रो० सत्यप्रकाश शर्मा

आचार्य एवं पूर्व-विभागाध्यक्ष

प्रस्तोत्री :

कु० पूनम वार्ष्णेय

संस्कृत-विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

मई, २००१

## संक्षिप्तिका

### वायुपुराण एक समीक्षात्मक अध्ययन

पुराण—साहित्य में वायुपुराण प्राचीन एवं इतिहास की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह शिवपुराण से पृथक् उच्चकोटि का महापुराण है। इसमें अन्य पुराणों की अपेक्षा कतिपय विशिष्टताएँ विद्यमान हैं जिनके कारण इतिहासवेत्ता इसे सबसे प्राचीन पुराण मानते हैं। प्राचीन साहित्य में अनेकत्र इसे तथा इसके उद्धरणों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया गया है। पुराण पञ्चलक्षण का इसमें स्पष्टतया विवेचन हुआ है। इसके अतिरिक्त भी इसमें बहुत विषय—सामग्री है। तीर्थ—माहात्म्य के अन्तर्गत गया—तीर्थ बड़े विस्तार के साथ यहाँ वर्णित है। संगीतशास्त्र पर इसमें एक अध्याय दिया गया है। यहाँ कई स्थलों पर त्रिदेवों में समन्वय परिलक्षित होता है। यत्र—तत्र काव्य—प्रतिभा के चमत्कारपूर्ण वर्णन से भी यह पुराण परिपूर्ण है। विश्व की सामाजिक एवं राष्ट्रिय चेतना के प्रतीक अष्टादश रत्नों में यह प्रतिष्ठित है।

प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध छः परिच्छेदों में विभक्त है। इन परिच्छेदों के क्रमशः विषय हैं : पुराण—परम्परा और उसकी पृष्ठभूमि; वायुपुराण : स्वरूप एवं रचनाकाल; वायुपुराण भाषा—वैशिष्ट्य एवं शैली; वायुपुराण में आगत आख्यान; सृष्टिक्रम एवं वंशवर्णन; धर्म, दर्शन, एवं संस्कृति । अन्त में इनके उपसंहार रूप निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम—परिच्छेद में पुराण—परम्परा और उसकी पृष्ठभूमि के अन्तर्गत पौराणिक वाङ्मय की महिमा के साथ—साथ पुराण—शब्द की व्युत्पत्ति एवं निरुक्ति, पञ्चलक्षण (सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर, वंशानुचरित), पुराण, उपपुराण, औपपुराणों की संख्या, प्राचीनता एवं रचनाकाल तथा पौराणिक वाङ्मय की पृष्ठभूमि पर विचार किया गया है।

पुराण—परम्परा वैदिक—परम्परा से भी प्राचीनतर है क्योंकि लोक—परम्परा से निःसृत तथा पोषित है भले ही आगे चलकर उसका उद्देश्य वेदार्थ का उपवृंहण मान लिया गया । इसकी पृष्ठभूमि वैदिक, बौद्ध, जैन एवं विविध तान्त्रिक सम्प्रदायों की मान्यताओं से पोषित है।

द्वितीय—परिच्छेद में वायुपुराण के स्वरूप एवं रचनाकल का विश्लेषण करते हुए इसके महापुराणत्व को लिपिबद्ध किया गया है। वायुपुराण की प्राचीनता के प्रतीक विभिन्न प्रमाणों को उद्धृत करते हुए इसकी रचना ३५०—५०० के मध्य स्वीकार की गयी है। इसके अतिरिक्त इस पुराण के कतिपय अध्यायों की अर्वाचीनता के सम्बन्ध में हाजरा, रॉय, उपाध्याय के मतों की समीक्षा की गयी है।

तृतीय—परिच्छेद में पुराणगत भाषावैशिष्ट्य एवं शैली पर विचार किया गया है। पौराणिक भाषा का भाषा—वैज्ञानिक एवं काव्यशास्त्रीय अनुशीलन करते हुए अलंकार—विधान, छन्दोविधान, रस—योजना, निरुक्ति एवं लोक निरुक्तियों, सामासिक पदों, मुहावरों, सूक्तियों एवं पारिभाषिक पदों की एक सूची प्रस्तुत करते हुए भाषा की सरलता, सरसता, स्पष्टता, काव्यात्मकता आदि एवं शैली की रोचकता, आलंकारिकता आदि प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इसकी भाषा पाणिनिसम्मत होने पर भी देश्य—प्रभाव एवं आर्ष प्रयोगों से अनुप्राणित है। इसमें गद्य का नितान्त अभाव है। वर्णन के विविध संदर्भों में शैली—वैविध्य भी द्रष्टव्य है। आख्यान कथन के अवसरों पर शैली प्रायः समास रहित, घटना—प्रधान, उपदेशपरक एवं रोचक हो जाती है जो पंचतन्त्र की शैली का स्मरण कराती है। स्तोत्रों में प्रगाढ़—बन्ध शैली के दर्शन होते हैं जहाँ लम्बे—लम्बे समासों के कारण भाषा की क्लिष्टता स्पष्ट है।

संक्षेप में, समीक्ष्य पुराण की भाषा में नैसर्गिकता, रमणीयता, काव्यात्मकता, समास—बहुलता, श्रुति—माधुर्यता, अभिव्यंजकता, स्पष्टता, सम्प्रेषणीयता सर्वत्र अवलोकनीय है।

चतुर्थ—परिच्छेद में पुराणागत विभिन्न आख्यानों को संक्षिप्त में प्रस्तुत किया गया है। इन सभी आख्यानों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति के चरित्र—निर्माण की शिक्षा दी गई है। यहाँ आख्यानों का सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि भागों में वर्गीकरण न करके एक साथ देवताओं, ऋषियों, राजाओं आदि आख्यानों को सरल रीति से लिपिबद्ध किया गया है। आख्यानमयी शैली के कारण उपदेश अत्यन्त हृदयहारी हो गये हैं।

पञ्चम—परिच्छेद में सृष्टिक्रम और वंशवर्णन के साथ—साथ भूगोल और खगोल विषयक सामग्री का आकलन किया गया है। यहाँ भूगोल के अन्तर्गत जम्बू द्वीप तथा अन्य द्वीपों का विस्तार के साथ वर्णन हुआ है। किन्तु इनमें से अधिकांश भौगोलिक स्थानों का प्रत्यभिज्ञान अवशिष्ट है। इस पुराण में सृष्टि—प्रक्रिया कहीं तो सांख्य—सम्मत है और कहीं विशुद्ध पुराणकथात्मक शैली में निबद्ध है। भूगोल एवं खगोल विषयक वर्णन भी यहाँ सुस्पष्ट नहीं है।

षष्ठ—परिच्छेद को तीन खण्डों में विभक्त किया गया है, प्रथम : धर्म, द्वितीय : दर्शन और तृतीय : संस्कृति । प्रथम खण्ड के अन्तर्गत शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर—पूजा के साथ—साथ अन्य विभिन्न देवताओं के पुराणगत स्वरूपों के उल्लेख के साथ विभिन्न देव—सम्प्रदायों के पारस्परिक सौहार्दपूर्ण सहअस्तित्व का विशेष उल्लेख किया गया है। इसके साथ—साथ स्तुति, यज्ञ एवं तीर्थ विषयक विवेचन को भी संक्षेप में प्रस्तुत किया



गया है। स्तुति—सम्पदा, शीर्षक के अन्तर्गत विभिन्न शिव, विष्णु स्तोत्रों को विशेष रूप से समाहृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। तदनन्तर यज्ञ एवं याज्ञिक क्रियाओं को उद्धृत करते हुए यज्ञ—तालिका को भी संकलित किया गया है। तीर्थ—संग्रह शीर्षक के अन्तर्गत तीर्थ—माहात्म्य और पुराणगत तीर्थों की एक तालिका प्रस्तुत की गई है। यहाँ अन्य तीर्थों की अपेक्षा गया—तीर्थ का विस्तार से वर्णन हुआ है। उसके अन्दर आगत तीर्थों की तालिका को स्वतन्त्र में संकलित किया गया है।

षष्ठ—परिच्छेद के द्वितीय खण्ड में पुराणगत दार्शनिक तत्त्वों पर विचार किया गया है। सांख्य दर्शन के विभिन्न तत्त्व—प्रकृति, पुरुष आदि का यहाँ उल्लेख किया गया है। महायोगी शिव द्वारा प्रतिपादित पाशुपत या माहेश्वर योग पर संक्षिप्त रूप में प्रकाश डाला गया है।

षष्ठ—परिच्छेद के तृतीय खण्ड : संस्कृति के अन्तर्गत पुराणगत विभिन्न सांस्कृतिक तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए वर्ण—चतुष्टय एवं अन्य जातियाँ, आश्रम—व्यवस्था, संस्कार, आर्थिक दशा, नारी—दशा, शिक्षा, मनोविनोद, जीव—जन्तु, वानस्पति—सम्पदा, खाद्य एवं पेय, वस्त्राभरण, स्वास्थ्य एवं रोग आदि पर विचार—विमर्श किया गया है साथ ही यथावसर इनसे सम्बन्धित विभिन्न सूचियों को उद्धृत किया गया है।

इस प्रकार षष्ठ परिच्छेद में धर्म, दर्शन एवं संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों पर विचार करते हुए पुराणगत धार्मिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक तथ्यों को प्रकाशित किया गया है।

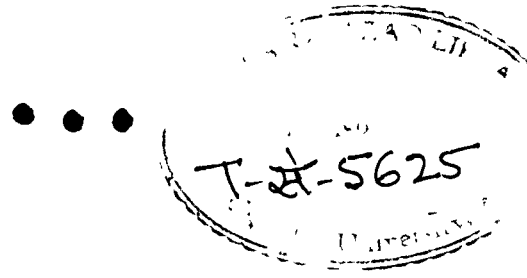
अन्त में 'उपसंहार' शीर्षक के अन्तर्गत शोध—प्रबन्ध के निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं। शोध—प्रबन्ध के अन्त में सूक्तियों तथा संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेजी के

विशिष्ट सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत की गयी है।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध में वायुपुराण का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। लेकिन यह प्रयास अभी पूर्ण नहीं है। इसकी समीक्षा के लिए यहाँ अभी और भी सन्दर्भ हैं। प्रत्येक परिच्छेद अपने आप में अपूर्ण हैं क्योंकि विस्तार भय से इनका संकेतिक रूप में वर्णन हो सका है। प्रत्येक परिच्छेद पर स्वतंत्र रूप से पृथक्पृथक् शोध—प्रबन्ध प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

वस्तुतः वायुपुराण एक अतिप्राचीन महापुराण है, इसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं। इसमें शैव धर्म की प्रधानता है पर वैष्णवादि अन्य धर्म भी विद्यमान हैं, जो इसे अन्य पुराणों की श्रेणी से हटाकर शीर्ष—स्थल पर प्रतिष्ठित करते हैं। पश्चात्कालीन क्षेपकों एवं परिवर्धन के बाद भी यहाँ धर्मशास्त्रीय सामग्री प्रचुरमात्रा में उपलब्ध है। यहाँ संगीतशास्त्र के गीतालङ्कारों को पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। श्रीराम शर्मा 'आचार्य' ने वायुपुराण (प्रथम—खण्ड) की भूमिका—भाग के अन्त में इसे उत्कृष्ट कोटि का महापुराण मानते हुए कहा है कि, “ ... १८ महापुराण, १८ उपपुराण, १८ अति—पुराण, १८ लघु—पुराण की विषय—सूची और वर्णन—शैली पर जब दृष्टिपात करते हैं तो वायुपुराण का दर्जा ऊँचा जान पड़ता है। उसमें सृष्टिरचना, जीव—जगत् का विस्तार, मानवीय—सभ्यता का विकास, समाज—व्यवस्था, शासन—व्यवस्था का क्रमशः उद्भव आदि विषयों का अन्य कितने ही पुराणों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक तथा बुद्धिसंगत ढंग से वर्णन किया गया है। हमारा विश्वास है कि पाठकगण इस पुराण का अध्ययन करके अनेक प्राचीन युग सम्बन्धी तथ्य को अधिक अच्छी तरह समझ सकेंगे। धर्म के स्वरूप और उपासना का इसमें जिस रूप में वर्णन

किया गया है उससे विवादग्रस्त प्रश्न उपस्थित करने के बजाय धर्म के उन मूल तत्त्वों पर प्रकाश पड़ता है जो मानव जीवन की सार्थकता के लिए मार्गदर्शक सिद्ध होंगे।”





# वायुपुराण का समीक्षात्मक अनुशीलन

(A Critical Study of the Vāyu-Purāṇa)



अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

की

पी-एच०डी० (संस्कृत) उपाधि हेतु प्रस्तुत  
शोध-प्रबन्ध

निर्देशक :

प्रो० सत्यप्रकाश शर्मा

आचार्य एवं पूर्व-विभागाध्यक्ष

प्रस्तोत्री :

कु० पूनम वार्णय

संस्कृत-विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

मई, २००१

# समर्पणम्

पितृणस्यांशभूतोऽयं

प्रबन्धः शोधसम्भवः।

मातृपितृपदाब्जेषु

सादरमर्प्यते मया ॥

प्रो० सत्य प्रकाश शर्मा,  
आचार्य: पूर्वविभागाध्यक्ष,  
संस्कृत विभागः,  
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालयः,  
अलीगढ़म् ।

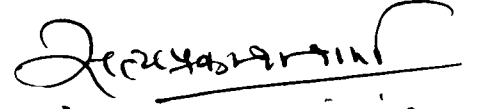
दिनांक— २६.०४.२००९

### प्रमाणपत्रम्

सहर्षं प्रमाणीक्रियते यत् कु० पूनम वाष्णेयेत्यभिधयाऽऽभिधीयमानया गवेषिकया अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालयस्य संस्कृतविषये 'पी—एच०डी०' त्र्युपाधिप्राप्तये नियमितरूपेण वर्षत्रयादधिकावधिं यावन्मन्निर्देशने वायुपुराणस्य समीक्षात्मकमध्ययनमधिकृत्य राष्ट्रभाषायां 'वायुपुराण का समीक्षात्मक अनुशीलन' इति योऽयं शोधप्रबन्धः प्रणीतः स चास्ति तस्याः सुविततवाङ्मयावगाहनोद्भूतमौलिकचिन्तनस्य प्रभूताध्यवसायस्य च प्रतिफलभूतोऽतो नीरक्षीरविवेकशालिभिः परीक्षकैः परीक्षणाय प्रस्तोतुमनुमन्यते ।

पुनश्चेदमपि प्रमाणीक्रियते यदनया गवेषिकया शोधार्थं विश्वविद्यालयद्वारा निर्धारिताः सर्वा अप्यपेक्षाः सम्यगनुपालिताः ।

Forwarded  
19.5.2009  
CHAIRMAN  
Department of Sanskrit  
Aligarh Muslim University

  
(प्रो० सत्य प्रकाश शर्मा)  
शोध—निर्देशकः

आवास संकेत : ५३ सरस्वती विहार,  
ज्ञान सरोवर, अलीगढ़—२०२००९  
☎ : ५०८३६९

## प्रास्ताविकम्

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता समन्वय की भावना है। पुराण इसके व्यापक प्रमाण हैं क्योंकि इनमें द्वैत, अद्वैत, शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य, बौद्ध एवं जैन आदि सभी प्रकार की विचारधाराओं का सामञ्जस्य है। आज पुराणों का मूलरूप छिन्न-भिन्न हो गया है जिसके परिणामस्वरूप कई पुराणों के एक होने के विषय में संदेह होने लगता है। शिव और वायु इसी भावना से ग्रस्त पुराण हैं। इन दोनों पुराणों को स्वतंत्र रूप में स्थापित करना मेरे शोध प्रबन्ध का गौण उद्देश्य है तथा वायुपुराण जो कि पुराण वाङ्मय की अमूल्य निधि है, का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना मुख्य लक्ष्य है। इसके लिए निर्दिष्ट क्षेत्रों की परिधि में रहकर ही सम्पूर्ण शोध—प्रबन्ध को प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध में कुल छः परिच्छेद हैं, जिनमें से प्रथम परिच्छेद में पुराण—परम्परा एवं उसकी पृष्ठभूमि को (प्रसंगवश पुराण—महिमा, व्युत्पत्ति संख्या आदि का वर्णन किया है), द्वितीय परिच्छेद में वायुपुराण के महापुराणत्व प्राचीनता एवं रचनाकाल को, तृतीय परिच्छेद में इसकी भाषा—वैशिष्ट्य एवं शैली को, चतुर्थ परिच्छेद में पुराणगत विभिन्न आख्यानों को, पञ्चम परिच्छेद में सृष्टि प्रक्रिया एवं वंश वर्णन को तथा षष्ठ परिच्छेद में धर्म, दर्शन एवं संस्कृति सम्बन्धी विभिन्न तथ्यों को प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध में वायुपुराण का प्रत्येक दृष्टि से समीक्षात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है लेकिन मेरा यह शोधकार्य अभी पूर्ण नहीं है। इसमें अभी समीक्षा की दृष्टि से बहुत सामग्री है जो शोध का आग्रह करती है। इतने विस्तृत पुराण को अपने शोध—प्रबन्ध में समेटना बहुत ही कठिन और असम्भव है। सिद्धिदात्री माँ जगदम्बा की असीम अनुकम्पा एवं सद्गुरु के सफल निर्देशन में रहकर ही मैं अपने इस शोध कार्य को



पूर्ण कर सकी हूँ, क्योंकि इनके अभाव में ज्ञान—विज्ञान की प्राप्ति असम्भव है। गुरु तो शिष्य को उत्तम बुद्धि प्रदान कर उनके अन्तर्जगत् को प्रकाशपूर्ण बनाते हैं—

सर्वेषामेव लोकानां यथा सूर्यः प्रकाशकः ।

गुरुः प्रकाशकस्तद्वच्छिष्याणां बुद्धिदानतः ॥

अध्ययन—अवधि की प्रारम्भिक अवस्था से ही मेरा संस्कृत से नैसर्गिक सम्बन्ध जुड़ गया था और समय के साथ—साथ मेरी संस्कृत विषय के प्रति रुचि तीव्रतर होती गई। फलतः संस्कृत विषय में स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण करने के साथ—साथ देववाणी संस्कृत भाषा के प्रति मेरा लगाव और अधिक दृढ़ हुआ। परमादरणीय गुरुवर एस०एन०मिश्र जी, भू० पू० संस्कृत विभागाध्यक्ष, धर्म समाज कॉलिज, अलीगढ़ द्वारा प्रोत्साहित किये जाने पर मैं इस पुराण के समीक्षात्मक अध्ययन के लिए अग्रसर हुई। प्रेरणा के स्रोत गुरुश्रेष्ठ का मैं अभिनन्दन करती हूँ।

मेरे शोध कार्य की यात्रा डॉ० सत्य प्रकाश शर्मा, प्रोफेसर एवं पूर्वसंस्कृत—विभागाध्यक्ष, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ के निर्देशन में प्रारम्भ होकर परिसमाप्त हुई। उन्होंने मुझे आवश्यकता से अधिक पितृवत् स्नेह व सहयोग प्रदान किया। उनके कुशल निर्देशन व निरीक्षण में ही मेरा यह शोध कार्य सम्पादित हो सका, उनसे जो प्रेरणा, सहायता व स्नेह मुझे मिला, उसके लिए मैं उनके प्रति श्रद्धा व सम्मान से नत हूँ।

मातृवत् स्नेह करनेवाली परम श्रद्धेया डॉ० सरोज शर्मा, निर्देशिका एवं प्राचार्या, श्री विद्या आश्रम, अलीगढ़ ने मेरे साथ लखनऊ विश्वविद्यालय जाकर इस शोध—प्रबन्ध को पूरा करने में जो सहानुभूतिपूर्ण सहयोग प्रदान किया उसको शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त कर पाना सम्भव नहीं। उन्हें मैं पुनः पुनः नमन करती हूँ।

मेरे इस शोध कार्य को पूरा करने में मेरे परम पूज्या माता—पिता जी एवं ज्येष्ठ भ्राताश्री ने आद्योपान्त आर्थिक सहयोग, स्नेह, उत्साह, प्रेरणा दी, जिसके परिणामस्वरूप मैं इस

कार्य में प्रवृत्त हुई और इसे अन्तिम रूप दे सकी हूँ। उनके श्रीचरणों में नतमस्तक होते हुए आभार व्यक्त करती हूँ ।

भोगीलाल लहेरचन्द्र इन्स्टीट्यूट ऑफ इन्डोलॉजी के निर्देशक प्रो० विमल प्रकाश जैन के प्रति भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिन्होंने मेरे लिए निश्चित अवधि के बाद भी पुस्तकालय को खुलवाया जिसके परिणामस्वरूप मैं अपने शोध—प्रबन्ध—सम्बन्धी बहुत सामग्री को एकत्र कर सकी।

प्रस्तुत शोध—यात्रा की पूर्णता में संस्कृत विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय के सभी अध्यापक— गुरुजनों के प्रेरणास्पद शुभाशीर्वचनों एवं प्रोत्साहन के प्रति हार्दिक अभिनन्दन करते हुए मैं विभागीय पुस्तकालय की लाइब्रेरियन कु० नुज़हत किदबई एवं मौलाना आजाद लाइब्रेयरी में कार्यरत श्री पीर मोहम्मद एवं श्री राकीम भाई, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, भोगीलाल लहेरचन्द्र पुस्तकालय, दिल्ली, अलीगढ़ के धर्मसमाज कॉलेज , वार्ष्णेय कॉलेज, मालवीय पुस्तकालय , राजकीय पुस्तकालय के अधिकारियों द्वारा प्रदत्त सहयोग के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करती हूँ।

शोध—प्रबन्ध टंकण कार्य के लिए मैं श्री एच०एम०त्रिपाठी की भी बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध को समय के अन्तर्गत शुद्ध व स्वच्छ रूप से टंकित किया ।

एक बार पुनः मैं उन सब के प्रति परिणति की सफलता से पूर्व ही कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहती हूँ, जिन्होंने मेरे इस शोध—कार्य को पूर्ण करने में परोक्षापरोक्ष सहयोग प्रदान किया ।

इस कार्य में असावधानीवश मुद्रण सम्बन्धी अथवा मेरी अल्पज्ञता के कारण यदि कोई अन्य त्रुटि रह गयी हो तो मैं आशा करती हूँ कि विवेकशील विद्वज्जन उसके प्रति उदार दृष्टि का परिचय देंगे ।

अन्त में सर्वशक्तिमयी माँ काली के चरणारविन्दों में श्रद्धाभिभूत होकर पुनःपुनः नतमस्तक होती हूँ । उस पराशक्ति का प्रसाद ही मेरी समस्त प्रेरणाओं एवं सफलताओं का स्रोत है।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

(पूज्य वाष्णोय)

## विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

प्रास्ताविकम्

प्रथम—परिच्छेद

१ — ३४

### ‘पुराण—परम्परा और उसकी पृष्ठभूमि’

- पुराण—महिमा,
- ‘पुराण’ शब्द की व्युत्पत्ति एवं निरुक्ति,
- वर्ण्य—वस्तु (पञ्चलक्षण),
- पुराण—संख्या : अष्टादश पुराण, उपपुराण, औपपुराण,
- प्राचीनता एवं रचनाकाल,
- पौराणिक वाङ्मय की पृष्ठभूमि ।

द्वितीय—परिच्छेद

३५—६६

### ‘वायुपुराण : स्वरूप एवं रचनाकाल’

- नारदीय एवं मत्स्य पुराणगत वायुपुराण की विषयानुक्रमणिका,
- वायुपुराण : एक सामान्य परिचय,
- वर्ण्य—वस्तु,
- वायुपुराण का महापुराणत्व,
- शिव—वायु का साम्य—वैषम्य,
- ब्रह्माण्ड—वायु का साम्य—वैषम्य,
- वायुपुराण : एक स्वतंत्र महापुराण,
- प्राचीनता एवं रचनाकाल,
- कुछ अध्यायों की उत्तरकालीनता के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विचार ।

‘वायुपुराण : भाषा—वैशिष्ट्य एवं शैली’

- भाषा—वैशिष्ट्य
- वैदिक एवं लौकिक भाषा का सम्मिश्रण
- मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ
- लोकोपमानों का प्रयोग
- निर्वचन एवं लोकनिरुक्तियाँ
- पारिभाषिक शब्द
- काव्यशास्त्रीय अनुशीलन :
  - अलंकार—विधान,
  - छन्दो—विधान,
  - रस— योजना
- शैली

‘वायुपुराण में आगत आख्यान’

- आख्यान का महत्त्व,
- आख्यान—लक्षण,
- आख्यान—परम्परा,
- पौराणिक आख्यान,
- वायुपुराणागत कतिपय आख्यान ।

‘सृष्टिक्रम, वंशवर्णन एवं भूगोल—खगोल’

- सृष्टि—प्रक्रिया,
- वंश एवं वंशानुचरित,

- वायुपुराणगत भूगोल,
- खगोल विद्या ।

## षष्ठ-परिच्छेद

२०१-३२८

### ‘धर्म, दर्शन एवं संस्कृति’

#### {खण्ड-क}

##### ‘धर्म’

- धर्म : व्युत्पत्ति एवं लक्षण,
- पौराणिक धर्म : शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर,
- अन्य देवता : इन्द्र, मरुत्, वरुण, अग्नि, वृहस्पति,  
सोम, अश्विन्, गन्धर्व, ब्रह्मा, त्रिदेव-समन्वय,
- नास्तिक सम्प्रदाय : बौद्ध एवं जैन धर्म,
- यज्ञ एवं याज्ञिक क्रियाएँ,
- स्तुति-सम्पदा ।
- तीर्थ-संग्रह ।

#### {खण्ड-ख}

##### ‘दर्शन’

- दार्शनिक-तत्त्व,
- सांख्य दर्शन और वायुपुराण,
- पाशुपत या माहेश्वर योग।

#### {खण्ड-ग}

##### ‘संस्कृति’

- चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था एवं अन्य जातियाँ,
- आश्रम-व्यवस्था,
- संस्कार,
- आर्थिक-दशा,
- स्त्री-दशा,
- शिक्षा,

- स्वास्थ्य एवं रोग,
- मनोविनोद,
- जीव-जन्तु,
- वानस्पतिक-सम्पदा,
- अस्त्र-शस्त्र एवं अन्य युद्धोपयोगी सामग्री,
- खाद्य एवं पेय,
- वस्त्र और आभूषण।

उपसंहार

३२९—३३३

परिशिष्ट :

३३४—३४९

- सूक्तियाँ,
- संदर्भ-ग्रन्थ-सूची ।

“गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।  
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥”

प्रथम परिच्छेद  
‘पुराण—परम्परा और उसकी पृष्ठभूमि’

- पुराण—महिमा,
- व्युत्पत्ति एवं निरुक्ति,
- वर्ण्य—वस्तु (पञ्चलक्षण),
- पुराण—संख्या : अष्टादश पुराण, उपपुराण, औपपुराण
- प्राचीनता एवं रचनाकाल,
- पौराणिक वाङ्मय की पृष्ठभूमि ।



## भारतीय वाङ्मय में पुराणों की महिमा

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में पुराणों की व्यापकता एवं महत्ता असन्दिग्ध है। यह हमारे सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, धार्मिक जीवन के प्रतिबिम्ब हैं। भारतीय ज्ञान—विज्ञान के लिए जितना महत्त्व वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् एवं महाकाव्यों का है उतना ही महत्त्व पुराणों का भी है क्योंकि इसमें क्रमबद्ध कथा—पद्धति तथा सरल और सरस भाषा द्वारा गहन से गहन विषय भी स्फुटित हुए हैं। इसके महत्त्व एवं गौरव के विषय में प्राचीन भारतीय मनीषियों का तो यह शंखनाद है कि कोई द्विज चारों वेदों तथा उसके अंग—प्रत्यंग—उपनिषद् आदि को भले ही क्यों न जानता हो किन्तु यदि वह पुराण को सम्यक् प्रकार से नहीं जानता तो वह विचक्षण तथा शास्त्रकुशल नहीं माना जा सकता।<sup>1</sup> उनका कहना है कि वेद को इतिहास और पुराण द्वारा बढ़ाना चाहिए; अल्प मेधावी किंवा अपरिपक्व बुद्धिवाले से वेद डरता है कि यह मुझे मार डालेगा अर्थात् अर्थ का अनर्थ कर देगा।<sup>2</sup> इससे यह स्पष्ट है कि वेदों की व्याख्या के लिये इतिहास—पुराण को शुद्ध एवं उचित माना गया है। यद्यपि निरुक्त, ब्राह्मण ग्रन्थ आदि भी वेदार्थ के प्रकाशक हैं लेकिन उनकी सरलतम व्याख्या इतिहास—पुराण ही है जैसाकि पूर्ववचन से स्पष्ट है। इस प्रकार वेदार्थ ज्ञान के लिए पुराणों का ज्ञान आवश्यक है। पौराणिक ज्ञानाभाव में वैदिक वाङ्मय का पूर्णरूपेण अर्थावबोध असम्भव है। वेदों में जो सूत्ररूप में उल्लिखित हैं पुराण में वही विस्तृत रूप में वर्णित है। इसमें परब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों का निरूपण हुआ है।

<sup>1</sup> यो विद्याच्चतुरो वेदान्सांगोपनिषदो द्विजः ।

न चेत्युणं संविद्यानैव स स्याद्विचक्षणः ॥

वायु० १/२००, शिव० ५/१/३५, स्कन्द० प्रभास खण्ड, २/३९, पद्म० (सू०)२.५० (यहाँ द्वितीय पंक्ति है— पुराणं च विजानाति यः स तस्माद्विचक्षणः; ब्रह्माण्ड० १/१/१७० (इसमें केवल प्रथम पंक्ति है) आदि ।

<sup>2</sup> इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्!

बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

वायु० १/२०१, पद्म० (सू०)२.५१, महाभारत आदिपर्व १/२६७—२६८, ब्रह्माण्ड० १/१/१७१, वसिष्ठ—धर्मसूत्र २७/६१, लघुव्यासस्मृति २/८६, वृद्धात्रि० अ० ३, पृ० ५०, जीवानन्द संस्करण— यहाँ 'प्रतरिष्यति' पाठ है।

पुराणों पर केवल द्विजातियों का ही नहीं प्रत्युत जनसाधारण का भी अधिकार था। ये विशेषरूप से उन लोगों<sup>१</sup> के लिए तैयार किये गये थे जिनके धार्मिक अनुष्ठानों पर किसी कारणवश कुछ शास्त्रों ने रोक लगा दी थी।<sup>२</sup> इनमें सर्वत्र सरलता का पुट है। यही कारण है कि जनसाधारण के मन को उतना न तो वेद का दुरूह मंत्र आकृष्ट करता है और न स्मृति का शुष्क श्लोक जितना कि पुराण का सरल—सरस भक्ति संपुटित श्लोक आकृष्ट करता है।

वेद, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों, स्मृतियों आदि सभी में पुराणों की महिमा आख्यात है। अथर्ववेद ने इसे अन्य वैदिक संहिताओं के समकक्ष माना है।<sup>३</sup> शतपथ ब्राह्मण में इसे ही वेद मानते हुए अध्वर्यु ने कहा है कि 'पुराण वेद ही हैं । वह यही है।' <sup>४</sup> बृहदारण्यकोपनिषद्<sup>५</sup> तथा शतपथ ब्राह्मण<sup>६</sup> में इसे वेदों, उपनिषद्, इतिहास, विद्या आदि के साथ ही महाभूत के निःश्वास से उद्भूत माना है । छान्दोग्योपनिषद् में तो इसे 'पञ्चमवेद' कहा गया है।<sup>७</sup> स्मृति—ग्रन्थों<sup>८</sup> में भी इसकी महिमा प्रतिपादित है।

<sup>१</sup> स्वीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।

कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ॥ भाग० १/४/२५

<sup>२</sup> (क) अयज्ञिया वै पत्न्यो बहिर्वेदिहिताः ।

शां० ब्रा० २६/४

(ख) मीमांसा दर्शन १/६/११/२६; ६/११/४५

<sup>३</sup> ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिविदेवा दिविश्चतः ॥

अथर्ववेद, ११/७/२४

<sup>४</sup> पुराणं वेदः सोऽयमिति किञ्चित् पुराणमाचक्षीत ।

शत० ब्रा० १३/४/३/१३

<sup>५</sup> बृहदारण्यकोपनिषद्, २/४/१०

<sup>६</sup> शत० ब्रा० १४/६/१०/६

<sup>७</sup> स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम् ।

छान्द० उप० ७/१/१

<sup>८</sup> (क) स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।

आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ॥ मनु० ३/२३२

(ख) वेदार्थवै पुराणानि सेतिहासानि शक्तितः ।

जपयज्ञप्रसिद्धयर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत् ॥

याज्ञ० १/१०१

इतना ही नहीं, इसकी महिमा—सम्बन्धी वचन पुराणों में भी उपलब्ध हैं। नारदीय पुराण<sup>१</sup> में इसे वेदों का सार कहा गया है। स्कन्दपुराण<sup>२</sup> तथा देवीभागवत<sup>३</sup> में इसे वेद—पुरुष की आत्मा कहा गया है। भला इससे बढ़कर इसकी महिमा और क्या हो सकती है? वामनपुराण<sup>४</sup> में इसे गंगा—सदृश पापों का विनाशकर्ता कहा गया है।

प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से पुराणों को यदि भारतीय संस्कृति एवं ज्ञान का विश्वकोष कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। लौकिक—पारलौकिक ऐसा कोई विषय नहीं जिसका उल्लेख इनमें न हुआ हो, ऐसा कोई ज्ञान—विज्ञान नहीं, मानव—मस्तिष्क की ऐसी कोई कल्पना या योजना नहीं, मनुष्य जीवन का ऐसा कोई अंग नहीं जिसका निरूपण पुराणों में न हुआ हो। षड्दर्शन; आयुर्वेद, राजशास्त्र, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, वास्तुशास्त्र, कामशास्त्र, मोक्षशास्त्र, नीतिशास्त्र, भूगोल, खगोल, तत्त्वज्ञान आदि विषयों से यह पुराण इतने सुसमृद्ध हैं कि यदि तत्तद्विषयक पौराणिक कथनों का पृथक्—पृथक् संग्रह कर उन—उन विषयों के स्वतंत्र

<sup>१</sup> सर्ववेदार्थसारणि पुराणानीति भूपते ।  
तर्कस्तु वादः हेतुः स्यान्नीतिस्त्वैहिकसाधनम्  
पुराणानि महाबुद्धे इहामुत्र सुखाय हि ।  
अष्टादशपुराणानि यः शृणोति नरोत्तमः ।  
कथयेद्वा विद्यातेन नेह भूयः स जायते ॥ नारदीय० १/१/६१—६२  
इसी प्रकार इसमें अन्यत्र भी इसकी महिमा वर्णित है—

शृणु मोहिनी मद्वक्त्रं वेदोऽयं बहुधा स्थितः ।  
यज्ञकर्मक्रियावेदः स्मृतिर्वेदो गृहाश्रमे ॥  
स्मृतिर्वेदः क्रियावेदः पुराणेषु प्रतिष्ठितः ।  
पुराणं पुरुषज्जातं यथेदं जगदद्भुतम् ।  
तथेदं वाङ्मयं सर्वं पुराणेभ्यो न संशयः ।  
वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरनने ।  
वेदाः प्रतिष्ठताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः ॥ तत्रैव, २/२४/१५—१७

<sup>२</sup> श्रुतिस्मृती तु नेत्रे द्वे पुराणं हृदयं स्मृतम् ।  
श्रुतिस्मृतिभ्यां हीनोऽन्धः काणः स्यादेकया विना ॥  
पुराणहीनादधृतच्छून्यात्काणान्धावपि तौ वरौ ।  
श्रुतिस्मृत्युदितो धर्मः पुराणे परिगीयते ॥ स्कन्द० काशी खण्ड, २/९६—९७  
अन्यत्र भी इसमें पुराण—महिमा का प्रतिपादन हुआ है—

(क) तत्रैव, प्रभास खण्ड; २/९०

(ख) तत्रैव, रेवाखण्ड, १/१७—१८; २२—२३

<sup>३</sup> श्रुति स्मृति उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम् ।  
एतन्प्रयोक्तं एव स्याद् धर्मो नान्यत्र कुत्रचित् ॥ देवी भाग० ११/१/२१

<sup>४</sup> यथा पापानि पूयन्ते गङ्गावारिविगाहनात् ।  
तथा पुराणश्रवणाद् दुरितानां विनाशनम् ॥ वामन० ९५/८६

ग्रंथ तैयार किये जायें तो वे उन-उन विषयों के उपलब्ध ग्रन्थों से कहीं अधिक श्रेष्ठ होंगे ।

वस्तुतः पुराण भारतीय जनता के सर्वस्व हैं । आज हमारे पास यदि वायु आदि पुराण न होते तो हम प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति से अनभिज्ञ ही रहते । ये इतिहास की सूची है। इतिहास को सुरक्षित रखने वाली ऐसी बहुमूल्य देन विश्व वाङ्मय में अन्यत्र कहाँ ? इस संदर्भ में ए०डी० पुसालकर ने ठीक ही कहा है कि—“पुराण—साहित्य अपने अन्दर प्राचीन परम्परागत इतिहास को आत्मसात् किए हुए है और उनकी विषय—सामग्री प्राचीन एवं मूल्यवान है।”<sup>१</sup>

### पुराण शब्द की व्युत्पत्ति :

साधारणतया पुराने को पुराण कहा जाता है। किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से पुराण उस शास्त्र को कहते हैं जिसमें संसार की पूर्वावस्था का निरूपण हो , व्यास आदि मुनियों द्वारा प्रणीत हो, वेदार्थों के वर्णन में निरत हो और सर्ग ,प्रतिसर्ग ,वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित —पञ्च लक्षणों से युक्त हो।<sup>२</sup> लगभग सभी भारतीय शास्त्रों में यही अर्थ स्वीकृत है।

कोशकारों के अनुसार पुराण शब्द ‘पुरा’ अव्ययपूर्वक णीञ् (प्रापणे) धातु से ‘ड’ प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न होता है। यह शब्द नपुंसक लिंग है।<sup>३</sup> सर्वप्रथम ऋग्वेद<sup>४</sup> में अनेकत्र उपलब्ध यह शब्द प्राचीन, पुरातन या वृद्ध अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में यह शब्द सृष्टि—मीमांसा के अर्थ में आया है । महाभारत में यह प्राचीन उपाख्यानों के ज्ञानार्थ में प्रयुक्त हुआ है।

<sup>१</sup> *There is no doubt that the Puranas embody the earliest traditional history and that much of their material is old and valuable."*

*Pusalkar, A.D. : Studies in Epics and Puranas, P. LXVI.*

<sup>२</sup> बृहन्ना०पु०, भूमिका भाग, पृ० १, अनुवादक तारिणीश झा) हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, १९८९

<sup>३</sup> पुराण दिग्दर्शन (माधवाचार्य), पृ० ५१

<sup>४</sup> ऋग्वे० ३/५४/९, ३/५८/६, 'अयं पन्था अनुक्तिः पुराणः', ऋग्वे० ४/१८/१; १०/१३०/६ इत्यादि ।

इस शब्द की व्युत्पत्ति एवं निर्वचन पाणिनि<sup>१</sup>, यास्क, कोश— ग्रन्थों तथा स्वयं पुराणकारों ने दी है और लगभग सभी 'चिरन्तनता या पुरातनता' इस अर्थ की ओर इंगित करते हैं।

निरुक्तकार ने इसके निर्वचन की व्याख्या में कहा है 'पुरानवं भवति = प्राचीनमपि यन्नवं भवति तत्पुराणम्' अर्थात् जो वाङ्मय एक ओर पुरातनी सृष्टि विद्या या वेदविद्या से अपना सम्बन्ध रखता है और दूसरी ओर नित्य नवीन लोकजीवन से अपना सम्बन्ध जोड़े रहता हो वही पुराण है। इसको आगमशास्त्र भी कहते हैं क्योंकि इसमें लोकप्रवृत्तियों का निरन्तर आगम होता रहता है।<sup>२</sup> मालविकाग्निमित्रम्,<sup>३</sup> रघुवंश,<sup>४</sup> श्रीमद्भगवद्गीता,<sup>५</sup> कठोपनिषद्<sup>६</sup> आदि में भी ग्रन्थक्ष—अप्रत्यक्ष रूप में यही अर्थ स्वीकृत किया गया है।

'पुराण' शब्द का निरुक्तिपरक अर्थ पुराणों में भी उपलब्ध है और वहाँ यह पुराण या प्राचीनता का ही पर्याय माना गया है। वायुपुराण में इसके निर्वचन में कहा गया है कि 'पुरा अनति = जीवति यत् तत्पुराणम्' अर्थात् प्राचीन काल में जो जीवित या नवीन था।<sup>७</sup>

पद्मपुराण में 'पुरा परम्परां वक्ति—कामयते यत्तत्पुराणम्' निर्वचन दिया गया है जिसका अर्थ है कि जो प्राचीन परम्परा की कामना करता है या अतीत को चाहता है वह पुराण है। ब्रह्माण्ड पुराण में 'पुरा एतद् अभूत् इति पुराणं'<sup>८</sup> अर्थात् प्राचीन काल में होने वाला कहा गया

<sup>१</sup> (क) "पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन" (२/१/४९)

(ख) "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" (४/३/१०५)

<sup>२</sup> यास्कीय निरुक्तः; पुराणं कस्मात्? पुरा नवं भवति' । नवनामानि उत्तराणि षडेव । ३/२८ नवं कस्मात्? आनीतं भवति ॥ १९ ॥

<sup>३</sup> पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् । मालविकाग्निमित्रम् १/२

<sup>४</sup> पुराणपत्रापगमादनंतरम् । रघुवंश, ३/७

<sup>५</sup> अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः । श्रीमद्भग०, २/२०

<sup>६</sup> अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो । कठ० उप०, १/२/१८

<sup>७</sup> (क) यस्मात्पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत् स्मृतम् । वायु० १/२०३

(ख) तस्मात्पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन चोच्यते । तत्रैव, १०३/५५

<sup>८</sup> पुरापरम्परां वक्ति पुराणं तेन वै स्मृतम् । पद्म० (सु०) २/५३

<sup>९</sup> यस्मात् पुरा ह्यभूच्चैतत् पुराणं तेन तत् स्मृतम् ।

निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ब्रह्माण्ड० पु० १/१/१७३

है तथा मत्स्य पुराण में पुरातनता को ही लक्ष्य करके कहा गया है कि 'पुरातनकालस्य यद्विवरणं तत्पुराणम्'<sup>१</sup> अर्थात् पुराण प्राचीन घटनाओं का विवरण है।

प्रायः विभिन्न कोश ग्रन्थों में भी इसका यही अर्थ निर्दिष्ट है। अमरकोष में इसके लिए निम्न पर्याय मिलते हैं; प्रतन, प्रत्न, पुरातन, चिरन्तन ।<sup>२</sup> पद्मचन्द्रकोष<sup>३</sup> मेदिनीकोश,<sup>४</sup> वाचस्पत्यम्,<sup>५</sup> शब्दकल्पद्रुम,<sup>६</sup> अभिधानराजेन्द्र<sup>७</sup> तथा संस्कृत-हिन्दी कोष<sup>८</sup> इत्यादि में भी इस पद की व्याख्या चिरन्तनता या पुरातनता को ही दृष्टि में रखकर की गई है।

इसके अतिरिक्त 'पूरणात् पुराणम्' भी अन्यतम व्युत्पत्ति है, जिसका तात्पर्य है कि वेदार्थ के पूरण करने के कारण ही इन्हें 'पुराण' नाम प्राप्त हुआ।<sup>९</sup> विण्टरनिट्ज<sup>१०</sup> तथा पुसालकर<sup>११</sup> के कथनानुसार यह शब्द मूलतः 'पुराणं आख्यानम्' का द्योतक है। वर्तमान समय में यह अष्टादश ग्रन्थों के रूप में रूढ़-सा हो गया है।

समग्रतः उपर्युक्त व्युत्पत्तियों एवं निर्वचनों के परिशीलन से यह पूर्णतः स्पष्ट होता है कि 'पुराण' शब्द नवीनता का नहीं बल्कि प्राचीनता का ही द्योतक है और यह वाङ्मय उतना ही प्राचीन है जितनी भारतीय संस्कृति और सभ्यता । वास्तव में इसमें प्राचीन सामग्री ही नये रूप में विराजमान है।

<sup>१</sup> पुरातनस्य कल्पस्य पुराणानि विदुर्बुधाः । मत्स्य० ५३/६२,७२

<sup>२</sup> अमरकोश, तृतीयकाण्ड, विशेष्यनिघ्नवर्ग-१, पृ० २३९

<sup>३</sup> (i) पुराण : (त्रि०) पुराभवः + द्यु नि०। पुरा नीयते । नि+ङ वा । पहिले का । व्यास आदि से रचा हुआ एक प्रकार का शास्त्र (न०) (जिसमें सर्ग-कारण सृष्टि, प्रतिसर्ग-कार्यसृष्टि, वंश, मन्वन्तर और वंशों के चरित हों)।

(ii) पुरातन : (त्रि०) पुरा भवम् । पुरा+दयुः तुट् च । पुराभव । पुराणा । पहिले का । पद्मचन्द्रकोष, पृ० ३२०

<sup>४</sup> मेदिनीकोश में यह शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—अतीतकाले प्रबन्धे संकटे च ।

<sup>५</sup> वाचस्पत्यम्, पञ्चम भाग, पृ० ४३६८-४३६९ पर देखिए — पुरा, पुराण, पुरातन—शब्दों की व्याख्या ।

<sup>६</sup> शब्दकल्पद्रुम, तृतीय काण्ड, पृ० १७९

<sup>७</sup> अभिधानराजेन्द्र कोश, Vol. IV, पृ० १०१०

<sup>८</sup> संस्कृत-हिन्दी-कोश, वामन आपटे, पृ० ६२३-६२४

<sup>९</sup> द्रष्टव्य : संस्कृत साहित्य का इतिहास (उपाध्याय, बलदेव) पृ० ८०

<sup>१०</sup> A History of Indian Literature, Winternitz, p. 518.

<sup>११</sup> Studies in Epics & Puranas of India, Pusalkar, Introduction, p. 44.

### पुराणों की वर्ण्य—वस्तु : पञ्च—लक्षण :

पुराण का पञ्चावयवी लक्षण सुप्रसिद्ध है। शास्त्रीय दृष्टि से पुराणों में पाँच विषयों (जिन्हें पञ्चलक्षण कहा गया है) का वर्णन होना चाहिये ।

ये पाँच लक्षण हैं—

१. 'सर्ग' (सृष्टि—उत्पत्ति का वर्णन) ।
२. 'प्रतिसर्ग'— (प्रलय के पश्चात् सृष्टि की पुनःरचना का वर्णन) ।
३. वंश (राजा, ऋषियों, देवों, सूर्य, चन्द्र आदि के वंशजों का वर्णन) ।
४. मन्वन्तर— (आदि मनु से प्रारम्भ होने वाले चौदह मनुओं के समय का तथा प्रत्येक की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन) ।
५. वंशानुचरित या वंशयानुचरित (सूर्यवंशीय, चन्द्रवंशीय आदि प्रतापी राजाओं के यशस्वी कार्यों का विस्तृत वर्णन और इतिहास) ।

प्रायः सभी पुराणों में पञ्चलक्षण—विषयक एक श्लोक किञ्चित् पाठभेद के साथ उपलब्ध होता है।<sup>१</sup>

---

<sup>१</sup> सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।  
वंशयानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥”

स्कन्द तथा मत्स्य पुराण के कुछ हस्तलेखों में 'वंशानुचरितम्' के स्थान पर 'वंशानुवंशचरितम्' पाठ मिलता है।

(क) वायु ४/१०  
(ख) शिव०, (वायवीयसंहिता) १/४१  
(ग) विष्णु०, ३/६/२६  
(घ) मार्कण्डेय०, १३४/१३  
(ङ) अग्नि० १/१४  
(च) स्कन्द० (प्रभास—खण्ड), ७/२/८४  
(छ) मत्स्य० ५३/६४  
(ज) ब्रह्माण्ड० (प्रक्रियापाद), १/१/३८  
(झ) भविष्य०, २/५  
(ञ) देवीभागवत०, १/२/१८  
(त) ब्रह्मवैवर्त०, ४/१३३/६,  
(थ) वराह०; २/४  
(द) कूर्म० (पूर्वार्द्ध), १/१/१२  
(ध) गरुड० (आचार—काण्ड) २/२८ (न) सौर०, ९/४

अमरकोश,<sup>१</sup> वाचस्पत्यम्<sup>२</sup>, शब्दकल्पद्रुम,<sup>३</sup> संस्कृत हिन्दी कोश<sup>४</sup> आदि कोश—ग्रन्थों में पञ्चलक्षण समन्वित शास्त्र को पुराण कहा गया है।

कुछ शास्त्रों में पूर्वोक्त पञ्चलक्षण कुछ भिन्नता के साथ दृष्टिगोचर होते हैं। 'शुक्रनीति' में पुराण के पञ्चलक्षणों को ही स्वीकृति दी गई है।<sup>५</sup> यहाँ यह भी कहा गया है कि पौराणिक को पञ्चलक्षण का ज्ञाता होने के साथ—साथ साहित्य—शास्त्रों में निपुण, संगीत का वेत्ता तथा कोमल स्वर वाला होना चाहिए।<sup>६</sup> काव्यमीमांसा के द्वितीय अध्याय में उद्धृत पुराण—लक्षण में पाठ भेद है।<sup>७</sup> कौटिल्य अर्थशास्त्र की जयमङ्गला टीका में 'धर्म' को पुराण का अभिन्न अंग मानते हुए एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया गया है।<sup>८</sup>

उपर्युक्त पञ्च—लक्षणों में से किसी पुराण में किसी एक विषय का आधिक्य और किसी का संक्षेप दिखाई देता है। पुराणों में 'विष्णु पुराण' पञ्चलक्षणों की कसौटी पर सबसे अधिक खरा उतरता है जबकि अन्य पुराणों में इसका अच्छा निर्वाह नहीं हुआ है। कुछ पुराण तो इनका केवल स्पर्श मात्र करते हैं।

उपलब्ध श्रीमद्भागवत<sup>९</sup> तथा ब्रह्मवैवर्त पुराणों में उपपुराण के ये पाँच ही विषय और

<sup>१</sup> 'पुराण पञ्चलक्षणम्,' अमरकोश, प्रथम काण्ड, शब्दादिवर्ग—६ श्लोक संख्या ५, पृ० २८।

<sup>२</sup> वाचस्पत्यम्, पञ्चमभाग, पृ० ४३६८

<sup>३</sup> शब्दकल्पद्रुम, तृतीय काण्ड, पृ० १७९ (पुराण के पाँच तथा महापुराण के दशलक्षण बताये गये हैं।)

<sup>४</sup> संस्कृत—हिन्दी—कोश, पृ० ६२४ (यहाँ पर पाँच विषयोंके वर्णन के कारण पुराण को 'पञ्चलक्षण' भी कहा गया है।)

<sup>५</sup> सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।

वंशानुचरितं यस्मिन्पुराणं तद्धि कीर्तितम्॥ (शुक्र०, ४/२६४)

<sup>६</sup> साहित्यशास्त्रनिपुणः संगीतज्ञश्च सुस्वरः।

सर्गादि पञ्चज्ञाता च स वै पौराणिकः स्मृतः॥ शुक्र०, २/१७८

<sup>७</sup> सर्गः प्रतिसंहारः कल्पो मन्वन्तराणि वंशविधिः।

जगतो यत्र निवद्धं तद्विज्ञेयं पुराणमिति॥ (काव्यमीमांसा, कविरहस्य, द्वितीय अध्याय, पृ० ३)

<sup>८</sup> सुष्टिप्रवृत्तिसंहारधर्ममोक्षप्रयोजनम्।

ब्रह्मभिर्विविधैः प्रोक्तं पुराणं पञ्चलक्षणम्॥ कौ० अर्थ० १/५

<sup>९</sup> श्रीमद् भागवत में किञ्चित् भेद से दश—लक्षण दो स्थलों पर उपलब्ध हैं—

(क) सर्गश्चाथ विसर्गश्च वृत्ति रक्षान्तराणि च।

वंशो वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः॥ १२/७/९

(ख) अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।

मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥ २/१०/९



महापुराण के दस लक्षण या इससे अधिक स्वीकृत किये गये हैं।<sup>१</sup>

वस्तुतः परिवर्तनशील जगत् ने पुराण की प्रकृति को परिवर्तित एवं परिवर्द्धित कर दिया है जिसके कारण इसकी विषय-संख्या में वृद्धि होती गई है। इनमें अनेकानेक विषयों का समावेश समय-समय पर होता रहा है। पुरुषार्थ चतुष्टय, व्रत, तीर्थ, पूजा, स्तुति, सदाचार, व्यवहार, खगोल, भूगोल, द्वीप द्वीपान्तर, युग, सागर, नदियाँ, वर्णाश्रम-व्यवस्था, सांख्य-योग दर्शन विषयक मन्तव्य इत्यादि ज्ञान के जितने भी स्रोत हैं वे सब इसमें अन्तर्भुक्त हैं। विष्णु तथा ऋग्यजुर्वेद एवं ब्रह्माण्ड पुराण में आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धि पुराण-संहिता के उपकरण माने गये हैं।<sup>२</sup>

परिवर्तित परिस्थितियों में पुराण के मूल में संशोधन, परिवर्तन, लोपन और परिवर्धन को देखकर ही रपसन,<sup>३</sup> पुसालकर,<sup>४</sup> मन्मथनाथ<sup>५</sup> आदि विद्वानों ने कहा है कि वर्तमान पुराणों को किसी भी परिभाषा द्वारा लक्षित नहीं किया जा सकता। हर प्रसाद शास्त्री<sup>६</sup> ने तो यहाँ तक कहा है कि पुराण समग्र जीवन को अपनी सीमाओं में समेट लेते हैं।

<sup>१</sup> सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।  
वंशानुचरितं विप्र पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥  
एतदुपपुराणानां लक्षणञ्च विदुर्बुधाः ।  
महताञ्च पुराणानां लक्षणं कथयामि ते ॥  
सृष्टिश्चापि विसृष्टिश्च स्थितिस्तेषाञ्च पालनम् ।  
कर्मणां वासना वार्ता मनुनाञ्च क्रमेण च ।  
वर्णनं प्रलयानाञ्च मोक्षस्य च निरूपणम् ।  
उत्कीर्तनं हरेरेव देवानाञ्च पृथक् पृथक् ॥

दशविधं लक्षणं महतां परिकीर्तितम् ॥ ब्रह्मवैवर्त १३२/३५-३७

वाचस्पत्यम् (पञ्चम भाग, पृ० ४३६९) तथा शब्दकल्पद्रुम (तृतीय काण्ड, पृ० १७९) में भी श्रीमद्भागवत (द्वादशस्कन्ध), देवी भागवत (१/३) तथा मत्स्य ० (५३ अध्याय) के आधार पर महापुराण में दस लक्षण माने गये हैं ।

<sup>२</sup> आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः ।

पुराणसंहिता चक्रे पुराणार्थविशारदः ॥ विष्णु ३/६/१५

भापुः : (६०/२९) एवं ब्रह्माण्ड ० (२/३/३९) में 'कल्पशुद्धिभिः' के स्थान पर 'कल्पजोक्तिभिः' पाठ मिलता है।

<sup>३</sup> दी कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, रपसन, पृ० २९६

<sup>४</sup> स्टडीज इन एपिक्स एण्ड पुराणस ऑफ इण्डिया, पुसालकर, भूमिका, पृ० ४७

<sup>५</sup> ए प्रोज ईशलिंग ट्रांसलेशन ऑफ मार्कण्डेय पुराण, मन्मथनाथ, भूमिका, पृ० १

<sup>६</sup> जर्नल ऑफ दी बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना, १४, पृ० ३२९

वास्तव में यदि गहनता से विचार किया जाय तो पुराणों का प्रतिपाद्य विषय सर्गादि पञ्चावयवी लक्षण ही है। अथवा, ये पाँच लक्षण इनके लिए आदर्श रूप में निर्धारित किये गये थे जो कि इन्हें साहित्य की अन्य शाखाओं से पृथक् सिद्ध करते थे। शेष विषय इन्हीं लक्षण —पञ्चकों के विस्तार हैं। स्पष्टरूप से समस्त विषय इन्हीं पञ्चलक्षणों के अन्दर समाहित हो जाते हैं। इन पञ्चलक्षणों का जैसा सुस्पष्ट, वैज्ञानिक एवं सुसम्बद्ध वर्णन पौराणिक वाङ्मय में देखने को मिलता है वैसा अन्य वाङ्मय में नहीं। सृष्टिपूर्व तथा सृष्टि पश्चात् रहस्यों का वास्तविक ज्ञान पुराणों के अनुशीलन से मानो प्रत्यक्ष की हो जाता है।

### पुराण संख्या

#### अष्टादश—पुराण या महापुराण :

भारतीय वाङ्मय में आर्य संस्कृति के वास्तविक कोष 'पुराणों' अथवा 'महापुराणों' की संख्या अष्टादश मानी गई है। यद्यपि शिवपुराण<sup>१</sup> में एक स्थल पर यह संख्या २६ कही गयी है लेकिन वहाँ पुराणों का नाम —निर्देश नहीं किया गया है। इन अष्टादश पुराणों की नामावली का संकेत प्रायः सभी पुराणों में एक—दो साधारण पाठ भेद के साथ मिलता है।<sup>२</sup>

<sup>१</sup> शिवपुराण, उमासहिता, १३/४१

<sup>२</sup> ब्राह्म पादुम वैष्णव च शैव लैङ्ग सगारुडम्।

नारदीय भागवतमागनेय स्कान्दसंज्ञितम् ॥

भविष्य ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय सवामनम् ।

वराहमात्स्य कौर्मज्व, ब्रह्माण्डाख्यमिति त्रिषट्। श्रीमद् भागवत० १२/७/२३—२४

किञ्चित् भेद के साथ इन अष्टादश पुराणों का उल्लेख निम्न पुराणों में भी मिलता है:

(क) विष्णु०, ३/६/२१—२३

(ख) देवी भागवत० १/२/२१

(ङ) भविष्य०, १/१/६१—६४

(छ) नारद०, १/९२/२६

(ज) कूर्म०, १/१/१३

(झ) वराह०, ११२/७१—७२

(ञ) मात्स्य०, ५३ (सभी पुराणों का नाम व विषय—वस्तु है)

(त) अग्नि०, २७२/४—५

(थ) लिंग०, १/३९/६१—६३

(द) शिव०, ७/१/१/४३

(ध) वायु० १०४/१—११

सर्वत्र ये कृष्णद्वैपायन या व्यासरचित अथवा संपादित माने गये हैं। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता अलबरूनी<sup>१</sup> (संवत् १०८७) ने अठारह ही पुराणों की सूची अपने ग्रन्थ में दो स्थानों पर स्वल्पभेद से दी है जिसमें से एक सूची तो विष्णुपुराण द्वारा दी गई सूची के समान है और दूसरी में पुराण तथा उपपुराणों का मिश्रण है। सभी पुराणों में उल्लिखित अठारह पुराणों के क्रम एवं श्लोक संख्या में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। उसका कारण यही हो सकता है कि कहीं—कहीं तो क्रम दिखाने का प्रयत्न है और कहीं—कहीं केवल नाम ही बता दिये गये हैं, वहाँ क्रम की विवक्षा नहीं है। इसके अतिरिक्त किसी पुराण—तालिका में चौथे स्थान पर 'शिव'पुराण है तो किसी में 'वायु'पुराण।<sup>२</sup> इसी प्रकार का संशय भागवत—देवी भागवत तथा नारदीय — बृहन्नारदीय युग्मों में भी देखने को मिलता है । इसी आधार पर कुछ ने व्यास—रचित पुराणों की संख्या बीस मानी है।<sup>३</sup> लेकिन वास्तव में यह संख्या अठारह ही है। राजशेखर ने भी (संवत् ९५७) काव्यमीमांसा के द्वितीय अध्याय में अष्टादश पुराणों का कथन किया है—'तत्र वेदाख्यानोपनिबन्धनप्रायं पुराणमष्टादशधा' ।

देवीभागवत पुराण ने आद्य अक्षर के निर्देश से अष्टादश पुराणों का नाम—संकेत एक 'अनुष्टुप्' में दिया है।<sup>४</sup> विभिन्न कोश—ग्रन्थों जैसे, शब्दकल्पद्रुम, वाचस्पत्यम्, संस्कृत—हिन्दी

<sup>१</sup> Alberuni's India , kDr. Edward C. Sachau ,vol. I, P. 130 - 131

<sup>२</sup> मत्स्य०, स्कन्द०, नारद० तथा अग्नि पुराण में चतुर्थ स्थान पर 'वायु' पुराण है तथा शेष पुराण—सूची में शिव या शैव पुराण है।

इन दोनों पुराणों के विषय में विस्तृत विमर्श के लिए देखिए 'बलदेव उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी पत्रिका (१९६४), श्री आनन्द स्वरूप गुप्त, पुराण—पत्रिका, १९६५ (७/२), डॉ० ए०डी० पुसालकर : स्टडीज इन एपिक्स एण्ड पुराणाज' तथा संक्षेप में प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का द्वितीय अध्याय ।

<sup>३</sup> जिन पुराणों में नामावलि और संख्या दी गई है, उनमें संख्या के सम्बन्ध में तो कोई मतभेद नहीं है, परन्तु नामावलि में मतभेद है । पुराणों की वहाँ शिव और वायु तथा भागवत और देवी भागवत युग्मों में से एक को महापुराण और दूसरे को उपपुराण मानकर संख्या को अठारह ही रखने की चेष्टा की गई है। x x x आज कल लोग शिव और वायु पुराण को एक मान लेते हैं और भागवत तथा देवीभागवत में से प्रथम को महापुराण मानकर अठारह पुराणों की संख्या पूरी कर लेते हैं। किन्तु ये दोनों ही बातें भ्रामक हैं। न तो शिव पुराण और वायु पुराण एक हैं और न ही देवीभागवत उपपुराण है। इसलिए पुराणों की संख्या को बीस मानकर चलना उचित जान पड़ता है। ये सभी व्यास—रचित कहे जाते हैं।

द्रष्टव्य : पौराणिक आख्यानों का विकासात्मक अध्ययन, डॉ० उमापतिराय चन्देल, पृ० १

<sup>४</sup> मद्भयं भद्रयं चैव वृत्रयं वचतुष्टयम्।

अनापदल्लिङ्ग—कू—स्कानि पुराणनि पृथक्—पृथक् ॥ देवी भाग०; प्रथम स्कन्द, श्लोक—२१ । (अथवा १/२/३)।

कोष आदि में भी पुराणों की संख्या अठारह ही कही गयी है।<sup>१</sup>

### पुराण वर्गीकरण :

पद्म,<sup>२</sup> मत्स्य,<sup>३</sup> भविष्य<sup>४</sup> एवं गरुड<sup>५</sup> पुराणों में पुराणों को विषय—वस्तु (त्रैगुण्य—सत्त्व, रजस्, तमस्) एवं देवता के आधार पर तीन वर्गों में विभक्त किया गया है—

#### (अ) वैष्णव : विष्णु से सम्बद्ध छः सात्त्विक पुराण :

विष्णु, भागवत, नारद, गरुड, पद्म, और वराह ।

#### (ब) ब्राह्म — ब्रह्मा से सम्बद्ध छः राजस पुराण :

ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्य और वामन ।

#### (स) शैव — शिव से सम्बद्ध छः तामस पुराण :

शिव, लिङ्ग, स्कन्द, अग्नि, मत्स्य और कूर्म ।

उपर्युक्त पुराणों ने इन सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीनों पुराणों के लक्ष्य (प्रयोजन) को भी निर्दिष्ट किया है। भविष्य के अनुसार राजस पुराणों में कर्मकाण्ड का प्रतिपादन होता है जबकि तामस शाक्तधर्म परायण होते हैं।<sup>६</sup> इसी सन्दर्भ में स्कन्द पुराण में

<sup>१</sup> (क) शब्दकल्पद्रुम, तृतीय काण्ड—अष्टाष्टादशमहापुराणानि तेषां श्लोक संख्यानि च तथा, पृ० १७९

(ख) वाचस्पत्यम्, पञ्चम भाग, पृ० ३६९

(ग) संस्कृत—हिन्दी—कोश, पृ० १२४, ६२४

<sup>२</sup> मात्स्यं कौर्म तथा लैङ्गं शैवं स्कन्दं तथैव च।

आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोधत॥

वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम् ।

गरुडं च तथा पादमं वाराहं, शुभदर्शनं ॥

सात्त्विकानि पुराणानि विज्ञेयानि शुभानि वै।

ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च।

भविष्यं वामनं ब्राह्मं रजसानि निबोध मे । पद्म० उत्तरखण्ड, १६३/८१—८४

<sup>३</sup> मत्स्य०, ५३/६८—६९

<sup>४</sup> भविष्य० ३/३; २८/१३—१५

<sup>५</sup> गरुड०, १/२२३/१७—२०

<sup>६</sup> राजसाः षष्टस्मृता वीरकर्मकाण्डतया भुवि ।

तामसाः षट् स्मृताः प्राज्ञैः शक्तिधर्मपरायणाः ॥ भविष्य० २८/१३—१५

कहा गया है कि दश पुराणोंमें शिव की, चार में ब्रह्मा की और दो में देवी तथा विष्णु की स्तुति है।<sup>१</sup>

‘धर्मशास्त्र का इतिहास’<sup>२</sup> नामक ग्रन्थ में पुराणों की कई श्रेणियाँ या कोटियाँ बताई है :

- (अ) ज्ञान—कोशीय : अग्नि, गरुड एवं नारदीय ।
- (ब) तीर्थ से सम्बन्धित : पद्म, स्कन्द एवं भविष्य ।
- (स) साम्प्रदायिक : लिंग, वामन, मार्कण्डेय ।
- (द) ऐतिहासिक : वायु एवं ब्रह्माण्ड । इत्यादि ।

### नामकरण :

शीर्षक अथवा नामकरण का अपना विशिष्ट महत्त्व है। यह नामकरण प्रायः वक्ता, श्रोता अथवा वर्ण्य—विषय के आधार पर ही किया जाता है। पुराणों के नाम भी कहीं वक्ता (जैसे वायुप्रोक्त वायुपुराण आदि) कहीं श्रोता (जैसे गरुड पुराण— जिसमें उपदेष्टा भगवान् स्वयं और श्रोता है गरुड) तथा कहीं वर्ण्य—विषय के आधार (कूर्म, वराह आदि) पर रखे गये हैं।

### अष्टादश उपपुराण :

सर्वत्र पुराणों की ही भाँति उपपुराणों की संख्या भी अष्टादश मानी गयी है किन्तु नामावली में विभेद देखने को मिलता है। यद्यपि पुराणों,<sup>३</sup> कोश—ग्रन्थों<sup>४</sup> में इनकी अलग—अलग सूची उपलब्ध है तथापि मुख्य उपपुराण निम्नलिखित है— आदि पुराण (सनत्कुमारोक्त), नरसिंह, स्कन्द, (कुमारोक्त), शिवधर्म (नन्दीशोक्त), दुर्वासा, नारदोक्त, कपिल, वामन, औशनस, ब्रह्माण्ड, वरुण, कालिका, महेश्वर, साम्ब, सौर, पाराशर,

<sup>१</sup> अष्टादश पुराणेषु दशभिर्गीयते शिवः ।

चतुर्भिर्भगवान् ब्रह्मा द्वाभ्यां देवी तथा हरिः । स्कन्द० केदार खण्ड १

<sup>२</sup> धर्मशास्त्र का इतिहास : पी०वी०काणे, अनुवादक, अर्जुन चौबे, चतुर्थ भाग, पृ० ३८९

<sup>३</sup> पद्म० (पाताल खण्ड) ११५/१४—१७; गरुड० ३२३/१७—२०; कूर्म० (उत्तरार्द्ध) १/१७—२० आदि।

<sup>४</sup> संस्कृत— हिन्दी — कोश, पृ० १२४

मरीच तथा भास्कर <sup>१</sup> मत्स्य (५३/५८-५९, ६३), हेमाद्रि (व्रत भाग १, पृ० २१-२२) के अनुसार सभी उपपुराण प्रमुख पुराणों के उपभेद हैं। इस प्रकार कतिपय लोग उपपुराणों को पुराणों की अपेक्षा हीन मानते हैं तथा यह मानते हैं कि इनकी रचना महापुराणों के बाद हुई। लेकिन यह उचित नहीं है, क्योंकि वेदज्ञ श्री षड्गुरुशिष्य ने 'वेदार्थ-दीपिका' में नृसिंह उपपुराण के श्लोकों का प्रमाण दिया है <sup>२</sup> तथा अलबरूनी ने पुराणसूची में सोम, साम्ब और नृसिंह आदि उपपुराणों का नाम लिया है। <sup>३</sup> इससे इनकी उपादयेता और प्राचीनता सिद्ध होती है। यह द्वितीय श्रेणी के पुराण अवश्य हैं पर भारत के सांस्कृतिक गौरव के इतिहास में इनका महत्त्व भी कदाचित् अल्प नहीं है।

### अष्टादश औपपुराण :

पुराण तथा उपपुराणों की भाँति औपपुराणों की संख्या भी अष्टादश मानी गयी है। अलबरूनी ने आदित्य और नन्दा नामक औपपुराणों का उल्लेख किया है। अतः ये ग्रन्थ नवीन नहीं हो सकते। अष्टादश औपपुराण <sup>४</sup> निम्नांकित हैं— सनत्कुमार, बृहन्नारदीय, आदित्य,

<sup>१</sup> आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहमथापरम् ।  
तृतीयं स्कान्दमुद्दिष्टं कुमारेण तु भाषितम् ॥  
चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान् नन्दीशभाषितम् ।  
दुर्वाससोक्तमाश्चर्य्यं नारदोक्तमतः परम् ।  
कपिलं वामनं चैव तथैवोशनसेरितम् ।  
ब्रह्माण्डं वारुणं चाथ कालिकाह्वयमे च ।  
माहेश्वरं तथा साम्बं सौर्यं सर्वार्थासञ्चयम् ।  
परशरोक्तमपरं मारीचं भास्कराह्वयम् ॥ कूर्म० (उत्तरार्द्ध) १/१७-२०

<sup>२</sup> अपि च नृसिंहपुराणे ।

ऋष्यादिकं पश्चात् यजन्यज्ञमतद्रितः ”

—षड्गुरुशिष्यकृत वेदार्थदीपिका सर्वानुक्रमणीवृत्तिः । Edited : A.A. Macdonell, P. 58

<sup>३</sup> Alberuni's India, Dr. Edward C. Sachau, Vol. I, P. 130.

<sup>४</sup> आद्यं सनत्कुमारं च नारदीयं बृहच्चरात् ।

आदित्यं मानवप्रोक्तं नन्दिकेश्वरमेव च ॥

कौर्म्यं भागवतं ज्ञेयं वाशिष्ठं भार्गवं तथा ।

मुद्गलं कल्किदेव्यौ च महाभागवतं तथा ।

बृहद्दर्म्मं परानन्दं वत्सिनं पशुपतिं तथा ।

हरिवंशं ततो ज्ञेयमिदमौपपुराणकम् ॥ बृहद्विवेक अध्याय ३, श्लोक ३७-३९

मानव, नन्दिकेश्वर, कौर्म, भागवत, वसिष्ठ, भार्गव, मुद्गल, कल्कि, देवी, महाभागवत, बृहद्धर्म, परानन्द, पशुपति, वह्नि और हरिवंश ।

### प्राचीनता एवं रचनाकाल :

पुराण—विश्लेषण में सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न है इनकी प्राचीनता एवं रचना काल। यह विषय महाकाव्यों की तिथि—समस्या के समान अत्यन्त जटिल है। इसकी रचना के सम्बन्ध में अनेकानेक विद्वज्जन प्रयासरत रहते हुए भी अन्तिम निर्णय तक नहीं पहुँच सके हैं। यह कितना प्राचीन है, यह तो स्पष्ट नहीं; किन्तु ऋषि—मुनियों द्वारा प्रणीत संस्कृतवाङ्मय के अध्ययनानुशीलन से यह स्पष्ट है कि पुराण भी वेदों की भाँति अपौरुषेय, नित्य एवं प्रमाणभूत हैं तथा भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के परिचायक हैं।

स्वयं 'पुराण' शब्द इसकी प्राचीनता का द्योतक है। यद्यपि समय के साथ—साथ इसका वर्तमान रूप परिवर्तित एवं परिवर्धित हो गया है तथापि इसका मूल रूप अत्यन्त प्राचीन है। इसका उल्लेख आदि ग्रन्थों में भी मिलता है जो इसकी प्राचीनता के ही प्रतीक हैं। भारतीय वाङ्मय में इनसे प्राचीन शायद ही कोई रचना हो । रामायण, महाभारत की भाँति ये भी शिक्षित—अशिक्षित भारतीय जनमानस में प्रकृष्ट श्रद्धेय थे। यही कारण है कि वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, स्मृतियों, सूत्रों, रामायण, महाभारत आदि में इनका उल्लेख है। यहाँ 'पुराण' शब्द कहीं विद्या—विशेष के रूप में और कहीं विशिष्ट साहित्य या ग्रन्थ के लिए प्रयुक्त हुआ है तथा विभिन्न दार्शनिकों ने प्रमाण रूप में इनके उद्धरणों को उद्धृत किया है। यह सब इस तथ्य को सिद्ध करते हैं कि 'पुराण' उनसे प्राचीन थे। इसकी प्राचीनता एवं समय के द्योतक कतिपय उद्धरण अग्रलिखित हैं—

१. आदिवेद ऋग्वेद में ऐसे अनेक मंत्र हैं जिनमें 'पुराण'<sup>१</sup> शब्द का प्रयोग हुआ है। एक स्थल

<sup>१</sup> ऋग्वेद, ३/५४/९, ३/५८/६; ४/१८/१; १०/१३०/६ आदि ।

पर इसमें 'पुराणी'<sup>१</sup> शब्द गाथारूप में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद में तो कई स्थलों पर इसका निर्देश है। एक स्थल पर उच्छिष्टसंज्ञक ब्रह्म से इसकी उत्पत्ति मानते हुए कहा गया है कि 'उच्छिष्ट से ऋक्, साम, छन्दस् तथा यजुषों के साथ पुराण उत्पन्न हुए। द्युलोक में निवास करने वाले देवता भी उसी से उत्पन्न हुए।'<sup>२</sup> इसमें अन्यत्र भी पुराण<sup>३</sup> और पुराणवित्<sup>४</sup> शब्द उपलब्ध है।

ये कथन पुराण को वेदों से भी प्राचीन सिद्ध करते हैं। इसका प्रमाण पुराणों<sup>५</sup> के निम्न वचन से भी किया जा सकता है कि ब्रह्मा ने सभी शास्त्रों से पूर्व पुराणशास्त्र का स्मरण किया, पश्चात् उनके मुख से वेद निकले।' इतना ही नहीं, नारदीय पुराण तो वेद के अर्थ से पुराण के अर्थ को कहीं अधिक मानता है और इसीलिए समग्र वेदों को पुराणों में ही प्रतिष्ठित स्वीकारता है।<sup>६</sup> पुराण स्वयं अपने विकास की कहानी कहते हैं कि पूर्व में चार लाख श्लोकों में केवल एक ही पुराण था बाद में व्यास ने उसे अठारह भागों में विभक्त किया।<sup>७</sup> ये कथन पुराण को वेदवत अपौरुषेय सिद्ध करते हैं।

२. ब्राह्मण ग्रन्थों की पंक्तियों में प्रयुक्त पुराण शब्द उसके अस्तित्व को प्रमाणित करता है।

<sup>१</sup> ऋग्वेद, ९/९९/४

<sup>२</sup> ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ अथर्व० १/७/२४

<sup>३</sup> स बृहती दिशमनुष्यचलत् ॥

तमितिहाश्च पुराणं च गाथाश्च

नारशंसीश्चानुव्यचलन् ॥

इतिहासस्य च स वै पुराणस्य च गाथाना च

नारशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ तत्रैव, का० १५, अनु० १, प्र० ६, म० १०-१२

<sup>४</sup> येत आसीद् भूमिः पूर्णं यामद्वा तय इद् विदुः ।

यो वै तां विद्यान्नामथां स मन्येत पुराणवित् ॥ तत्रैव, ११/८/७

<sup>५</sup> पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।

अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः ॥

किञ्चिद् भिन्नता के साथ यह श्लोक निम्न पुराणों में उपलब्ध है—मत्स्य० ३-४; वायु० १/६१,

नारदीय० २/२४/१७, पद्म० (सृष्टि खण्ड) १०४ इत्यादि ।

<sup>६</sup> वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने ।

वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणेष्वेव सर्वदा ॥ ना० पु० २/२४/१७

<sup>७</sup> मत्स्य पुराण, अ० ५३



शतपथ ब्राह्मण<sup>१</sup> तथा गोपथ ब्राह्मण<sup>२</sup> में इसका कई जगह उल्लेख है।

३. तैत्तिरीय आरण्यक<sup>३</sup> में ब्राह्मणों, इतिहासों एवं नाराशंसी गाथाओं के साथ पुराणों की चर्चा है।

४. छान्दोग्योपनिषद् में नारदजी द्वारा अधीत तथा अभ्यस्त शास्त्रों में 'इतिहास—पुराण' को 'पञ्चमवेद' कहा गया है।<sup>४</sup> बृहदारण्यकोपनिषद् तथा शतपथ ब्राह्मण में आया है कि 'आर्द्र काष्ठ से उत्पन्न अग्नि से जिस प्रकार पृथक्—पृथक् धूम निकला है, उसी प्रकार इस महान् भूत के निःश्वास से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद् और सूत्र निःसृत हुए।'<sup>५</sup>

५. शांखायन श्रौतसूत्र<sup>६</sup> एवं आश्वलायन श्रौतसूत्र<sup>७</sup> के अनुसार पारिप्लव के दो दिनों में इतिहासवेद एवं पुराणवेद का पाठ होना चाहिए। आश्वलायन गृह्यसूत्र में पुराण—पठन का अनेक बार उल्लेख (३/३/१; ४/६; ४/६/३/४ आदि) हुआ है।

<sup>१</sup> (क) शत० ब्रा० ११/५/६/८

(ख) तत्रैव, १३/४/३/१३ — तानुपदिशति पुराणम् । वेदः सोऽयमिति । किञ्चित् पुराणमाचक्षति एवमेवाध्वर्युः सम्प्रेषितः ।

(ग) तत्रैव, ११/५/७/९

<sup>२</sup> एव इम सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्का सेतिहासाः सान्वयाख्याता सपुराणा । गो० ब्रा० १/२/१०

<sup>३</sup> ब्रह्मयज्ञप्रकरणे—यद् ब्राह्मणानितिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा नाराशसीर्मेतदाहुतयो देवानामभवन् । तैत्तिरीय आ० प्रपाठक २, अनुवाक ९

<sup>४</sup> (क) ऋग्वेद भगवोध्येमि यजुर्वेद सामवेदमथर्वण । चतुर्थमितिहासपुराण पञ्चमम् वेदाना वेद ॥

छान्दो० उप० ७/१/२

अन्यत्र भी इसे पञ्चमवेद की सज्ञा प्राप्त है—

(क) नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदाना वेद । तत्रैव, ७/१/४

(ख) वाग्वा नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेद विज्ञापयति, यजुर्वेद सामवेदमाथर्वण चतुर्थमितिहासपुराण पञ्चमम् । तत्रैव, ७/२/१

(ग) इतिहास पुराण च पञ्चमो वेद उच्यते । श्रीमद्भाग० १/४/२०

<sup>५</sup> अरेऽस्य महतो भूतस्य नि श्वसितमेतद् यद्ग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराण विद्या उपनिषद् सूत्राणि । बृहदारण्यकोपनिषद् २/४/११, शत० ब्रा० १४/६/१०/६

<sup>६</sup> शांखायन श्रौ० १६/२/२७

<sup>७</sup> आश्वलायन श्रौ० १०/७

आपस्तम्बधर्मसूत्र<sup>१</sup> में पुराणों के अस्तित्व; उसके अध्ययन तथा उससे उत्पन्न होने वाले पुण्य का स्पष्ट संकेत मिलता है। इसमें एक स्थल पर दो श्लोक हैं जिनके समानार्थक पद्य आज कई पुराणों में मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त इसी धर्मसूत्र में एक अन्य स्थल पर भविष्यपुराण का स्पष्ट निर्देश है, जो कि इस तथ्य का प्रतिपादक है कि उस समय तक कम-से-कम इस पुराण का प्रणयन हो चुका था।<sup>२</sup> ब्राह्मण के मरने के प्रसंग में विभिन्न मतों का उल्लेख करते हुए इसमें पुराणवचन को उद्धृत किया है।<sup>३</sup> गौतमधर्मसूत्र ने व्यवस्था दी है कि बहुश्रुत वह ब्राह्मण है जो लोगों के आचार-व्यवहार वेद, वेदाङ्ग, वाकोवाक्य, इतिहास एवं पुराण को जानता है।<sup>४</sup> उसमें यह भी आया है कि राज्य-शासन एवं न्याय-कार्य में राजा को वेद, धर्मशास्त्र के छः अंगों, उपवेदों एवं पुराण पर अवलम्बित होना चाहिए।<sup>५</sup>

६. वाल्मीकीय रामायण में अनेकत्र पुराण और पुराणवित् का स्पष्ट संकेत मिलता है।<sup>६</sup>

७. महाभारत पुराणों के आख्यानो से ही नहीं अपितु वर्ण्य-विषय से भी परिचय रखता था।

<sup>१</sup> अथ पुराणे श्लोकावुदाहरन्ति—

अष्टाशीति सहस्राणि ये प्रजामीषिरर्षयः ।

दक्षिणेनार्यम्णः पन्थानं ते श्मशानानि भेजिरे॥

अष्टाशीति सहस्राणि ये प्रजां नेमिरर्षयः ।

उत्तरेणार्यम्णः पन्थानं तेऽमृतत्वं हि कल्पते॥ इत्युध्वरितसां प्रशांसा/आ०धर्म० २/९/२३/३-५,

उपर्युक्त श्लोकों को निम्न पुराणों में भी देखा जा सकता है : विष्णु० २/८/८९-९२ मत्स्य०,

१२४/१०२-११०, ब्रह्माण्ड० में दो स्थलों पर पितृयान तथा देवयान सम्बन्धी चर्चा है— ६५/१०३-१०४,

५४/१५९-१६६ इत्यादि ।

<sup>२</sup> पुनः सर्गे बीजार्था भवन्तीति भविष्यत्पुराणे। आप०धर्म० २/२४/६

<sup>३</sup> यो हिंसार्थमभिक्रान्तं हन्ति मन्युरेव मन्युं स्मृशति, न तस्मिन् दोष इति पुराणे। तत्रैव, १/१०/२९/७

<sup>४</sup> स एष बहुश्रुतो भवति लोक-वेद-वेदाङ्गवित् वाकोवाक्येतिहासपुराणकुशल । गौ० ८/४-६

<sup>५</sup> तस्य च व्यवहारे वेदो धर्मशास्त्राणि अङ्गानि उपवेदाः पुराणम् । गौ०धर्म० ११/२१

<sup>६</sup> (क) इत्युक्त्वान्तःपुरद्वारं जगाम पुराणवित्। रामा० अयोध्याकाण्ड, १५/१८

(ख) स तदन्तःपुरद्वारं समतीत्य जनाकुलम् ।

प्रविभतां ततः कक्षामाससाद पुराणवित् ॥ तत्रैव, १६/१

(ग) इत्युक्त्वा तु रहः सूतो राजानमिदमब्रवीत्।

श्रूयतां यत् पुरावृत्तं पुराणेषु यथाश्रुतम्॥ तत्रैव, बाल० ९/१, ८/५,६

बहुत से आख्यान एवं उपदेशात्मक श्लोक दोनों में समान हैं। महाभारत स्वयं को पुराण के बाद रचित मानता है।<sup>१</sup> वर्ण्य विषय का इसमें संकेत है।<sup>२</sup> मत्स्य एवं वायु पुराण का इसमें स्पष्ट उल्लेख है।<sup>३</sup>

८. पतञ्जलि (द्वितीय शती ई०पू०) ने अपने व्याकरणमहाभाष्य में पुराण का स्मरण किया है।<sup>४</sup> महाभाष्य (पाणिनि ३४/२/५९-६०) के एक वार्तिक ने आख्यान (यथा—यावक्रीतिक, यायातिक), आख्यायिका (यथा—वासवदत्तिक, सौमनोत्तरिक), इतिहास (ऐतिहासिक); पुराण (पौराणिक) में ठक् (इक्) प्रत्यय लगाकर शब्द निर्माण की व्यवस्था दी है।

९. विभिन्न स्मृति—ग्रन्थों में भी पुराण की चर्चा आयी है।<sup>५</sup> मनुस्मृति<sup>६</sup> तथा याज्ञवल्क्य स्मृति<sup>७</sup> में पुराण—पाठ के समय, स्थान आदि का संकेत मिलता है।

१०. कौटिल्य (ई०पू०चतुर्थ शती) पुराणों से परिचित थे इस कथन की पुष्टि उनके अर्थशास्त्र

<sup>१</sup> अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवतीसुतः ।

पश्चाद् भारतमाख्यानं चक्रे तदुपबृंहितम् । आदिपर्व (द्रष्टव्य : पुराण—विमर्श, पृ० २०)

<sup>२</sup> (क) माहात्म्यमपि चास्तिक्यं सत्यं शौचं दयार्जवम् ।

विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः ॥ आदिपर्व १/२४०

(ख) पुराणे हि कथा दिव्या आदिवंशाश्च धीमताम् ।

कथ्यन्ते ये पुरस्माभिः श्रुतपूर्वाः पितुस्तव ॥ तत्रैव, ५/२

<sup>३</sup> एतत् ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं यथा ।

वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषिसंस्तुतम् ॥

महाभारत, वनपर्व १९१/१५-१६, १८/६/९७

<sup>४</sup> 'वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमिति', कीलहार्न का संस्करण भाग १, पृ० ९

<sup>५</sup> (क) मीमांसते च यो वेदान् षड्भिरङ्गैः सविस्तरैः ।

इतिहासपुराणानि स भवेद् वेदपारगः ॥ व्यास स्मृति, ४/४५

(ख) ब्राह्मणक्षत्रियविशस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।

श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तधर्मयोगस्तु नेतरः ॥ तत्रैव, १/५

(ग) वेदं धर्मं पुराणं च तथा तत्त्वानि नित्यशः ।

संवत्सरोषिते शिष्ये गुरुर्ज्ञानं विनिर्दिशेत् ॥ उशन० ३/३४।

<sup>६</sup> स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।

आख्यातानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ॥ मनु० ३/२३२

<sup>७</sup> क) पुराण—न्याय—मीमांसा—धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ याज्ञ० ३, ३/३२, (आचाराध्याय, उपोद्धात—प्रकरण—१)।

(ख) तत्रैव, १/१०१; ३/१८९

में उपलब्ध उन कथनों से होती है जहाँ यह शब्द उल्लिखित है।<sup>१</sup>

११. चरक संहिता के सूत्र स्थान तथा शरीर स्थान अध्याय में 'पुराण' का उल्लेख है।<sup>२</sup> जो यह स्पष्ट करता है कि उस पुरातनकाल में भी पुराण मौजूद थे।
१२. शूद्रक के पद्मप्राभृतक भाण में 'पुराण' शब्द आया है।<sup>३</sup>
१३. भगवान् पराशर की ज्योतिष संहिता में पुराणोल्लेख हुआ है।<sup>४</sup>
१४. शुक्रनीति में पुराण तथा पौराणिक का लक्षण दिया गया है।<sup>५</sup>
१५. नारद स्मृति के भाष्यकार भवस्वामी के कथनानुसार इसके २०४ तथा २०५ श्लोक पुराण प्रोक्त हैं।
१६. पुरानी बाइबिल में उत्पत्ति (जैनेसिस) प्रसंग पुराण के अनुकरण पर ही लिखा गया है ऐसा कुछ विद्वानों का मत है।<sup>६</sup>
१७. माघ (७००—७५०ई०) के शिशुपालवध का आधार श्रीमद्भागवत ही था। इससे यह स्पष्ट है कि भागवत पुराण इनसे पूर्ववर्ती था।
१८. सप्तमशती (पूर्वार्द्ध) के बाण ने 'कादम्बरी'<sup>७</sup> एवं हर्षचरित<sup>८</sup> में पुराणों का विशेषतः वायुपुराण का उल्लेख किया है।

<sup>१</sup> (क) मुख्यैरवगृहीतं वा राजानं तत् प्रियाश्रितः ।

इतिवृत्तपुराणाभ्यां बोधयेदर्शशास्त्रवित् । अर्थ० ५/६,

(ख) पश्चिममितिहासश्रवणे । पुराणमिति वृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः ॥ तत्रैव, ५/१३—१४

(ग) कार्त्तान्तिक—नैमित्तिक मौहूर्तिक—पौराणिक—सूत्रमागधाः पुरोहितपुरुषाः सर्वाध्यक्षाश्च साहस्राः ।

अर्थ० ५/३ (भृत्यभरणीयम्)

ये पंक्ति पौराणिक की राजा द्वारा उचित वेतन पर नियुक्ति उनके वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करती है।

<sup>२</sup> 'श्लोकाख्यायिकेतिहासपुराणेषु कुशलम्' । सूत्रस्थान १५/७, शरीर स्थान ४/४४

<sup>३</sup> 'भो अधोपुराणकाव्यसपदच्छेद' चतुर्भाषी, पृ० ५

<sup>४</sup> 'वेदवेदांगेतिहासपुराणधर्मशास्त्रावदातम्—(वृहत्संहिता, भट्ट उत्पल की टीका), पृ० ८१

<sup>५</sup> शुक्रनीति (क) ४/२६४ (ख) २/१७८ (ग) ४/२६९

<sup>६</sup> भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, पृ० सं० १७

<sup>७</sup> कादम्बरी (व्याख्याकार—पं० श्री कृष्णमोहन शास्त्री) चौखम्भा, संस्कृत संस्थान, चतुर्थ संस्करण, वि० संवत्, २०३३

(क) 'पुराणेषु वायुप्रलपितम्,' (कथामुखे, जाबाल्याश्रमवर्णन), पृ० १२६

(ख) 'महाभारत—पुराण—रामायणानुरागिणा' (कथामुखे, उज्जयिनीवर्णना) पृ० १२६

(ग) 'महाभारत—पुराणेतिहास—रामायणेषु' (कथामुखे, चन्द्रापीडयौवनारम्भव०) पृ० २३२

(घ) 'पुराणमिव विभागावस्थापितः अवस्थितः सकलभुवनकोशम्,' (कथामुखे, राजकुलवर्णना) पृ० २७६

(ङ) 'बलियज्ञमिव पुराणपुरुष—वामनाधिष्ठिताभ्यन्तरम्' (कथामुखे, राजकुलवर्णना—यहाँ प्रकारान्तर से वामन पुराण का नाम उद्घृत है), पृ० २७८

(च) 'नारदीयमिव, वर्ण्यमानं—राजधर्मम्' (कथामुखे, राजकुलवर्णना—यहाँ नारदीय पुराण की ओर संकेत किया गया है) पृ० २८१ इत्यादि ।

<sup>८</sup> इसी प्रकार हर्षचरित में भी दो स्थलो पर पवनप्रोक्त = वायु पुराण की लोकप्रियता एवं प्रसिद्धि द्रष्टव्य है :

(क) पुस्तकवाचकः सुदृष्टिगीत्या पवमानप्रोक्तं पुराणं पपाठ । (हर्ष० ३ उच्छ्वास, ४ अनु०) पृ० १८६

(ख) तदपि मुनिगीतमतिपृथु तदपि जगद्व्यापिपावनं तदपि । हर्षचरितादभिन्नं प्रतिभाति हि मे पुराणमिदम् ।

तत्रैव, उच्छ्वास ३, अनु० ५, पृ० १४६—१४७

१९. शबर स्वामी (२००ई०—४००ई० के मध्य) ने जैमिनीय मीमांसाभाष्य में यज्ञ से सम्बद्ध देवता के स्वरूप का निर्णय करते समय इतिहास—पुराण के मत को प्रस्तुत किया है कि देवता से तात्पर्य अग्नि आदि से है, जो स्वर्ग में निवास किया करते हैं। यह मत आज पुराणों में उपलब्ध है।<sup>१</sup>
२०. ४७५ ई० तथा इसके आस—पास के भूदान—पत्रों में, महाभारत के बताये जाते हुए व्यास के कुछ श्लोक उद्धृत हैं किन्तु वस्तुतः वे श्लोक पद्म और भविष्यत् पुराण में पाये जाते हैं।<sup>२</sup>
२१. ऋग्भाष्यकार आचार्य स्कन्दस्वामी (संवत् ६८७ के समीप) ने पुराणों के कई श्लोकों का प्रमाण दिया है, जो वर्तमान पुराणों में स्वल्प पाठान्तरों से मिल जाते हैं।<sup>३</sup>
२२. आचार्य गौडपाद सांख्यकारिका (२३) के भाष्य में 'पुराणानि' पद का प्रयोग करता है।<sup>४</sup>
२३. कुमारिलभट्ट (सप्तमशती) ने तन्त्रवार्तिक में पुराण के स्वरूप एवं विषय सम्बन्धी अनेक वचनों का प्रमाण दिया है जो वर्तमान पुराणों से भिन्न नहीं है।<sup>५</sup>
२४. निरुक्तवृत्ति (५/१४) में आचार्य दुर्ग ने वसिष्ठोत्पत्ति सम्बन्धी एक कथा का भाव देकर अन्त में 'इति पुराणे श्रूयते' लिखा है।<sup>६</sup>

<sup>१</sup> का पुनरिय देवता नाम । एक तावन्मत या एता इतिहासपुराणेष्वग्न्याद्या सङ्कीर्त्यन्ते नाकसदस्ता देवता इति ।

—शबर भाष्य जै० सू० १०/४/२३

<sup>२</sup> सस्कृत—साहित्य का इतिहास (हसरज अग्रवाल) तृतीय अध्याय पुराण, पृ० ५२—६३

<sup>३</sup> (क) इति पुराणे श्रुतत्वात् । १/२०/७

(ख) एव हि पौराणिका स्मरन्ति । १/२४/१

(ग) इति पुराणेषु प्रसिद्धम् । १/२५/१३

(घ) पौराणिका हि कक्षीवन्तमाङ्गिरस स्मरन्ति । एव ह्याहु — अग्रवर्ती श्लोक ऋग्भा० १/११६/७, देखे ।

ये श्लोक वर्तमान निम्न पुराणों में कतिपय भिन्नता से उपलब्ध हैं—(अ) मत्स्य० १४५/६३, ६४, ब्रह्माण्ड० २/३२/६८, ६९, वायु० ५९/६९, ६२ (ब) वायु० ५९/१०२ (द्रष्टव्य भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, पृ० ९५)

<sup>४</sup> ईश्वरकृष्ण कृत सांख्यकारिका (भाष्य—गौडपाद) की २३वीं कारिका—'बुद्धिलक्षणम्', पृ० २१

<sup>५</sup> (क) स्मर्यन्ते च पुराणेषु धर्मविप्लुतिहेतव ।

कलौ शाक्यादयस्तेषां को वाक्य श्रोतुमर्हति।—जै० १/३/७ पर तत्रवार्तिक (नि सन्देह कुमारिल भट्ट से पूर्व किसी—न—किसी पुराण में बुद्ध की निन्दा मौजूद थी) ।

(ख) तथा स्वर्गशब्देनापि नक्षत्रदेशो वा वैदिक—प्रवाद—पौराणिक—याज्ञिक—दर्शनेनोच्यते यदि वेतिहासपुराणोपपन्न

मेरुपृष्ठम् अथवाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभक्त केवलमेव सुखम् । जै० सू० १/३/३० तत्रवार्तिक

('स्वर्ग' की व्याख्या के सन्दर्भ में उक्त भट्ट जी का मत प्रचलित पुराणों से भिन्न नहीं है क्योंकि उनमें भी स्वर्ग की स्थित मेरुपृष्ठ पर ही बताई गयी है—मत्स्य० ११/३७—३८, पद्म०, (पातालखण्ड) ८/७२—७३) ।

<sup>६</sup> यह कथा मत्स्य० २०/२३—२९ में है।

२५. शंकराचार्य (७००ई० के आसपास) ने अपने भाष्यों में स्मृतिवचन के रूप में अनेक पुराणवचनों का प्रमाण दिया है। यद्यपि इन्होंने अपने शारीरिक भाष्य में कहीं भी पुराणों के नाम को उद्धृत नहीं किया तथापि वे वचन आज अनेक पुराणों में ज्यों—के—त्यों मिल जाते हैं। कई उपनिषद् भाष्यों तथा श्रीविष्णुसहस्रनाम में इन्होंने स्पष्ट रूप से पुराणों के नाम के साथ उनके उद्धरणों को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है।<sup>१</sup>

२६. विश्वरूप (८००—८५०ई०) द्वारा याज्ञवल्क्यस्मृति की बालक्रीडा टीका में दिये गये स्मृति—वचन विष्णु, मत्स्य तथा वायु पुराण के श्लोकों से पूर्ण समता रखते हैं।<sup>२</sup>

२७. मेधातिथि (नवम शताब्दी) ने मनुस्मृतिभाष्य में पुराणों को व्यासादि प्रणीत माना है।<sup>३</sup>

२८. अलबरूनी (संवत् १०८७) ने अपने ग्रन्थ में पुराणों से बहुत सी सामग्री एकत्र की है और वह सब तत्तत् पुराणों में उपलब्ध है।<sup>४</sup>

इस सन्दर्भ में आधुनिक विद्वानों के मत इस प्रकार हैं :

- (१) ऐतिहासिक महाकाव्यों के समान पुराण भी भाटों ने प्राचीन परम्परा—प्राप्त लोकवादों के आधार पर बनाये थे ऐसे कुछ विद्वान् मानते हैं। उन लोकवादों को अथर्ववेद में वाङ्मय का एक अंग स्वीकार कर इतिहास—पुराण का साधारण नाम दिया गया है । क्या छान्दोग्यउपनिषद् और क्या प्रारम्भिक बौद्ध—ग्रन्थ (सुत्त निपात) दोनों में ही

<sup>१</sup> शंकराचार्य के ऐसे उद्धरण अनगिनत हैं। एक उद्धरण इस प्रकार है—  
स्मृतिश्च भवति—तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्या प्रतिपेदिरे ॥

तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ॥

हिंसाहिंसे मृदुकूरे धर्माधर्मवृत्तानृते ।

तद् भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात् तत् तस्य रोचते ॥ शांकर भाष्य १/३/३०

ये स्मृतिवचन निम्न पुराणों में मिलते हैं : कूर्म० १/७/६३—६४; मार्क० ४८/३९—४०; वायु० में दो स्थलों पर—  
८/३२—३३ तथा ९/५७—५८; विष्णु० १/५/५९—६० इत्यादि ।

<sup>२</sup> पुराणे हि भगवतः सवितुर्बहवो वीर्यो दिवि पद्धतयः श्रूयन्ते यथाऽगस्त्यस्यानन्तरं अजवीथी । — बालक्रीडा ३/१७५  
(यह वचन मत्स्य० १२४/५३—६० एवं वायु० ५०/१३० पर आधारित है)

<sup>३</sup> 'पुराणानि व्यासादिप्रणीतानि' मनुभाष्य ३/२२२

<sup>४</sup> Alberuni's India, Vol I, II.

वाङ्मय के इस अंग को पञ्चमवेद कहा गया है, और आज तक यह पंचम वेद के ही रूप में स्वीकृत किया जाता है।<sup>१</sup>

(ii) प्रसिद्ध विद्वान् पार्जितर महोदय पुराणों की रचना ४०० वर्ष ई० पूर्व तथा एक हजार ई० के बीच मानते हैं।<sup>२</sup>

(iii) सी०वी० वैद्य के अनुसार पुराणों को यह रूप चौथी शताब्दी में दिया गया।<sup>३</sup>

(iv) भण्डारकर तथा स्मिथ ने पुराणों का रचनाकाल गुप्तयुग माना है।<sup>४</sup>

(v) हाजरा महोदय ने पुराण—रचनाकाल 'दान और धर्म' आदि विषयों के आधार पर तीसरी से बारहवीं शताब्दी के बीच निर्धारित किया है।<sup>५</sup>

(vi) काणे महोदय के अनुसार पुराणों को वर्तमान रूप प्रदान करना ईसा की पहली शताब्दी से आरम्भ हुआ तथा सारे पुराणों को सातवीं शताब्दी के मध्य तक स्वीकार कर लिया गया।<sup>६</sup>

(vii) आर० सी० मजूमदार ने भी पुराणों का रचनाकाल तीसरी शताब्दी से सातवीं शताब्दी के मध्य स्वीकार किया है।<sup>७</sup>

(viii) जे० एन० एन० फर्कुहर महोदय ने वर्तमान पुराणों का रचनाकाल भण्डारकर तथा स्मिथ की ही भाँति गुप्त युग माना है।<sup>८</sup>

(ix) एस०डी० ज्ञानी ने वर्तमान पुराणों का काल ७वीं शताब्दी माना है।<sup>९</sup>

<sup>१</sup> संस्कृत—साहित्य का इतिहास, हंसराज अग्रवाल, तृतीय अध्याय : पुराण, पृ० ५२—६३

<sup>२</sup> जे०आर०ए०एस०, १९१४, पृ० ७४, पार्जितर ( द्रष्टव्य : देवीभागवत पुराण में नारी की स्थिति, पृ० १—७)

<sup>३</sup> द्रष्टव्य : तत्रैव

<sup>४</sup> Smith, Oxford History of India, pg. 60.

<sup>५</sup> Majumdar, R.C., The classic age, Bombay, 1954, Part 3, pg. 291.

<sup>६</sup> P.B. Kaane, History of Dharmasamaj, part 1, pg. 162.

<sup>७</sup> Hazra R.C., Studies in the Pauranic records of Hindus Rites & customs, pg.6.

<sup>८</sup> An other line of the religious literature of India, Oxford, 1920, p. 13, द्रष्टव्य; देवीभागवत पुराण में नारी की स्थिति, पृ० १—७

<sup>९</sup> न्यू इण्डियन एण्टीक्वैरी, भाग—५, १९४२; पृ० १३५, द्रष्टव्य : तत्रैव

पुराणों की रचना एवं प्रचीनता के सम्बन्ध में गौरीनाथ शास्त्री ने बड़ा ही झुलसा हुआ विचार प्रस्तुत किया है— “ सभी पुराणों के वंशक्रम का पर्यवेक्षण इस तथ्य को प्रकट करता है कि ये सभी सामान्य रूप से आन्ध्र, भृत्य और गुप्त राजाओं के वर्णन के साथ समाप्त हो जाते हैं और हर्ष जैसे बाद के राजाओं का इनमें उल्लेख नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि पुराणों को गुप्तवंशी राजाओं के शासन काल में लिखा गया था। दूसरी ओर, ईसा की प्रथम शताब्दी के बौद्ध महायान ग्रन्थों और पुराणों के बीच मिलने वाली उल्लेखनीय समानता इस तथ्य का संकेत करती है कि पुराणों को ईसवी सन् के आरम्भ में ही लिखा गया था—फिर भी, डॉ० विन्टरनिट्ज ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रारम्भिकतम पुराण भी ईसा की सातवीं शताब्दी में ही अस्तित्व में आये होंगे । परन्तु यहाँ यह संकेत दिया जाना चाहिए कि बहुसंख्यक पुराणों में उल्लिखित शिव तथा विष्णु की पूजा का यदि बुद्धपूर्वयुग में न सही तो भी ईसा पूर्व युग में अवश्य आरम्भ हो गया था। पुराण किसी भी प्रकार सर्वथा आधुनिक नहीं है।”<sup>१</sup> उपर्युक्त विवरण के आलोडन—स्वरूप यह पूर्णतः स्पष्ट है कि जिन—जिन ग्रन्थों में पुराणों का उल्लेख हुआ है वे सब पुराणों को अपने से प्राचीन सिद्ध करते हैं। किन्तु इनका मौलिक गठन कब हुआ यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं हो पाता। संभवतः प्रारम्भ में इसकी मौखिक परम्परा रही होगी जिसने कालान्तर में लिखित रूप धारण कर लिया हो। वैदिक वाङ्मय में विभिन्न संदर्भों में उल्लिखित संकेत इन्हें वेदों से प्राचीन, अपौरुषेय तथा पुनीतता के पद पर प्रतिष्ठित करते हैं क्योंकि पुराण—संस्कृति हमारी पुरातनता और सनातन—सत्य का बोध कराती है। आज इनका समय निश्चित न होने का एक कारण यह भी है कि उसमें प्राचीन एवं नवीन सामग्री का मिश्रण है। इस मिश्रण के कारण ही विन्टरनिट्ज ने “पुराणों को

<sup>१</sup> संस्कृत—साहित्य का सुबोध इतिहास, डॉ० राजकिशोर सिंह, पृ० ३८



पुरानी बोतल में नयी शराब'' की उपमा दी है। अन्ततः यही कहा जा सकता है कि पुराणों का संग्रह—कार्य भले ही परवर्ती काल में हुआ हो, किन्तु विषय—सामग्री और विचारधारा की दृष्टि से ये चिर—पुरातन हैं। ये एक ही शताब्दी की रचना नहीं हैं। समय—समय पर उनमें नये—नये अध्याय जुड़ते गये हैं। फिर भी यह तो निश्चित है कि ये गुप्तकाल तक अपने वर्तमान रूप को प्राप्त हो चुके थे।

### पौराणिक वाङ्मय की पृष्ठभूमि

अपने उद्भव एवं प्रसार के सम्बन्ध में पुराण एकमत होकर नहीं बोलते हैं। 'व्यास ने पुराणों के संरक्षण एवं प्रचार का कार्य सूत को सौंपा' ऐसा उद्घोष होने के बाद भी पुराणों में भिन्न—भिन्न बातें मिलती हैं। वस्तुतः पुराणोत्पत्ति के कई कारण प्रतीत होते हैं जिनके परिणामस्वरूप पौराणिक वाङ्मय का उद्भव एवं विकास हुआ; जैसे—सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ, दुर्बोध्य वैदिक वाङ्मय का सामान्य वर्ग को बोध कराना, प्राचीन ग्रन्थों में पुराणों की अतिशय महत्ता इत्यादि ।

कालक्रम से जब वैदिक वाङ्मय सर्वजनग्राह्य नहीं रहा और केवल विद्वज्जनों का ही पाठ्य एवं आलोच्य का विषय बनकर रह गया एवं जनसामान्य (स्त्री एवं शूद्र) की पहुँच के बाहर हो गया तब वेद एवं उससे सम्बन्धित ग्रन्थों में निहित तत्त्व को जनता के समक्ष रखने के लिए अत्यन्त सहज, सरल, सुबोध भाषा में पुराणों की रचना हुई ऐसा अधिकांश विद्वान् मानते हैं। यह जन—मन के अधिक निकट था । इनकी रचना से पूर्व वेद ब्राह्मण, ग्रन्थ, सूत्र, स्मृति, उपनिषद् आदि को जनसाधारण द्वारा समझना बहुत मुश्किल था । वैदिक मंत्र बिना ऋषि, छन्द, देवता एवं विनियोग जाने न तो पढ़ा जा सकता था; न उसका जप किया जा सकता था और न ही यज्ञ में उसका प्रयोग किया जा सकता था। इनकी उपेक्षा दिखाने वाले व्यक्ति को दारुण फल भुगतने पड़ते थे । यही नहीं, इनकी भाषा भी अत्यधिक कठिन हो

चली थी। इनकी भाषा की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में निरुक्तोक्त 'विद्या' के निर्वचन में आगत आख्यान को प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसमें विद्या स्वयं ब्राह्मण के पास जाकर कहती है 'तू मेरी रक्षा कर! मैं तेरी निधि हूँ। तू निन्दक के लिए, कपटाचरण कर्त्ता के लिए, असंयमी के लिए मुझको मत कह बल्कि जिसे तू पवित्र, अप्रमादी, अत्यन्त बुद्धिमान्, ब्रह्मचर्य से युक्त जाने तथा जो तुझसे कभी द्वेष न करे उसे तू मुझको पढ़ा' ऐसा करने पर मैं तेरे लिए वीर्यशालिनी हो जाऊँगी।<sup>1</sup> स्पष्ट है, वैदिक विद्या के अधिकारी कुछ गिने-चुने लोग ही हो सकते थे। लोक संस्कृति को वैदिक संस्कृति के साथ जोड़ने के प्रयास किये गये। अतः वेदों में निहित गूढ़ तथ्यों अथवा प्रतीकों को पुराणकर्त्ताओं ने पुराणों के माध्यम से अत्यन्त सरल एवं सरस, लोकभाषा तथा रोचक आख्यानमयी शैली में प्रस्तुत किया ताकि जिनमें वेदों के पाठ की क्षमता नहीं थी वे भी उसे समझ सकें। कालान्तर में यह वेदार्थ को स्पष्ट करने वाला उत्तमकोटि का वाङ्मय सिद्ध हुआ। इसके प्रणयन से कई लाभ हुए; जैसे— (१) वैदिक संस्कृति का प्रचार-प्रसार हुआ, (२) जिनके लिए वेद वर्जित थे वे इनके माध्यम से वैदिक आचार-विचार को समझने लगे तथा (३) वेद की अनुपलब्ध शाखाओं का इनके द्वारा बोध हुआ। कालान्तर में वेदार्थपूरण के कारण ही इसे वेदों का पूरण कहा गया है। पुराणों ने अपने कर्त्तव्य पालन में इस ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया कि वेदों की शुद्ध और उचित व्याख्या यदि कहीं है तो वह पुराणों में ही है अतः वेदार्थ-ज्ञान के लिए पुराणों का ज्ञान आवश्यक है। इसलिए इन्हें वेदों का उपबृंहण कहा गया।<sup>2</sup> मनु का भी कथन है कि वे ब्राह्मण

<sup>1</sup> विद्या इ वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय शेवधिष्ठेऽहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥ यमेव विद्याशुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नं यस्ते न दुह्येत् कतमज्ब नाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् । इति ॥

निरुक्त, प्रथम पाद, द्वितीय अध्याय, पृ० ७२-७३

<sup>2</sup> इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥ महा० आदिपर्व (१/२६७-२६८); वायु० (१/२०१) पद्म० (५/२/५१-५२); ब्रह्माण्ड० (१/१/१७१) इत्यादि ।

जिन्होंने वेद का अध्ययन नियमानुकूल और उन ग्रन्थों के साथ जो उसे शक्तिशाली बनाते हैं, किया है शिष्ट कहलाते हैं और वेदार्थ को प्रत्यक्ष कराने के हेतु बनते हैं।<sup>१</sup>

इतना ही नहीं पुराणों को कहीं तो वेदों से बढ़कर, कहीं उनके समतुल्य और कहीं उससे पूर्व रचित माना गया है। कूर्मपुराण में उल्लिखित है कि 'इतिहास (महाभारत) के साथ सभी पुराणों को एक ओर रख दो और दूसरी ओर सर्वोत्तम वेद को, ये पुराण भारी पड़ जायेंगे।'<sup>२</sup> मत्स्य, पद्म, ब्रह्म, विष्णु, देवीभागवत आदि पुराणों में आया है कि ब्रह्मा ने सब शास्त्रों से पूर्व पुराणों की रचना की।<sup>३</sup> वायु, ब्रह्म, विष्णु, पद्म इत्यादि पुराणों में इसे वेद सम्मत कहा गया है।<sup>४</sup>

### शूद्र और पुराण :

पुराण की रचना भारतीय समाज के प्रत्येक वर्ण के कल्याण एवं उद्धार की भव्य भावनारूप लक्ष्य को ध्यान में रखकर की गई। प्रायः सभी धर्मशास्त्र इस तथ्य का प्रतिपादन करते हैं कि वेद के श्रवण—पठन पर शूद्र, स्त्री एवं जन्मना द्विज का अधिकार नहीं था। अतः वेद से वर्जित प्राणियों को वैदिक वाङ्मय से अवगत कराने हेतु पुराण—वाङ्मय उदय हुआ।

<sup>१</sup> धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिवृंहणः ।

ते शिष्टा ब्रह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥ मनु० १२/१०९

<sup>२</sup> एकतस्तु पुराणानि सेतिहासानि कृत्स्नशः ।

एकत्र परमं वेदमेतदेवातिरिच्यते ॥ कूर्म० २/४६/१२९

<sup>३</sup> मत्स्य० (५३/३-११); पद्म० (५/१/४५-५२); ब्रह्म (२४५/४); विष्णु० (३/६/२०); देवीभागवत (१/३/३)।

<sup>४</sup> वायु० (१/११, ४/१२); ब्रह्म० (१/२९, २४५/४ एवं २१); विष्णु० (१/१/१३, ६/८/१२); पद्म० (६/२८२/११६) इत्यादि—

(क) पुराणं संप्रवक्ष्यामि ब्रह्मोक्तं वेदसंमितम् । वायु० १/११

(ख) गुरुं प्रणम्य वक्ष्यामि पुराणं वेदसंमितम् । ब्रह्म० १/२९

(ग) पुराणं नारदोपाख्यमेतद्वेदार्थसंमितम् । नारदीय० १/१/३६

अन्य वचन भी द्रष्टव्य हैं :

(क) वेदार्थाधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने ।

वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः ॥ तत्रैव, २/२४/१७

(ख) मध्वाहुतयो ध्वा एतादेवानाम् यदनुशासनानि ।

विद्या वाको वाक्यामितिहासपुराणं गाथानारुशंस्यः ॥ शतपथ० ११/५/६

(ग) अपक्षयविनाशाभ्यां परिणामर्द्धिजन्मभिः ।

वर्जितः शक्यते वक्तुं यः सदास्तीति केवलम् ॥ विष्णु० १/२/११

(घ) भारतावतारणार्थाय पृथिव्याः पृथिवीतलम् । अवतीर्णोऽखिलाधारस्त्वमेव परमेश्वर ॥ तत्रैव, ५/१२/७

जैसा कि भागवत<sup>१</sup> एवं देवीभागवत<sup>२</sup> का स्पष्ट उद्घोष है कि व्यास ने वेद—वर्जित स्त्री, शूद्र एवं नामधारी ब्राह्मण के लिए भारत एवं पुराण का संग्रहण किया। भविष्य पुराण<sup>३</sup> के अन्तर्गत शतानीक एवं सुमन्तु की वार्ता भी यही स्पष्ट करती है कि १८ पुराण, रामायण एवं महाभारत का प्रणयन चारों वर्णों— विशेषतः शूद्रों के निमित्त हुआ । शूद्रों द्वारा पुराण के पठन एवं श्रवण के विषय में पुराणों में भी भिन्न—भिन्न मत मिलते हैं। कुछ का कहना है कि शूद्रों को केवल पुराण—श्रवण का ही अधिकार है और कुछ श्रवण—पठन दोनों का अधिकार देते हैं। इस सम्बन्ध में भविष्यपुराण<sup>४</sup> का कथन है कि शूद्र स्वयं पुराण का पाठ नहीं कर सकता, ब्राह्मण द्वारा पठ्यमान पुराण का वह केवल श्रवण कर सकता है। प्रायश्चित्तविवेक<sup>५</sup> तथा श्रीमद्भागवत<sup>६</sup> भी इसी कथन का समर्थन करते हैं। शंकराचार्य ने अपने शारीरक भाष्य में शूद्रों के लिए वेदाधिकार का निषेध किया है पर उन्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति से कभी वर्जित नहीं किया । इस सम्बन्ध में उन्होंने 'विदुर' तथा 'धर्मव्याध' का दृष्टान्त दिया है जिसके आधार पर यह स्पष्ट किया है कि शूद्रों का इतिहास—पुराण के श्रवण पर पूरा अधिकार है क्योंकि 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' के अनुसार इतिहास—पुराण के श्रवण पर चारों वर्णों का अधिकार है और इस प्रकार वे आत्मज्ञान एवं मोक्ष की प्राप्ति अवश्य ही कर सकते

<sup>१</sup> स्त्री—शूद्र—द्विजबन्धुनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।

इति भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम् ॥ श्रीमद्भागवत० १/४/२५

<sup>२</sup> स्त्री—शूद्र—द्विजबन्धुनां न वेदश्रवणं मतम् ।

तेषामेव हितार्थाय पुराणानि कृतानि च ॥ देवीभागवत० १/३/२१

<sup>३</sup> भविष्य (ब्राह्मणपर्व) १/४३—४७

<sup>४</sup> अध्येतव्यं न चान्येन ब्राह्मणं क्षत्रियं विना ।

श्रोतव्यमिह शूद्रेण नाध्येतव्यं कदाचन ॥ द्रष्टव्य : पुराण— विमर्श, पृ० २३८

<sup>५</sup> न हि वेदेष्वधिकारः कश्चित् शूद्रस्य जायते ।

पुराणेष्वधिकारो मे दर्शितो ब्राह्मणैरिह ॥ द्रष्टव्य : तत्रैव, पृ० २३८

<sup>६</sup> विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञां राजन्योदधिमेखलाम् ।

वेश्यो निधिपतित्वं च शूद्रः शुध्यति पातकात् ॥ श्रीमद् भा० १२/१२/६४, पृ० ३२४

यहाँ उक्त 'अधीत्य' पद का टीकाकारों ने 'पाठयित्वा' अर्थ दिया है, जिससे यही अर्थ ध्वनित होता है कि शूद्र को ब्राह्मण द्वारा पुराण पढ़वाकर सुनने का अधिकार है, स्वयं पढ़ने का नहीं ।

हैं।<sup>१</sup> इसी प्रकार 'अन्तराचापि तद्दृष्टेः' (३/४/३६) के भाष्य में आचार्य ने रैक्व तथा वाचकनवी (स्त्री) के दृष्टान्त द्वारा भी इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है, जिन्हें ब्रह्मज्ञान था।<sup>२</sup> वाचकनवी के चरित्र का उल्लेख बृहदारण्यकोपनिषद्<sup>३</sup> में भी हुआ है। इस प्रकार पुराण त्रिवर्ग का साधक नहीं अपितु चतुर्वर्ग—प्राप्ति का साधक सिद्ध होता है। महाभारत<sup>४</sup> भी इस तथ्य का समर्थन करता है। यह ठीक है कि पुराण यत्र—तत्र अपने को वेदों से श्रेष्ठ मानते हैं तथा अपने मूल्य एवं प्रभाव को सिद्ध करते हैं तथापि उन्होंने वेदों को प्रमाणिक माना है एवं कतिपय कृत्यों में पौराणिक मंत्रों के साथ—साथ वैदिक मंत्रों का प्रयोग निर्दिष्ट किया है। इतना ही नहीं उन्होंने बहुत से उपनिषद् वचनों का भी किञ्चित् भेद के साथ उल्लेख किया है।<sup>५</sup> तब यह शंका उद्भूत होती है कि शूद्र जिनका कि वेदाध्ययन पर अधिकार नहीं तथा कुछ के अनुसार तो पुराण पठन पर भी जिनका अधिकार नहीं है, वे इनका किस प्रकार श्रवण—पठन कर सकते हैं? इस शंका के समाधान में विद्वानों के भिन्न—भिन्न मत मिलते हैं। कुछ का कहना है कि पुराणों में सम्मिलित वैदिक मंत्रों को शूद्र लोग न तो पढ़ सकते हैं न सुन सकते हैं। इस सम्बन्ध में वायुपुराण कहता है कि वेद विहित पञ्चयज्ञ मंत्रोच्चारण के बिना ही शूद्रों को भी करने चाहिए।<sup>६</sup> कुछ पद्मपुराण के वचन का आश्रय ग्रहण कर कहते हैं कि शूद्र धार्मिक कृत्यों में पौराणिक मंत्रों का पाठ कर सकते हैं। निर्णयसिन्धु एवं कमलाकरभट्ट का कहना है

<sup>१</sup> येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशाद्विदुरधर्मव्याघ्रप्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिस्तेषां न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेद्धं ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वात्। 'आवयेच्चतुर्ये वर्णान्' इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारस्मरणात्। वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम् ॥ (वे०सू० १/३/३८)

<sup>२</sup> रैक्व—वाचकनवी—प्रभृतीनामेवंभूतानामपि ब्रह्मवित्त्वश्रुत्युपलब्धेः। तत्रैव, ३/४/३६

<sup>३</sup> बृहदारण्यकोपनिषद् : (३/६/१, ३/८/१ एवं १२) गार्गी वाचकनवी ब्रह्मज्ञान की खोज करने के लिए प्रसिद्ध है।

<sup>४</sup> धर्मं चार्थं च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।

यदिहास्ति तदन्यत्र यत्रेहास्ति न तत् क्वचित् ॥

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो मोक्षमिच्छता।

ब्राह्मणेन च राज्ञा च गर्भिण्या चैव योषिता ॥ महा० स्वर्गा०पर्व, ५/५०—५१

<sup>५</sup> वायु० २०/५ एवं २०/२८ क्रमशः मुण्डकोपनिषद् २/२/४ तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/५ हैं। इसी प्रकार वायु० १४/१३ श्वेताश्वतरोपनिषद् ३/१६ हैं।

<sup>६</sup> वायु० ७६/१९

कि पौराणिक मंत्रों का पाठ केवल ब्राह्मण कर सकते हैं, शूद्र ब्राह्मण द्वारा पढ़े जाते हुए पुराण को केवल सुन सकता है। श्रीदत्त का इस सम्बन्ध में मत है कि शूद्र लोग पौराणिक मंत्र का पाठ कर सकते हैं; किन्तु वे स्वयं पुराण को पढ़ नहीं सकते, केवल ब्राह्मण द्वारा पढ़े जाते हुए पुराण का श्रवण कर सकते हैं।<sup>१</sup> प्रारम्भिक पुराणों को धर्मशास्त्रकारों ने प्रामाणिक माना किन्तु आगे चलकर ठीक इसके विपरीत पुराणों पर धर्मशास्त्र का प्रभाव पड़ता गया।

ब्राह्मणों ने शूद्रों की प्रसन्नतार्थ एवं बौद्ध धर्म से विलग करने हेतु अनेक प्रयास किए हैं तथापि द्विजों एवं शूद्रों में भेद सर्वथा मिटा नहीं, जैसे शूद्र द्विजों की भाँति पूजा कर सकते हैं पर उन कृत्यों में केवल पौराणिक मंत्रों का ही उच्चारण कर सकते हैं। पद्म पुराण में उल्लिखित है कि तीन वर्णों के पुरुष वैदिक मंत्रों का प्रयोग कर सकते हैं<sup>२</sup> किन्तु शूद्रों के लिए पौराणिक मंत्र ही निर्दिष्ट हैं।<sup>३</sup> पुनः यहाँ उल्लिखित है कि शूद्र लोग 'प्राणायाम' के स्थान पर 'ध्यान' तथा 'ओ३म्' के स्थान पर 'शिव' कह सकते हैं।<sup>४</sup> यह प्रवृत्ति पौराणिक युग के हासोन्मुखी काल की है जहाँ वर्ण—व्यवस्था, जातिव्यवस्था के रूप में रूढ़ हो चुकी थी और समाज में ऊँच—नीच का भेद अपनी चरम सीमा पर था। पौराणिकों की इस प्रवृत्ति ने पुराणों को उनके प्रधान लक्ष्य से ही भटका दिया जिसके फलस्वरूप न केवल पौराणिक—वाङ्मय का विकास ही अवरुद्ध हुआ अपितु वे उपेक्षा और उपहास के भी पात्र बने।

<sup>१</sup> विस्तृत समीक्षा हेतु द्रष्टव्य : धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे पी०वी०, अनुवादक, अर्जुन चौबे, चतुर्थ भाग; अ० २४, धर्मशास्त्र पर पुराणों का प्रभाव ।

<sup>२</sup> पद्म० ४/११०/२८६—२८९

<sup>३</sup> तत्रैव, ४/११०/२९०—२९३

<sup>४</sup> प्राणायामश्च प्रणवः शूद्रेषु न विधीयते ।

प्राणायामपदे ध्यानं शिवेत्योक्तारवर्णनम् ॥ पद्म० ४/११०/३१६

### सूत और शूद्र :

कतिपय स्मृति एवं पुराण वचन यह स्पष्ट करते हैं कि सूत प्रतिलोम (क्षत्रिय पिता और ब्राह्मण माता से उत्पन्न) जाति के थे जिनका वेद पठन—श्रवण पर अधिकार नहीं था। इनको छोड़कर वे अन्य वचनों का श्रवण एवं कथन कर सकते थे। पुराणों के वे वक्ता थे, लगभग सभी पुराणों का आरम्भ ही ऋषि—सूत संवाद से हुआ है। गौतम<sup>१</sup>, विष्णु धर्मसूत्र<sup>२</sup> एवं स्वयं कौटिल्य<sup>३</sup> ने सूतों को शूद्र माना है और व्यवस्था दी है कि प्रतिलोम लोग शूद्र हैं, आर्यों द्वारा निन्दित हैं और उपनयन, वेदाध्ययन, अध्यापन आदि जैसे ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के कर्मों से वञ्चित हैं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि पौराणिक सूत और प्रतिलोम सूत दोनों अलग—अलग हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए शौनक जैसे महामुनियों ने इनके जन्म एवं कर्तव्यों का पुराणों में स्पष्ट एवं विस्तृत उल्लेख किया है।<sup>४</sup> पौराणिक सूत अनुलोम (ब्राह्मण पिता और क्षत्रिय माता से उत्पन्न सन्तान) जाति के थे। ये निन्दित, वेद बहिष्कृत ब्राह्मण थे जिनका धार्मिक कृत्यों पर अधिकार था। इसके विपरीत कोचवान् सूत संभवतः प्रतिलोम क्षत्रिय पिता से ब्राह्मणी माता की संतान जाति के थे।

### बौद्ध धर्म और पुराण :

जिस समय बौद्ध राजाओं द्वारा बौद्ध धर्म का प्रचार—प्रसार हो रहा था, समाज विभिन्न वर्गों और वर्णों में विभक्त था, सभी अपने—अपने धर्म एवं संस्कृति को प्रतिपादित करने में एकजुट थे। ऐसे संक्रमण युग में भटकते हुए लोगों को सही राह देने के लिए, वेद की अमरता एवं अनादिता की रक्षा एवं व्यास को महत्त्वशाली बनाने हेतु इनका उदय

<sup>१</sup> गौतम धर्मसूत्र ४/२०

<sup>२</sup> विष्णु धर्मसूत्र १६/३

<sup>३</sup> अर्थशास्त्र, ३/७

<sup>४</sup> वायु० (१/२६—३४ एवं ६२/१३५—१३६, ६२/१४७—१४८); पद्म० (२/२७/६५—८७), ५/१/२९—३२); ब्रह्माण्ड० (२/३६/१५८—१७३); स्कन्द० (प्रभासखण्ड १/८) इत्यादि।

हुआ । बौद्ध-धर्म से सर्वाधिक प्रभावी थे शूद्र लोग। कुमारिल भट्ट का स्पष्ट कथन है कि शूद्र ही बौद्ध-धर्म के विशिष्ट अनुयायी थे।<sup>1</sup> शूद्र लोगों को जब अपने आध्यात्मिक जीवन एवं मुक्ति का उपाय न सूझा तो वे बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुए क्योंकि बुद्ध के जो उपदेश थे वे सभी वर्ण एवं जाति के लोगों के लिए विशेषतः शूद्रों के लिए थे जिनकी सामाजिक स्थिति वैदिक एवं स्मृतिकाल में हीन थी। उन्हें वेद-पाठ वर्जित था, वे यज्ञ नहीं कर सकते थे, केवल तीन उच्च वर्णों की सेवा करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि सर्वत्र बौद्ध-धर्म का बोलबाला हो गया तथा वे सभी इसके प्रति अग्रसर होने लगे। पुराणों में बुद्ध के प्रति उदारभाव प्रदर्शित किया गया है। वायुपुराण के गयातीर्थ-प्रसंग में बोधिवृक्ष और बोधितीर्थ का उल्लेख हुआ है।

### जैन धर्म और पुराण :

पुराणों की रचना से पूर्व ही जैन धर्म भी अपनी त्याग और तपस्या के लिए ख्याति प्राप्त कर समाज में प्रतिष्ठित हो चुका था । वैदिक कर्मकाण्ड से ऊबकर कुछ व्यक्ति उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड से प्रभावित थे जो कालान्तर में जैन धर्म की ओर आकृष्ट हो गए। ज्ञान, वैराग्य, त्याग और कठोर तपस्या— इनके आदर्श थे। तत्कालीन समाज में इनका व्यापक प्रभाव पड़ा । फलतः वैदिक कर्म की एकच्छत्र सत्ता को आघात पहुँचा । पुराणों में कठोर तपस्या के प्रभूत प्रभाव का उल्लेख सम्भवतः जैनधर्म की ही देन है। यहाँ अनेक ऐसे ऋषियों का उल्लेख है जो जैन धर्म के तीर्थकर माने जाते हैं।

---

<sup>1</sup> जै०सू०, १/३/४ पर तन्त्रवार्तिक (द्रष्टव्य : पुराण-विमर्श, पृ० २३६)।



### अन्य धार्मिक मतवाद :

जन—सामान्य में बौद्धों और जैन धर्मों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के लोक देवी—देवताओं और तांत्रिक पंथों का प्रचलन था। ये सभी धर्म और पंथ वैदिक धर्म को चुनौती दे रहे थे। दूसरी ओर, किसी प्रकार का निषेध न होने के कारण, जन—सामान्य के अतीव लोकप्रिय होते जा रहे थे। अनेक मतवादों और वर्णों तथा जातियों में विभक्त समाज में सौमनस्य का पूर्ण अभाव हो चला था। पारस्परिक असहिष्णुता और वैमनस्य न केवल राष्ट्र का अपितु मानव जाति का कलंक बनते जा रहे थे। धर्म या तो धनी व्यक्तियों की पूँजी बन चुका था या फिर उस पर कुछ विशिष्ट अधिकारी व्यक्तियों का ही कब्जा था। समाज में सभी को साथ लेकर चलने वाले नाटकों तथा शास्त्रों का या तो अभाव था, या फिर उन पर परम्परावाद का गाढ़ा प्रभाव था। फलतः ऐसे शास्त्र और धर्माचार्यों की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी जो सभी मतवादों में समन्वय स्थापित कर सकें और धर्म—कर्म से वञ्चित लोगों को धार्मिक अधिकार दिलाकर समाज में सौमनस्य एवं सामंजस्य स्थापित कर सकें। इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु पुराण साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ और सूत जैसे धर्म प्रवक्ता अस्तित्व में आए। यही नहीं बुद्ध को विष्णु के अवतारों में स्थान देकर सम्मानित किया गया तो जैन धर्म की तपस्याओं को मान्यता दी गई। तान्त्रिक पन्थों को भी श्रुतिसम्मत घोषित किया गया। इस प्रकार पुराण साहित्य ने समाज में एक नई क्रांति पैदा कर 'भक्तिभावना' को प्रश्रय देते हुए भारतीय समाज को विखण्डित होने से बचाया है। भारतीय परम्परा के सम्प्रदायविद् को हमेशा सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है अतः पुराणों अथवा पुराणांशों को आधुनिक शब्दावली में सम्प्रदायिक कहना उचित न होगा। पुराणों का साम्प्रदायिक स्वरूप उनका भूषण है, दूषण नहीं। ऐतिहासिक तथ्य है राजवंशावलियों पर आधृत होते हैं, अतः उन्हीं के आधार पर पुराणों के रचनाकाल का निर्धारण उचित है। इस दृष्टि से वायुपुराण का

वर्तमान स्वरूप गुप्त नरेशों के प्रारम्भिक काल का सुनिश्चित हो चुका था। हाँ, वायुपुराण में ही कालान्तर में लोक—प्रवृत्ति के अनुकूल ही परिवर्धन आवश्यक हुआ होगा जिसे आज प्रथक् रूप में पहचानना असम्भव ही है।



“अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।  
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥”

द्वितीय परिच्छेद  
‘वायुपुराण : स्वरूप एवं रचनाकाल’

- विभिन्न पुराणों में वायुपुराण की विषयानुक्रमणिका,
- सामान्य परिचय,
- वर्ण्य—वस्तु,
- वायुपुराण का महापुराणत्व,
- शिव—वायु का साम्य—वैषम्य,
- ब्रह्माण्ड—वायु का साम्य—वैषम्य,
- वायुपुराण एक स्वतंत्र महापुराण,
- प्राचीनता एवं रचनाकाल,
- कतिपय अध्यायों की उत्तरकालीनता के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के विचार ।

## विभिन्न पुराणों में वायु पुराण की विषयानुक्रमणिका

वायुपुराण के अतिरिक्त अन्य कुछ पुराणों में भी वायु पुराण की वर्ण्य-वस्तु की अनुक्रमणिकाएँ दी गई हैं, जिनमें बृहन्नारदीय एवं मत्स्य पुराणों में आगत अनुक्रमणिकाएँ प्रमुख हैं। यहाँ, इन्हीं दो पुराणों में आगत वायु पुराण की अनुक्रमणिकाओं का उल्लेख करेंगे।

### १. बृहन्नारदीयपुराणानुसार वायुपुराण की विषयानुक्रमणी

बृहन्नारदीय पुराणानुसार वायवीयपुराण रुद्र का प्रतिपादक है। यह दो भागों में विभक्त, चौबीस सहस्र श्लोकों में रचित तथा श्वेतकल्प-प्रसंग में वायु द्वारा प्रतिपादित है। इसके पूर्वार्द्ध में सर्गादि मन्वन्तरों के राजवंश, गयासुर-वध, माघ-माहात्म्य, व्रत, दानधर्म, राजधर्म, भूमि पाताल आदि विषयों का वर्णन है। उत्तरार्द्ध में नर्मदा का वर्णन तथा शिव —माहात्म्य का निरूपण है।<sup>१</sup>

<sup>१</sup> ब्रह्मोवाच,

शृणु विप्र प्रवक्ष्यामि पुराण वायवीयकम् ।	यस्मिञ्छुते लभेद्धाम रुद्रस्य परमात्मनः ॥
चतुर्विंशतिसहस्रं तत्पुराणं प्रकीर्तितम् ।	श्वेतकल्पप्रसंगेन मारुत ॥
तद्वायवीयमुदीतं भागद्वयसमन्वितम् ।	सर्गादिलक्षणं यत्र प्रोक्तं विप्रं सविस्तरम् ॥
मन्वन्तरेषु वशाश्च गृह्णा ये तत्र कीर्तिता ।	गयासुरस्य हननं विस्तरादयत्र कीर्तितम् ॥
मासानां चैव माहात्म्यं माघस्योक्तं फलाधिकम् ।	दानधर्मा राजधर्मा विस्तरेणोदितास्तथा ॥
भूपातालककुब्जोमचारिणा यत्र निर्णयः ।	व्रतादीनां च पूर्वोऽयं विभागः समुदाहृतः ॥
उत्तरे तस्य भागे तु नर्मदातीर्थवर्णनम् ।	शिवस्य सहितोक्ता वै विस्तरेण मुनीश्वर ॥
यो देवः सर्वदेवानां दुर्विज्ञेयः सनातनः ।	स तु सर्वात्मानां यस्यास्तीरे तिष्ठति सततम् ॥
इदं ब्रह्मा हरिरिदं साक्षाच्चेदं परं हरः ।	इदं ब्रह्म निराकारं कैवल्यं नर्मदाजलम् ॥
ध्रुवं लोकहितार्थाय शिवेन स्वशरीरतः ।	शक्तिं कापि सरिद्रूपां रेवेयमवतारिता ॥
ये वसत्युत्तरे कूले रुद्रस्यानुचरा हि ते ।	वसति याम्यतीरे ये लोकं ते याति वैष्णवम् ॥
ओकारेश्वरमारभ्य यावत्पश्चिमसागरः ।	सगमा पञ्च च त्रिशन्नदीनां पापनाशनी ॥
दशैकमुत्तरे तीरे त्रयोविंशतिर्दक्षिणे ।	पञ्चत्रिंशत्तमः प्रोक्तो रेवासागरसगमः ॥
सगमैः सहितान्येव रेवातीरद्वयेऽपि च ।	चतुःशतानि तीर्थानि प्रसिद्धानि च सन्ति हि ॥
षष्टितीर्थसहस्राणि षष्टिकोटयो मुनीश्वर ।	सन्ति चान्यानि रेवायास्तीरयुग्मे पदे पदे ॥
सहितेयं महापुण्या शिवस्य परमात्मनः ।	नर्मदाचरितं यत्र वायुना परिकीर्तितम् ॥
लिखित्वेदं पुराणं तु गुह्येन समन्वितम् ।	श्रावण्या यो ददेद्भक्त्या ब्राह्मणाय कुटुम्बिने ॥
रुद्रलोके वसेत्सोऽपि यावश्चतुर्दश ।	यः श्रावयेद्वा शृणुयाद्वायवीयमिदं नरः ॥
नियमेन हविष्याशी स रुद्रो नात्र सशयः ।	यश्चानुक्रमणीमेतां शृणोति श्रावयेत्तथा ॥
सोऽपि सर्वपुराणस्य फलं श्रवणजं लभेत् ॥	

इति श्रीबृहन्नारदीयपुराणे पूर्वभागे बृहदुपाख्याने चतुर्थपादे वायुपुराणानुक्रमणीनिरूपणं नाम पञ्चनवतितमोऽध्यायः ॥  
 बृहन्नारदीय० १५/१-१९, पृ०सं० ८७०-८७२

## २. मत्स्यपुराणगत वायुपुराण का विषय—विवेचन :

मत्स्यपुराण में इसकी विषय—सूची बहुत ही संक्षिप्त मिलती है जिसके अनुसार वायवीय पुराण में वायु ने श्वेतकल्प के प्रसंग में रुद्र—माहात्म्य सहित धर्ममय उपदेशों को चौबीस हजार श्लोकों में प्रतिपादित किया है ।<sup>१</sup>

### वायुपुराण : एक सामान्य परिचय :

वायुपुराण उपलब्ध पुराणों में प्राचीनतम, अत्यन्त प्रामाणिक एवं सर्वलक्षणसम्पन्न पुराण है। यह हमारे भारतीय जीवन और सभ्यता के क्रमिक विकास का परिचायक है। इसमें वैदिककाल से लेकर बौद्धकाल—पर्यन्त भारतीय सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक उत्कर्ष का अभिमान एवं गौरव समाहित है। यह अपने अन्दर अन्य पुराणों की अपेक्षा कतिपय अनूठी विशेषताएँ संजोए हुए है।

इसके परिमाण के विषय में विद्वानों के संशयात्मक विचार देखने को मिलते हैं। उपलब्ध संस्करणों में इसके अध्याय एवं श्लोकों की संख्या भिन्न—भिन्न दृष्टिगोचर होती है। कुछ संस्करणों में इसके ११२ अध्याय हैं तो कुछ में १११ ही।<sup>२</sup> इसी प्रकार की समस्या इसकी श्लोक संख्या में भी देखने को मिलती है। विभिन्न पुराणों द्वारा उद्धृत पुराण—सूची में भी इसके श्लोकों की संख्या कहीं २४०००,<sup>३</sup> कहीं १४०००<sup>४</sup> तो कहीं

<sup>१</sup> श्वेतकल्पप्रसङ्गेन धर्मान्वायुरिहाब्रवीत् ।  
यत्र तद्वायवीयं स्याद्रुद्रमाहात्म्यसंयुतम् ॥  
चतुर्विंशत्सहस्राणि पुराणं तदिहोच्यते ।  
श्रावण्यां श्रावणे मासि गुह्येनोसमन्वितम् ।  
यो दद्याद्वृषसंयुक्तं ब्राह्मणाय कुटुम्बिने ॥  
शिवलोके स पूतात्मा कल्पमेकं वसेन्नरः ।

मत्स्य० ५३/१८—१९; पृ० सं० २८१

<sup>२</sup> आनन्दाश्रम संस्करण तथा हिन्दी—साहित्य सम्मेलन, प्रयाग संस्करण एवं नवभारत प्रकाशन (बंगला) में इसके ११२ अध्याय हैं, और नाग प्रकाशन, कलकत्ता संस्करण, Ancient Indian Tradition and Mythology (Vāyu-Purana) में इसके १११ अध्याय हैं (दो खण्ड : पूर्वार्द्ध १—६१ एवं उत्तरार्द्ध १—५०)।

<sup>३</sup> मत्स्य० ५३/१८, बृहन्नारदीय० ९५/२, देवी भाग० १/३/७ आदि ।

<sup>४</sup> अग्नि० २७२/४—५; Puranic Encyclopedia, p. 618

१२००<sup>१</sup> दी गयी है। एक ऐसा भी स्थल उपलब्ध है जहाँ इसके श्लोकों की संख्या २३००० कही गयी है।<sup>२</sup> हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित प्रति के अनुसार इसमें ११२ अध्याय हैं तथा श्लोकों की संख्या लगभग ११,००० है। इसमें चार खण्ड या पाद हैं—

(क) प्रक्रियापाद १—६ अध्याय तक ।

(ख) अनुषङ्गपाद ७—६४ अध्याय तक ।

(ग) उपोद्घातपाद ६५—९९ अध्याय तक ।

(घ) उपसंहारपाद १००—११२ अध्याय तक।

यही चारों पाद कुछ संस्करणों में पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध—दो खण्डों के अन्तर्गत दिये गये हैं। वायुपुराण के उपलब्ध संस्करणों में एक संस्करण ऐसा भी है जिसमें विषय—विभाजन सम्बन्धी भिन्नता दिखाई देती है। अधिकतर प्रतियों में इनका विषय—गठन पाद—क्रमानुसार ही किया गया है। परन्तु हस्तलेखों की समीक्षा बतलाती है कि प्राचीनकाल में कभी इसके दो खण्ड थे—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध । अङ्गार से उपलब्ध एक हस्तलेख में यही विभाजन है।<sup>३</sup> उपलब्ध पुराण की अनुक्रमणी में भी यही विभाजन निर्दिष्ट है। इसका प्रारम्भ में 'नारायणं नमस्कृत्य' से हुआ है।<sup>४</sup> इसके अनन्तर व्यास—स्तुति<sup>५</sup> है जो सर्वत्र उपलब्ध नहीं है। तृतीय

<sup>१</sup> राजेन्द्र लाल मित्र द्वारा सम्पादित बंगाल एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित (१८८०); आनन्दाश्रम पुण्यपत्तन (१९०५); कलकत्ता स्थित गुरुमण्डल ग्रन्थमाला (१८८०—८९); क्षेमराजश्रीकृष्णदास द्वारा श्री वेकटेश्वर मुद्रणालय द्वारा प्रकाशित संस्करण (नाग पब्लिशर्स, भूमिका भाग, पृ० ६), किन्तु एक ऐसा श्लोक है जो इसकी श्लोक संख्या १२००० निश्चित करता है :

एव द्वादशसाहस्र पुराण कवयो विदुः ॥

यथा वेदश्चतुष्पादश्चतुष्पादं तथा युगम् ।

यथा युग चतुष्पाद विधात्रा विहित स्वयम् ॥ वायु० (हिन्दी साहित्य सम्मेलन) ३२/६६—६७, पृ० २५२

चतुष्पाद पुराण तु ब्रह्मणा विहित पुरा ॥

<sup>२</sup> तत्रैव, १०४/१—११ में उद्धृत पुराण—सूची में इसके श्लोकों की संख्या २३००० दी गई है।

<sup>३</sup> हस्तलेख की पुष्पिका—इति श्रीमहापुराणोवायुप्रोक्ते द्वादशसाहस्रया सहिताया ब्रह्माण्डावर्त समाप्तम्। समाप्त वायुपुराण पूर्वार्धम्। अतः परं रेवामाहात्म्य भविष्यति ॥ द्रष्टव्य : पुराण—विमर्श, पृ० १००

<sup>४</sup> नारायण नमस्कृत्य नर चैव नरोत्तमम्।

देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥ वायु० १/१

<sup>५</sup> जयति पराशरसुनुः सत्यवतीहृदयनन्दनो व्यासः ।

यस्याऽऽस्यकमलगलितं वाङ्मयममृतं जगत्पिबति ॥ तत्रैव, १/२

श्लोक में शिव की स्तुति है।<sup>१</sup> इस पुराण का प्रवचन कुरुक्षेत्र में हुआ। साथ ही इसके द्वितीय अध्याय में यह भी कथित है कि इसका अति प्राचीन प्रवचन मन्वन्तर के आदि में अन्य पुराणों की भाँति नैमिषारण्य में ही हुआ था। इसका नामकरण 'वायु' देवता के आधार पर किया गया है क्योंकि जिस समय नैमिषारण्य में देवता और ऋषि सत्र कर रहे थे उस समय पुराण—प्रवक्ता के रूप में वायुदेवता प्रार्थित हुए और उन्होंने पुनः इस पुराण का प्रवचन किया। वास्तव में वायुदेवता नहीं बल्कि 'वातरणि ऋषि' (वायु का देवता रूप में प्रतिपादन करने वाले) इस सत्र में पुराण प्रवक्ता थे। ऋषि को वायु देवता कहे जाने का रहस्य यह है कि जो ऋषि जिस देवता की उपासना में एकान्ततः लीन हो जाते थे, वे अपने को उस देवता का रूप मानने लगते थे। इसलिए वातरणि ऋषि जो कुछ भी कहा करते थे वह वायु का ही कहा माना जाता था। संभवतः इसी कारण इस पुराण को वायुप्रोक्त या वायवीय संहिता भी कहा जाता है।

### वर्ण्य—वस्तु :

इस पुराण में क्या वर्णित है? यह हमें इसके प्रथम अध्याय के अध्ययन से भलीभाँति अवगत हो जाता है क्योंकि सम्पूर्ण पुराणस्थ विषयानुक्रमणी इसी अध्याय में संक्षेप में वर्णित है और आगे के अध्यायों में इसी का विस्तार से वर्णन है। इस अध्याय की महिमा के विषय में यहाँ तक कहा गया है कि , “ जो जितेन्द्रिय इस पाद को भली—भाँति पढ़ लेता है, उसने इस समस्त पुराण को पढ़ लिया इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।”<sup>२</sup>

इसके आरम्भिक अध्यायों में सृष्टि—प्रक्रिया का किञ्चित भेदसहित सांख्य दर्शनानुसार

<sup>१</sup> प्रपद्ये देवमीशानं शाश्वतं ध्रुवमव्ययम् ।

महादेवं महात्मानं सर्वस्य जगतः पतिम् ॥ तत्रैव, १/३

<sup>२</sup> पादमाद्यमिदं सम्यग्योऽधीयीत जितेन्द्रियः ।

तेनाधीतं पुराणं तत्सर्वं नास्त्यत्र संशयः ॥ वायु० १/१९९

निरूपण हुआ है। तदनन्तर वर्णाश्रम—व्यवस्था का वर्णन है। भौगोलिक वर्णन के लिए यह पुराण विशेष रूप से पठनीय है। अध्याय ३४—३९ तक जम्बूद्वीप का विशेष रूप से तथा अन्य द्वीपों का सामान्य रूप से चित्रण हुआ है। ५०—५३ में खगोल का विस्तृत विवेचन है। युग, यज्ञ, ऋषि, व्रत, तीर्थ आदि से सम्बन्धित धर्मशास्त्रीय सामग्री भी यहाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। ६०वें अध्याय में चारों वेदों की शाखाओं का कथन हुआ है जो कि साहित्यिक दृष्टि से विशेष अनुशीलन योग्य है। ६१—६५ में प्रजापति—वंश—वर्णन, ६६—६९ में कश्यपीय प्रजासर्ग, तथा अध्याय ७० में ऋषिवंश—वर्णन ब्राह्मण वंशों के इतिहास के ज्ञानार्थ अत्यधिक उपयोगी है। श्राद्ध—कल्प का निरूपण भी यहाँ अनेक अध्यायों में हुआ है। कल्प का निरूपण इसमें अन्य पुराणों से भिन्न एवं विलक्षण है। यहाँ सृष्टि की एक—एक संख्या को एक—एक कल्प माना गया है। ९९वां अध्याय सबसे बड़ा है और इसमें बहुत—सी प्राचीन कल्पित एवं ऐतिहासिक कथाएँ नियोजित हैं। ८६ एवं ८७ में पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों के आधार पर गीतालंकारों का विशद वर्णन है। १०४वाँ अध्याय कुछ संस्करणों में उपलब्ध है। 'गया—माहात्म्य' सम्बन्धी अन्तिम आठ अध्यायों को कुछ ने प्रक्षिप्त माना है। वास्तव में साम्प्रदायिक सन्तुलन के लिए इसमें विष्णु सम्बन्धी गया—माहात्म्य जोड़ा गया प्रतीत होता है क्योंकि इसमें अनेकत्र शिव—पूजा, शिव—स्तुति, शिव—माहात्म्य का उल्लेख है। एक स्थल पर तो सम्पूर्ण पुराण को 'महेश्वर' ही कहा गया है।<sup>१</sup> अतएव कहीं यह साम्प्रदायिकता का शिकार न हो जाय इसलिए इसमें अन्य देवी—देवताओं का भी रूप—गुणकथन हुआ है। इसमें एक ओर विष्णु के अवतारों का उल्लेख है तो दूसरी ओर पशुपति—पूजा से सम्बद्ध पाशुपत योग की पूरी प्रक्रिया ११—१५ अध्यायों में विस्तार से निरूपित है। इस पुराण में कतिपय

<sup>१</sup> अतश्च संक्षेपमिमं शृणुष्व महेश्वरः सर्वमिदं पुराणम् ।

स सर्गकाले च करोति सर्गं संहारकाले पुनरुददीत ॥ तत्रैव, १/२०५



श्लोक ऐसे भी हैं जो महाभारत, मनुस्मृति, मत्स्यपुराण एवं ब्रह्माण्ड पुराण में समान रूप से पाये जाते हैं।<sup>१</sup>

इसके अतिरिक्त (५०/१८६) यह पुराण पाँच वर्षों के युगों का ज्ञान रखता है। इसमें मेष, तुला, मकर, सिंह आदि राशियों ( ५०/१९६, ८२/४१—४२, ७७/७३) की भी चर्चा है। वास्तव में इस पुराण का मुख्य वर्ण्य विषय वही है जो पुराण की प्राचीन परिभाषाओं तथा श्लोकों में अभीष्ट है किन्तु फिर भी इसके कुछ अध्यायों में स्मार्त विषय वर्णित है; १६.१७ अध्याय में वर्णाश्रम—धर्म, १८ में यतियों के विषय—विधान, ५७—५९ में युग—धर्म, ७३—८३ में अन्त्येष्टि—जन्म और मरण सम्बन्धी अशौच एवं उनकी शुद्धिकरण , १०१ में कर्म और उनका फल तथा नरकों का वर्णन १०५ से ११२ अध्यायों में गया—माहात्म्य।<sup>२</sup>

इस प्रकार सम्पूर्ण पुराण में क्रमशः ब्रह्माण्ड—रचना, सृष्टि—प्रक्रिया , सृष्टि के विविध प्रकार, कल्पभेद, मन्वन्तर—वर्णन, सप्तर्षियों का तथा उनके गोत्रों का वर्णन, दक्ष—सुतों की सृष्टि का विस्तार, पितरों के क्रिया—कलाप, श्राद्ध—कल्प, भविष्यत्कालीन राजाओं का वर्णन, योग—माहात्म्य आदि और अन्तिम अध्यायों में क्रमशः राधा—कृष्णचरित एवं गया—माहात्म्य का निरूपण है। इस ऐतिहासिक पुराण में कुछ अन्य विषयों जैसे आन्ध्रराजाओं की वंशावली, दक्षिण भारत की मूर्तिकला, वास्तुकला, स्थापत्यकला का सुन्दर वर्णन, प्राचीन भरत की

<sup>१</sup> तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिषेदिरे ।

तान्येव ते प्रपद्यन्ते सुज्यमानाः पुनः पुनः ॥

हिंसाहिंसे मृदुकूरे धर्माधर्मे ऋतानृते ।

तद् भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात् तत् तस्य रोचते ॥ वायु० ८/३२—३३ एवं ९/५७—५८

ये श्लोक किञ्चित् पाठ—भेद से अन्यत्र भी उपलब्ध हैं—

(क) महाभारत, शान्तिपर्व, अ० २३२, श्लोक १६—१७

(ख) मनु० १/२९ (केवल 'हिंसाहिंसे' वाला श्लोकार्थ) ।

(ग) ब्रह्माण्ड० १/८/५९—६०

(घ) मार्कण्डेय० ४८/३९—४०

(ङ) कूर्म० १/७/६४—६६ इत्यादि ।

<sup>२</sup> Studies in the Puranic Records on Hindu Rites and Customs (R. C. Hazra) P.No. 15 (The Vayu-Purana).

सामाजिक—व्यवस्था, नारियों की स्थिति, तीर्थों, पर्वों, शैव, वैष्णव, बौद्ध, जैन धर्मों, यज्ञों, वेदांगों भूगोल—खगोल विद्याओं आदि का अच्छा—खासा विवरण उपलब्ध है।

वस्तुतः यह पुराण सभी पुराणों में प्रामाणिक और प्राचीन रचना है तभी तो आचार्यों एवं निबन्धकारों ने प्रमाणरूप में इसको अनेकत्र उद्धृत किया है— शूलपाणि ने 'प्रायश्चित्त—विवेक' में इसके ७८—७९ अध्यायों से, वाचस्पति मिश्र ने 'तीर्थ—चिन्तामणि' में ७७—८२ अध्यायों से, कुल्लूकभट्ट ने मनुस्मृति—टीका में ७८वें अध्याय से, पराशर—स्मृति—भाष्य में ७५ एवं ७६वें अध्यायों से, मदनपाल ने 'मदनपारिजात' में ७८—७९ वें अध्यायों से, चण्डेश्वर ने 'कृत्य—रत्नाकर' में ८१वें अध्याय से, हेमाद्रि ने 'चतुर्वर्ग—चिन्तामणि' में ३०—७१, ७३—७६; ७८—८१; ८३वें अध्यायों से, देवणभट्ट ने 'स्मृति—चिन्तामणि' में ७५ एवं ७८—८० वें अध्यायों से, बल्लालसेन ने 'दानसागर' में ८०वें अध्याय से और अद्भुत सागर में १९वें अध्याय से तथा अपरार्क ने ७४—८२ वें अध्यायों से पर्याप्त श्लोक उद्धृत किये हैं।<sup>१</sup> इसके अतिरिक्त बहुत से ऐसे भी श्लोक हैं जो इन टीकाकारों, निबन्धकारों ने 'श्राद्ध' पर विशेष रूप से उद्धृत किये हैं, किन्तु वे वर्तमान वायुपुराण में उपलब्ध नहीं हैं, जो यह प्रमाणित करते हैं कि इस पुराण का बहुत—सा भाग नष्ट व विलुप्त हो गया है।<sup>२</sup>

यद्यपि समय के साथ —साथ इसमें परिवर्तन एवं परिवर्धन अवश्य हुआ है जिसके कारण इसके बहुत से अंश छिन्न—भिन्न हो गये हैं किन्तु फिर भी वर्तमान उपलब्ध यह पुराण प्राचीन वायुपुराण से विशेष भिन्न नहीं है।

<sup>१</sup> द्रष्टव्य : Studies in the Puranic Records on Hindu Rites and Customs, R. C. Hazra, Appendix I, P. No. 269-273.

<sup>२</sup> तत्रैव. App. II, P.No. 337.

### वायुपुराण का महापुराणत्व

वायुपुराण महापुराण है, अथवा उपपुराण है ? यह विषय शिव और ब्रह्माण्ड पुराणोंके साथ वायु के सम्बन्ध को लेकर उलझा हुआ है। अतः शिव और ब्रह्माण्ड के साथ इसके साम्य और वैषम्य को लेकर ही प्रस्तुत विषय पर भी विचार अपेक्षित है।

#### (क) शिव—पुराण से इसका साम्य—वैषम्य :

विभिन्न पुराणों में तथा अन्य ग्रन्थों में उद्धृत पुराण—तालिका में चतुर्थ स्थान पर कहीं 'शिव' या 'शैव' पुराण है तो कहीं पर 'वायु' या वायवीय पुराण । तब किसे पुराण और किसे उपपुराण माना जाय? यह एक जटिल समस्या हमारे सामने उपस्थित होती है। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का कहना है कि शिव और वायु दोनों एक ही पुराण के दो नाम हैं। इसके विपरीत कुछ का कहना है कि यह दोनों स्वतंत्र महापुराण हैं। विष्णु, पद्म, कूर्म, ब्रह्मवैवर्त, भागवत, मार्कण्डेय, लिंग, वराह, स्कन्द आदि में 'शिव'; और अग्नि, मत्स्य, देवीभागवत, नारद आदि में 'वायु' पुराण का नामोल्लेख है । इसी प्रकार सौर—पुराण (९/५—१२) की सूची में वायु चौथे स्थान पर है। इस प्रकार पुराणों की बहुल संख्या शिव को और अल्पीयसी संख्या 'वायु' को महापुराण मानती है। बहुमत के आधार पर 'शिव पुराण' महापुराण होने का श्रेय प्राप्त करता है। किन्तु प्रामाणिकता का निर्णय केवल बहुमत की कसौटी से करना न्याय—संगत नहीं है। इसके अतिरिक्त अलबरूनी द्वारा उल्लिखित दोनों पुराण—तालिकाओं में से एक में 'वायु' है और दूसरी में 'शिव' । इस कारण यह समस्या और भी गंभीर हो जाती है।

पुराणस्थ कतिपय वचन ऐसे हैं, जिनसे शिवपुराण और वायुपुराण दोनों के एक होने का सन्देह होता है। वायुपुराणीय रेवामाहात्म्य में लिखा है—

पुराणं यन्मयोक्तं हि चतुर्थं वायुसंज्ञितम् ।

चतुर्विंशतिसाहस्रं शिवमाहात्म्यसंयुतम् ॥  
 महिमानं शिवस्याह पूर्वं पाराशरः पुरा ।  
 अपराद्धं तु रेवाया माहात्म्यमतुलं मुने ॥  
 पुराणेषूत्तमं प्राहुः पुराणं वायुनोदितम् ।  
 यस्य श्रवणमात्रेण शिवलोकमवाप्नुयात् ॥  
 यथा शिवस्तथा शैवं पुराणं वायुनोदितम् ।  
 शिवभक्तिसमायोगान्नामद्वयविभूषितम् ॥<sup>१</sup>

इससे शिव—महिमा सूचक होने से शिवपुराण और वायुप्रोक्त होने से वायु या वायवीय—पुराण ये दो नाम स्पष्ट होते हैं । कहा जाता है कि पहले एक लक्ष श्लोक वाला द्वादशसंहितात्मक बृहद् ग्रन्थ था जो साक्षात् शिव द्वारा 'वायु' के प्रति उपदिष्ट हुआ था। कालान्तर में वायु ने ऋषियों के प्रति उनमें से २४००० श्लोक भूलोक पर प्रवचन किये । सम्भवतः इसीकारण इस पुराण के दो नाम विख्यात हुए, जैसाकि अग्रलिखित प्रमाणों से भी स्पष्ट है—

१. तदिदं शैवमाख्यातं पुराणं वेदसम्मतम् ।  
 निर्मितं तच्छिवेनैव प्रथमं ब्रह्मसम्मितम् ॥<sup>२</sup>
२. तदेव लक्षसंख्याकं शैवं संख्याविभेदतः ।  
 व्यासेन तत्तु संक्षिप्तं चतुर्विंशत्सहस्रकम् ॥<sup>३</sup>

शिव—भक्ति के समायोग के कारण ही इसके ये दो नाम विख्यात हुए, रेवा माहात्म्य के निम्नोद्धृत कथन से यह स्पष्ट है—

चतुर्थं वायुना प्रोक्तं वायवीयमिति स्मृतम् ।  
 शिवभक्तिसमायोगात् शैवं तच्चापराख्यया ॥

<sup>१</sup> द्रष्टव्य; अष्टादशपुराण—दर्पण, पृ० १२०

<sup>२</sup> निर्मितं तच्छिवेनैव । (वायुसंहिता ९) द्रष्टव्य; पुराणदिग्दर्शन, पृ० ५८, १८२

<sup>३</sup> पुराणदिग्दर्शन (शिव और वायु), पृ० ५८

चतुर्विंशतिसंख्यातं सहस्राणि तु शौनक ।

चतुर्भिः पर्वभिः प्रोक्तं .....” ॥<sup>१</sup>

स्कन्द-पुराण की भी यही स्पष्ट मान्यता है ।<sup>२</sup> इन वचनों से शिव और वायु के एक होने का बोध होता है, लेकिन वास्तव में ये दोनों पृथक्-पृथक् पुराण हैं। दानसागर ने अपनी भूमिका के श्लोकों (११-१२, पृ० २-३) में वायवीय एवं शैव को अलग ही रखा है। नारदीय-पुराण<sup>३</sup> में वायुपुराण की जो विषयानुक्रमणी दी गयी है वह वर्तमान ‘वायु’ की विषयानुक्रमणी से विशेष भिन्न नहीं है। जबकि शिव-पुराण संहिताओं में विभक्त है और वह सर्वत्र शिव-महिमा, शिव-स्तुति, शैव-धर्म से आच्छादित है। इसके अन्तर्गत उपलब्ध वायवीय-संहिता ( जो कि वायुप्रोक्त है) को कुछ लोगों ने भ्रमवश वायुपुराण का मूल रूप मानकर वायु को शैव या शिव पुराण कह दिया है। लेकिन यह उचित नहीं क्योंकि एक तो केवल ‘वायवीय संहिता’ वायुप्रोक्त है, अतः सम्पूर्ण शिवपुराण को वायुपुराण नहीं माना जा सकता, दूसरा वायवीय संहिता के होने पर भी उससे भिन्न वायुपुराण विद्यमान है, जिसमें ११२ अध्याय, दो भाग, चार पाद, १०९९१ श्लोक हैं। इसकी अपनी पृथक् गरिमा है। यही नहीं, धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों की दृष्टि में भी शिवपुराण की अपेक्षा वायुपुराण अधिक विशिष्ट रहा है क्योंकि उन्होंने अधिकतर इसी के वाक्यांशों को उद्धृत किया है और वह सम्प्रति वायुपुराण में उपलब्ध भी हैं, शिव की वायवीय संहिता में नहीं। इसके अतिरिक्त जिन श्लोकों को शिवपुराण से उद्धृत किया है वह वर्तमान शिवपुराण में ही मिलते हैं ‘वायु’ में नहीं । डॉ० ए०डी० पुसलकर के मतानुसार वायु को ही अठारह पुराणों में रखा जाना चाहिए

<sup>१</sup> अष्टादशपुराणदर्पण (शैव वा वायुपुराण), पृ० १२१

<sup>२</sup> स्कन्द० (रेवाखण्ड), १/३३-३४

<sup>३</sup> बृहन्नारदीय० ९५/१-१९

न कि शिवपुराण को।<sup>१</sup> इससे यह स्पष्ट है कि न केवल पौराणिक परम्परा बल्कि धर्मशास्त्रीय परम्परा में भी वायुपुराण को 'शिव' से स्वतन्त्र एवं महत्त्वपूर्ण माना गया है। संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास (पृ० ४३) नामक ग्रन्थ में तो शिवपुराण को वायुपुराण का अंश कहा गया है।

इसके महापुराणत्व के विषय में शंका का मुख्य कारण इसका शैवात्मक रूप ही है। हाजरा महोदय का स्पष्ट विचार है कि वायुपुराण के विषय में यह आशंका उसके 'शिव' या 'शैव' इस नाम के प्रयोग के कारण उत्पन्न हुई। विष्णु-पुराण में भी इसकी गणना उपपुराण के अन्तर्गत की गयी है। संभवतः इसीलिए नरसिंह वाजपेयी ने 'नित्याचारप्रदीप' (पृ० १९) में इसे उपपुराण माना। किन्तु 'वीरमित्रोदय' में इस शंका का मुख्य कारण कल्पभेद बताया गया है। अर्थात् किसी कल्प में यह महापुराण था और किसी कल्प में इसकी गणना उपपुराणों के अन्तर्गत की गयी।<sup>२</sup> महापुराण-तालिका में भी इसे शैव-सम्प्रदाय के अन्तर्गत माना गया है किन्तु पुराणों का सम्प्रदाय-भेद के आधार पर किया गया वर्गीकरण अपेक्षाकृत अर्वाचीन और भेदभावपूर्ण है।<sup>३</sup>

ज्वाला प्रसाद मिश्र के मतानुसार महाशिवपुराण और वायुपुराण दोनों ही महापुराण हैं। प्रत्येक द्वापर युग में पुराण-विभाग हुआ है। किसी द्वापर में वायु और किसी में शिव को महापुराण माना गया था।<sup>४</sup>

<sup>१</sup> Dr. A.D. Pusalkar ( Vidya Bhawan, Series, Bombay, 1955: Studies in the Epics and Purans of India, p. 31-41.

<sup>२</sup> 'याऽपि विष्णुपुराणे ब्रह्माण्डमादाय वायवीयत्यागेन या च ब्रह्मवैवर्ते वायवीयमुपादाय ब्रह्माण्डपुराणपरित्यागेन अष्टादशं संख्योक्ता सा कल्पभेदेन व्यवस्थापनीया ।'

वीरमित्रोदय, Vol I, परिभाषा-प्रकाश, पृ० १३

<sup>३</sup> Studies in the Puranic Records On Hindu Rites and Customs ,R.C. Hazra, p. 13

<sup>४</sup> अष्टादशपुराणदर्पण, पृ० १३९

(ख) ब्रह्माण्डपुराण से वायुपुराण साम्य—वैषम्य :

कुछ आचार्य शिव और वायु की भाँति वायु और ब्रह्माण्ड को भी एक मानकर इसके मूल अस्तित्व के विषय में संशयात्मक विचार प्रकट करते हैं । उन्होंने इसे एक कहने के पीछे कई कारणों को उद्धृत किया है। उनका कहना है कि शिवपुराण की भाँति ब्रह्माण्ड को भी वायु ने ब्रह्मा से प्राप्त कर ऋषियों के समक्ष इसका प्रवचन किया था। इसलिए प्रतिपाद्य विषय के आधार पर इसका नाम 'ब्रह्माण्ड' तथा वायुप्रोक्त होने से 'वायुपुराण' रखा गया । इस पुराण के वायुप्रोक्त होने का प्रमाण स्वयं ब्रह्माण्ड पुराण में मिलता है।<sup>१</sup> यही नहीं, इस पुराण की अध्याय—समाप्ति—पुष्पिका में 'वायुप्रोक्तसंहितायां' ऐसा उल्लिखित है। राजा राजेन्द्र लाल मित्र द्वारा एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित ब्रह्माण्डपुराण का मूल नाम ही 'वायुपुराण' छपा है। उन्होंने इसके मुखबन्ध में स्पष्टतः लिखा है कि मैंने छः हस्तलिखित पोथियों को मिलाकर इसका प्रकाशन किया है। इन पोथियों में भारत गवर्नमेंट कर्तृक संगृहीत ९७५ नं० पोथी ही इनका आदर्श थी<sup>२</sup> जिसके अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि यह वायुपुराण नहीं प्रत्युत ब्रह्माण्ड—पुराण है क्योंकि वहाँ उल्लिखित अध्याय, श्लोक—संख्या, विषय—सामग्री इसी से साम्य रखती है । यद्यपि सोसाइटी से निकले इस वायुपुराण के पूर्वभाग के चतुर्थाध्यायोक्त श्लोकों से ब्रह्माण्ड—पुराण का ही आभास होता है तथापि वहाँ उक्त 'पुराणं संप्रवक्ष्यामि मारुतं वेदसम्मितम्' से कुछ लोगों को वायु—पुराण होने का संशय होने लगता है। कहीं—कहीं 'मारुतं वेदसम्मितम्' के स्थान पर ' ब्रह्माण्डं वेदसम्मितम्' पाठ भी मिलता है जो इस संशय को दूरकर इसे ब्रह्माण्ड—पुराण के रूप में पूर्णतः प्रतिष्ठित कर देता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन संस्कृत—ग्रन्थों में वायुपुराणोद्धृत जो वचन हम देखते हैं वे भी इसमें नहीं मिलते, ये

<sup>१</sup> पुराणं संप्रवक्ष्यामि यदुक्तं मातरिश्वना ॥" ब्रह्माण्ड०, १/१/२६

<sup>२</sup> द्रष्टव्य :अष्टादशपुराणदर्पण, पृ० ४११

सब तथ्य इसे ब्रह्माण्ड—पुराण मानने में अपनी सम्मति प्रकट करते हैं।<sup>१</sup>

कूर्मपुराणोक्त पुराण —तालिका में भी ब्रह्माण्ड के स्थान पर 'वायवीय—ब्रह्माण्ड—उद्धृत है।<sup>२</sup> इतना ही नहीं, वर्ण्य—सामग्री दोनों में पर्याप्त साम्य रखती है। तब यह निश्चित करना दुष्कर—सा हो जाता है कि मूल वायुप्रोक्त पुराण कौन सा है? इन्हीं समानताओं के आधार पर पार्जिटर महोदय ने यह निर्दिष्ट किया है कि ये दोनों पहले एक ही पुराण थे और कालान्तर में वायु से प्रभिन्न होकर एक नवीन पुराण प्रकाश में आया जो 'ब्रह्माण्ड' के नाम से विख्यात हुआ। अपने इस विचार की सम्पुष्टि में इन्होंने उत्तरकालीन निबन्ध—ग्रन्थों में उल्लिखित वायुपुराण के उन श्लोकों को उद्धृत किया है जो वर्तमान वायु० में न मिलकर ब्रह्माण्ड में मिलते हैं।<sup>३</sup> हाजरा महोदय ने भी इस सम्बन्ध में अपनी सम्मति प्रकट करते हुए कुछ ऐसे ही श्लोकों का प्रमाण दिया है जो कि निबन्धकारों—बल्लालसेन, देवभट्ट, हेमाद्रि, आदि द्वारा वायु अथवा वायवीय नाम से उद्धृत किये गये हैं पर सम्प्रति वे उसमें न मिलकर ब्रह्माण्ड में मिलते हैं।<sup>४</sup> इससे हाजरा इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रारम्भ में उपलब्ध वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराण का समाहार एक ही मूल पुराण में था।<sup>५</sup> श्री एफ० जी० पार्जिटर ने यह सिद्ध किया है कि भविष्यपुराण शुद्ध और मूलरूप में मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड आदि पुराणों का आदिश्रोत था।<sup>६</sup> संभवतः इसी कारण इन तीनों में वर्ण्य—विषय की दृष्टि से एकरूपता के दर्शन होते हैं। विण्टरनिट्स ने इस सम्बन्ध में कूर्मपुराणोक्त 'वायवीय—ब्रह्माण्ड' को प्रमाण देते हुए

<sup>१</sup> द्रष्टव्य : अष्टादशपुराणदर्पण (ब्रह्माण्ड—पुराण) पृ० ४०९—४१३

<sup>२</sup> कौर्म मात्स्यं गारुडञ्च वायवीयमनन्तरम् ।

अष्टादशं समुद्रिष्टं ब्रह्माण्डमिति संज्ञितम् ॥ कूर्म०, १/१/१३—१५

<sup>३</sup> Pargiter, Ancient Indian Historical Tradition, P. 23 & 77

<sup>४</sup> Hazra, cf. Appl II, p. 337

<sup>५</sup> तत्रैव, Cf. P. 18

<sup>६</sup> (डायनेस्टीज आव दी कलि एज—कलियुग राजवृत्तान्त, क्लैरैडन प्रेस, लंदन, १९२३ द्रष्टव्य : पुराण विषयानुक्रमणिका द्वारा उद्धृत)।



ब्रह्माण्डपुराण का अपने मूलरूप में वायुपुराण का प्रतिसंस्करणमात्र कहा है।<sup>१</sup> दोनों पुराणों में वर्णित ऐतिहासिक वर्णन के आधार पर हाजरा महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कदाचित् ४०० ई० से पहले ये दोनों पृथक्—पृथक् स्वतंत्र पुराण नहीं थे। संभवतः इसके बाद ये अलग—अलग हुए होंगे।<sup>२</sup> ब्रह्माण्डपुराण में न केवल कलि—साम्राज्य—सम्बन्धी वायु के अंश का विस्तार हुआ है बल्कि यह वर्तमान वायु के पाठ से बहुत अधिक साम्य भी रखता है जिसके कारण इन दोनों को पृथक् करना कठिन हो जाता है।<sup>३</sup> लेकिन इन समानताओं के रहने पर भी इनमें कतिपय विषमताएँ हैं जो इन्हें एक दूसरे से पृथक् करती हैं। मुख्यतः सम्प्रदाय—भेद के आधार पर इन्हें हम पृथक् कर सकते हैं। जैसे वायुपुराण में शैव—धर्म का प्राधान्य है जबकि ब्रह्माण्ड में वैष्णव—धर्म की प्रमुखता दिये जाने का संकेत प्राप्त होता है। इसकी पुष्टि में यह भी कहा जा सकता है कि चूँकि इस पुराण में ब्रह्माण्ड की चर्चा है और परवर्ती युग में हिरण्यगर्भ को वैष्णव धर्म में प्रमुखता स्थान दिया गया है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड —पुराण वैष्णव धर्म को प्रमुखता प्रदान करता है। तब, ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं? इसके अतिरिक्त इनमें और भी अनेक भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं, जिनके आधार पर इन दोनों पुराणों को किसी—भी प्रकार एक नहीं माना जा सकता। दोनों का वर्ण्य—विषय विशिष्ट देवता भिन्न हैं, अर्थात् वायु में शिव और ब्रह्माण्ड में पद्मनाभ विष्णु के प्रति विशेष झुकाव है; यथा वायु के प्रथम अध्याय में ईशान को नमस्कार वर्णित है, जबकि ब्रह्माण्ड में 'हरि'—विष्णु का।<sup>४</sup> वायु के संकलनकर्ता इस ग्रन्थ का सम्बन्ध महेश्वर से स्थापित करते हैं,

<sup>१</sup> A History of Indian Literature, M. Winternitz, Vol. I, Calcutta University, 1927, p. 578.

<sup>२</sup> Hazra, Cf, p. 18.

<sup>३</sup> किर्कल (पुराण पञ्चलक्ष ० १) का कथन है कि ब्रह्माण्ड एवं वायु मौलिक रूप से एक ही पुराण थे, विशेषतः इसलिए कि दोनों के अधिकांश विषय एक दूसरे से मिलते हैं। —द्रष्टव्य, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग—४, पृ० ३९६

<sup>४</sup> (क) वायु० १/३

(ख) ब्रह्माण्ड० १/१/१/२

जबकि ब्रह्माण्ड में तत्सम्बन्धी देवता नारायण बताये गये हैं।<sup>१</sup> वायु में सभी लोकों के यजन—विधि के विषय महायोगी महेश्वर वर्णित हैं जबकि ब्रह्माण्ड में महायोगी जनार्दन का उल्लेख है।<sup>२</sup> कुछ स्थल ऐसे भी हैं जहाँ वायु का प्राथमिक असाम्प्रदायिक स्वरूप अप्रतिहत और सुरक्षित है पर ब्रह्माण्ड में संकलनकर्ता की धर्मपरक प्रवृत्ति व्यक्त हुई है, जैसे—वायु में वराह की गति की उपमा सिंह की गति से दी गई है जबकि ब्रह्माण्ड में सिंह के स्थान पर 'विष्णु' शब्द उपलब्ध है।<sup>३</sup> इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भले ही प्रारम्भ में ये दोनों एक पुराण रहे हों किन्तु आज ये दोनों स्वतंत्र पुराण हैं और वायुप्रोक्त पुराण के नाम से केवल वायुपुराण की ही ख्याति है।

विभिन्न पुराणों के साम्य—वैषम्य विषयक मतभेद के लिए एक सरल उपाय देते हुए मिश्र जी ने लिखा है कि— जहाँ कहीं पुराणों में विरोध प्रतीत हो या जहाँ कहीं कथाओं में भेद दीखे या एक पुराण दो भाँति के विदित हों तो उसका यह उत्तर है कि भिन्न—भिन्न व्यासों द्वारा प्रत्येक द्वापर युग में पुराण संकलित हुए हैं इससे कथाओं में कहीं—कहीं भेद पड़ गया है और कोई पुराण पहले द्वापर युग का भी रह गया है। इससे सूची में भेद है।<sup>४</sup> किन्तु आज के वैज्ञानिक युग में इस प्रकार के तर्कों को आधार बनाकर कोई निर्णय नहीं दिया जा सकता। हाँ, परम्परा का एकदम अपलाप भी नहीं किया जा सकता । अतः परम्परा और इतिहास—सम्मत तर्क दोनों में सामंजस्य स्थापित कर ही कोई निर्णय निकालना उचित है। अतः मिश्र का जी मत भले ही परम्पराश्रित ज्ञान पर आधृत है, पर उसे मान्यता नहीं दी जा सकती।

<sup>१</sup> (क) महेश्वरः सर्वमिदं पुराणम् । वायु० १/२०५

(ख) नारायणः सर्वमिदं पुराणम् ॥ ब्रह्माण्ड० १/१/१/१७४

<sup>२</sup> (क) अनेकधा विभक्ताङ्गो महायोगी महेश्वरः ॥

सर्वलोकेषु लोकेश इज्यते बहुधा प्रभुः ॥ वायु० ४९/१७९

(ख) अनेकधा विभक्ताङ्गो महायोगी जनार्दनः । ब्रह्माण्ड० १/२/१९/१८०

<sup>३</sup> (क) पीनवृत्तायतस्कन्धं सिंहविक्रान्तगामिनम् । वायु० १/१३

(ख) पीनवृत्तायतस्कन्धं विष्णुविक्रमगामि च । तत्रैव, १/१/५/१४

<sup>४</sup> अष्टादशपुराणदर्पण, ज्वालाप्रसाद मिश्र, पृ० ४१९

### वायुपुराण : एक स्वतंत्र महापुराण :

वायुपुराण के प्रतिपाद्य विषय को अन्त तक देखे जाने पर, राज्य वंशों के विस्तृत विवरण एवं सृष्टि तथा प्रलय के बुद्धि—संगत विवेचन का गहनता से अध्ययन करने पर हमें उन लोगों के कथनों पर आश्चर्य होता है जो इस पुराण की गणना अष्टादश पुराणों के अन्तर्गत न करके 'शिव' या ब्रह्माण्ड' का एक अंश—मात्र समझते हैं। जहाँ अधिकांश पुराणों के कलेवर का एक बड़ा भाग साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से लिखी गयी कथाओं अथवा तीर्थ, व्रत, दान आदि के विधानों से भरा पड़ा है, वहाँ वायुपुराण में इन सबको कम—से कम स्थान देकर केवल उन बातों का ही दिग्दर्शन कराया गया है जो वास्तव में पुराणस्थ वर्ण्य—विषय बताये गये हैं। पौराणिक पञ्चलक्षणों का उचित सन्निवेश लघुकाय होने पर भी वायुपुराण का एक आकर्षक वैशिष्ट्य है। सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित ये पाँचों विषय इसमें कम या अधिक मात्रा में उपलब्ध हैं। अन्य पुराणों की अपेक्षा इसमें इनका समन्वयात्मक रूप देखा जा सकता है। इसके प्रत्येक संस्करण के प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में 'इति श्रीमहापुराणे वायुप्रोक्ते' उपलब्ध है। नारद, देवीभागवत, अग्नि, आदि में यह महापुराण —सूची में उक्त है। इन सबसे इसका महापुराणत्व प्रसिद्ध है। वायु पुराण बंगलानुवाद (भूमिका) में इसे सुललित महापुराण कहा गया है। मिश्र जी का स्पष्ट मत है कि 'सब पुराणों में यही प्राचीन और मूल पुराणों के सब लक्षणयुक्त है।'<sup>१</sup> डा० ए० डी० पुसलकर की धारणा है कि वायुपुराण को ही अठारह पुराणों में रखा जाना चाहिए न कि शिवपुराण को।<sup>२</sup> निस्सन्देह

<sup>१</sup> अष्टादशपुराणदर्पण, मिश्र, ज्वालाप्रसाद, पृ० १७

<sup>२</sup> डा० ए० डी० पुसलकर ( विद्या भवन सीरीज ,बम्बई , १९५५ ) द्वारा लिखित " Studies In Epics & Puranas of India " ( अध्याय २ ,पृ० ३१.-४१ ) । मत्स्य ० ( ५३/१८-१९ ) में वही वर्णित है जो वायुपुराण में लिखित है। (द्रष्टव्य , धर्मशास्त्र का इतिहास , चतुर्थ भाग , पृ० ३८१)

वायुपुराण महापुराण है तथा समय समय पर प्रभूत वृद्धियों के बाद भी इसकी गणना विद्यमान प्राचीन पुराणों में होती रही है।

वायुपुराण के कलेवर पर दृष्टि डालते हुए पं० श्रीरामशर्मा, 'आचार्य' ने लिखा है कि— "...यद्यपि सभी पुराणों में अलंकार—रूपक, उपमा, दृष्टान्त आदि की लेखन—शैली पूर्ण मात्रा में अपनाई गई है, जिससे कथा के रूप में अपढ़ जनता को आकर्षित करके धर्म तत्त्वों की शिक्षा दी जा सके, तो भी इस दृष्टि से विभिन्न पुराणों के स्तर में बहुत अन्तर दिखाई पड़ता है। अन्य पुराणों ने जहाँ लोगों की रुचि और आकर्षण पर ही अधिक ध्यान दिया है वहीं 'वायुपुराण' में तथ्यों को प्रकट करने और प्राचीनता की एक प्रभावशाली झलक पाठकों को दिखाने की चेष्टा की गई है। इसमें विभिन्न राजवंशों की वंशावलियों का जितने विस्तार के साथ वर्णन किया गया है वह इतिहास की दृष्टि से बहुत कुछ महत्त्व रखता है और अनेक इतिहास लेखकों ने उसके आधार पर प्राचीन ऐतिहासिक युगों का निर्णय करने में पर्याप्त सफलता हासिल की है। इसी प्रकार लोक, परलोक, स्वर्ग, नरक, भुवन आदि का वर्णन इसमें कथा और रूपकों की बजाय विवेचनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है जिससे इस पुराण की गम्भीरता और प्रामाणिकता की वृद्धि हुई है।"<sup>1</sup>

समग्रतः वायुपुराण, पौराणिक पञ्चलक्षण की सम्पत्ति में, रचना की प्राचीनता में तथा शैली की विशुद्धता में पौराणिक वाङ्मय में अपना अद्वितीय स्थान रखता है।

### प्राचीनता एवं रचना काल

वायुपुराण निश्चितरूपेण प्राचीन, तांत्रिक प्रभाव से विरहित तथा साम्प्रदायिक संकीर्णता से नितान्त विवर्जित पुराण है।<sup>2</sup> प्रतिपाद्य विषयों की प्राचीनता की दृष्टि से तथा अन्य

<sup>1</sup> वायुपुराण (द्वितीय खण्ड) भूमिका भाग, संस्कृति संस्थान, ख्वाज़ा कुतुब, बरेली ।

<sup>2</sup> पुराण—विमर्श, पृ० १०१

परम्परा—निबद्ध प्रमाणों के आधार पर दीक्षितार, पाटिल, हाजरा, पार्जितर, विन्टरनिट्स, पुसाल्कर आदि विद्वानों ने इसको सर्वप्राचीन पुराण—रचना माना है, क्योंकि इसमें पञ्चलक्षणों का कम या अधिक रूप में पालन हुआ है, इसका विभाजन पुराण—विभाजन की प्राचीनतम शैली पर ही आधारित है, प्राचीन पुराण के रूप में इसका अनेकत्र उल्लेख हुआ है, राजाओं और ऋषियों के विषय में प्राचीन अनुवंश्य श्लोक एवं गाथाएँ यहाँ पद—पद पर परिलक्षित होती हैं। ये सब तथ्य इसकी प्राचीनता को सिद्ध करते हैं। यह तथ्य न केवल इसके आन्तरिक प्रमाणों से अपितु महाभारत, हरिवंश, कादम्बरी, हर्षचरित आदि बाह्य प्रमाणों से भी पुष्ट होता है। यद्यपि इसका वर्तमान रूप प्राचीन मूल रूप से भिन्न है। क्योंकि विभिन्न प्रक्षिप्तांशों के मिश्रण के कारण इसका मौलिक अथवा शुद्ध रूप विकृत हो गया है, तथापि इसकी प्राचीनता सर्वविदित है। इसकी प्राचीनता एवं रचनाकाल को प्रमाणित करने वाले कतिपय प्रमाण इस प्रकार हैं—

१. आपस्तम्बधर्मसूत्र : (ई०पू० पञ्चम—षष्ठ शतक) निश्चितरूपेण पुराणों से परिचित था क्योंकि इसके १/१९/१३,१४ सूत्रों में किसी पुराण के दो श्लोक उद्धृत हैं। इसके अतिरिक्त २/९/२३/४,५ में किसी पुराण के दो अन्य श्लोक उपलब्ध हैं जो कि वायुपुराण ५०/२१३,२१५,२१८,२२० एवं ६९/९९—१०१,१२२,१२३ से बहुत अधिक समता रखते हैं। हो सकता है ये श्लोक मूल वायुपुराण से लिये गये हों। इसी सूत्र के २/९/२४/६ में भविष्यपुराण<sup>१</sup> का वचन उद्धृत किया है यह भी वायुपुराण के ८/२४ में मिलता है<sup>२</sup> इससे यह स्पष्ट है कि या तो सूत्रकार ने ये वचन वायुपुराण से

<sup>१</sup> प्रवर्तन्ति पुनः सर्गे बीजार्थं ता भवन्ति हि ॥

वायु० ८/२४

<sup>२</sup> पुनः सर्गे बीजार्थं भवन्तीति भविष्यपुराणे । आप० ध०सू० २/९/२४/६

लिये थे या इन दोनों ने ही किसी पुरातन पुराण से ग्रहण किये, जो भी हो इस काल में वायु का अस्तित्व था।

२. पाणिनिकाल से पूर्व कभी काश्यपीय पुराण—संहिता भी थी जिसका स्पष्ट संकेत चान्द्रव्याकरण ३/३/७१ तथा भोजराजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण ४/३/२२९ की नारायण दण्डनाथ विरचित टीका में मिलता है। वायुपुराण में भी इसका उल्लेख मिलता है कि कृष्णद्वैपायन व्यास ने एक पुराण—संहिता की रचना की थी जिसे उन्होंने अपने छः शिष्यों को पढ़ाया, इनमें से एक अकृतव्रण काश्यप था, उसी की संहिता काश्यपीय संहिता थी।<sup>१</sup>

३. महाभारत का यह स्पष्ट निर्देश है कि इसमें कथा विस्तार वायुप्रोक्त, ऋषि—मुनियों द्वारा संस्तुत तथा अतीत व अनागत चरित्रों से ओतप्रोत पुराण का आश्रयण लेकर किया गया है।<sup>२</sup> संभवतः वायुपुराण इसी काल में सुनाया गया था, क्योंकि यहाँ लोमहर्षण ने व्यास को भृगुवाक्यों के प्रवर्तक तथा महाभारतकार कहा है।<sup>३</sup> महाभारत में भृगुओं का बहुत अधिक वर्णन है। भगवद्दत्त वेदालंकार के अनुसार, “महाभारत के बनने से पूर्व भी कोई पुराण मौजूद था।” उस पुराण से महाभारत के पूर्वकाल की कई वंशावलियाँ महाभारत में ली गई हैं। वायु का अन्तिम संकलन जो साम्प्रदायिक प्रक्षेपों से रहित था, भारतयुद्ध से २९० वर्ष पश्चात् पौरव अधिसीम कृष्ण के राज्यकाल में हुआ। इसके संकलन से पूर्व की मूल सामग्री भारतयुद्ध से बहुत पुरानी थी। महाभारतोत्तरकाल की

<sup>१</sup> .....लोमहर्षणिका मूलास्ततः काश्यपिकाः परः । वायु० ६१/६०

<sup>२</sup> एतत् ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं तथा।

वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषिसंस्तुतम् ॥ वनपर्व, १९१/१६

इस श्लोक की विस्तृत समीक्षा के लिए द्रष्टव्य : पुराण—विमर्श, पृ० २०, १०३

<sup>३</sup> (क) पुरुषाय पुरणाय भृगुवाक्यप्रवर्तिने ॥ वायु० १/४२

(ख) प्रवृत्तं जनितो लोके महाभारतचन्द्रमाः । तत्रैव, १/४५,

<sup>४</sup> आदिपर्व ५९/३७ तथा ५०, वायु० १/३१/३२ (द्रष्टव्यः भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भगवद्दत्त वेदालंकार, पृ० २०, १०३)

ऐतिहासिक सामग्री जितनी पुराणों में सुरक्षित है, उतनी अन्य किसी ग्रन्थ में सुरक्षित नहीं रही। इसमें मगध, कोशल, हस्तिनापुर के राजवंशों के अतिरिक्त अन्य राजवंशों का भी इतिहास है।<sup>१</sup> महाभारत दक्षिणात्य पाठ में पुराणविदों की दाशरथि राम विषयक कतिपय गाथाएँ उद्धृत हैं। ये सब गाथाएँ वायुपुराण में हैं।<sup>२</sup> ये सब उद्धरण इसे महाभारत से पूर्व का निश्चित करते हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट करे हैं कि इसमें प्राचीन पुराण—सामग्री सुरक्षित है।

४. हरिवंश पुराण में वायुपुराण का उल्लेख एक प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में हुआ है।<sup>३</sup> इसी के आधार पर पाटिल, दीक्षितार, हॉकिंस, हाजरा, सुक्थङ्कर आदि ने महाभारत—हरिवंश—पुराण से पूर्व इसकी प्राचीनता निश्चित की है।<sup>४</sup>

५. मनुस्मृति में भी वायुप्रोक्त गाथाओं का उल्लेख मिलता है कि 'अत्र गाथा वायुगीताः'।<sup>५</sup> निःसन्देह इससे यह स्पष्ट है कि भृगु—संहिता वालों को वायुगीत गाथाएँ ज्ञात थीं।

<sup>१</sup> द्रष्टव्य, ( भारतवर्ष का बृहद् इतिहास) तत्रैव, पृ० १०४

<sup>२</sup> वायु० ८८/१९१-१९७

<sup>३</sup> एते महर्षयस्तात वायुप्रोक्ता महाव्रताः । हरिवंश० १/७/१३

वायुप्रोक्ता महाराज पञ्चमं तदनन्तरम् । तत्रैव, १/७/२५

<sup>४</sup> D.R. Patil : Cul. His. From the Vayu P. 2,4 (Introduction), The Vayu is perhaps the only Purana the existence of which is expressly indicated in the Mbh. and its supplement the Harivamsa. We can not do better than quote the remarks of V.S. Sukthankar, on this point : The reference in our Purana to Vayu in 'वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य' (3.189.14) is worth in this connection. The Mbh draws upon a Purana of Vayu on indeed the topic narrated belongs to a Purana in its sight, a Purana which is older than the extant Puranas which must be presumed to have been lost.

V.R.R. Dikhitar : Some Aspects of the Vayu Purana, p. 47.

R.C. Hazra : Pur. Rec. p. 13 : the Vayu is perhaps the oldest of the extant Puranas.....the Harivansa (1/7/13,25) refers to Vayu as an authority.

Hopkins : 'The Great Epic of India' p. 47 : " The reminiscence of Vayu, as work which is referred to again in the Harivansa is contained in the Markandeya episode."

(द्रष्टव्य : हरिवंशपुराण एक सांस्कृतिक विवेचन, पृ० ६९; ७०, १०२-१३, १९९ वीणापाणि)।

<sup>५</sup> मनु० ९/४

६. भाष्यकार आचार्य स्कन्द स्वामी (संवत् ६८७ के समीपवर्ती) ने पुराणों के श्लोकों को प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया है—

(क) इति पुराणे श्रुतत्वात् । १/२०/७

(ख) एवं हि पौराणिकाः स्मरन्ति । १/२४/१

(ग) इति पुराणेषु प्रसिद्धः । १/२५/१३

(घ) पौराणिकाः हि कक्षीवन्तमाङ्गिरसं स्मरन्ति । एवं ह्याहुः<sup>१</sup> ।

ये श्लोक वर्तमान वायुपुराण में स्वल्प पाठान्तरों से मिलते हैं—

(ख) वायु० ५९/६१, ६२

(घ) तत्रैव, ५९/१०२

७. आदि शंकराचार्य (६५०—८०० के आसपास) ने अपने शारीरक भाष्य में अनेक स्थलों पर वायुपुराण के वचनों को स्मृति—वचन के रूप में उद्धृत किया है। यद्यपि इन्होंने इसमें कहीं भी पुराण का नाम उद्धृत नहीं किया है तथापि इनके ये वचन वर्तमान वायुपुराण में किञ्चित् पाठभेद से मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ ब्र०सू० १/३/२८ = वायु० ९/६३; ब्र०सू० १/३/३० = वायु० ८/३२, ३३ तथा ९/५७, ५८, १/३/३०, ब्र०सू० के भाष्य के अन्त में उद्धृत स्मृति—वचन के रूप में तीन पद्यों में से केवल आदि के दो श्लोक वायु० ९/६४, ६५ में मिल जाते हैं। इसी प्रकार ब्र०सू० २/१/१ = वायु० १/२०५ में उपलब्ध है, अन्तर केवल इतना—सा है कि वायुपुराण में 'नारायणः' पद के स्थान पर 'महेश्वरः' शब्द हैं। इसी प्रकार ब्र०सू० १/४/१ = वायु० ४/२७—२८, ब्र०सू० १/२/२५ = वायु० ९/१२० इत्यादि । श्री शंकराचार्य द्वारा बिना नाम निर्देश के

<sup>१</sup> इनके साथ वाले श्लोक ऋग्भाष्य १/११६/७ में देखें ।



इसके श्लोकों का प्रमाण देना उसकी नितान्त लोकप्रियता एवं प्रसिद्धि का कारण है।

इससे वायुपुराण का समय इनसे पूर्ववर्ती स्पष्ट है ।

८. बाणभट्ट (सप्तम शती) पुराणों से, विशेषतः वायुपुराण से विशिष्टरूपेण परिचित थे, इसका स्पष्ट प्रमाण उनके दोनों गद्य काव्य—कादम्बरी<sup>१</sup> और हर्षचरित<sup>२</sup> हैं । इनमें कई स्थलों पर इन्होंने वायुपुराण के नाम और विषय का उल्लेख किया है जो इस तथ्य के स्पष्ट द्योतक हैं कि सप्तम शती में वायुपुराण का प्रचलन, जनता के समक्ष पाठ, विशेषरूप से वर्तमान था। इससे वायुपुराण सप्तम शती से निःसन्देह प्राचीनतर स्पष्ट होता है।

९. योग सूत्र १/२५ पर वाचस्पति ने तत्त्ववैशारदी में वायुपुराण के १२/३३ एवं १०/६५—६६ श्लोकों को उद्धृत किया है।

सांख्यकारिका की माठरवृत्ति (संभवतः प्रथम शताब्दी विक्रम) में पुराण—वर्णित भविष्य के कल्कि का उल्लेख है, वायु में भी इसका उल्लेख ।<sup>३</sup>

पुरुषा के मरण — सम्बन्धी आख्यान का संकेत बाण,<sup>४</sup> सुबन्धु,<sup>५</sup> अश्वघोष,<sup>६</sup> कौटिल्य,<sup>७</sup> आदि ने अपने ग्रन्थों में दिया है। यह वायुपुराण<sup>८</sup> में भी मिलता है । ज्ञात होता है कि इन्हें वायुपुराणस्थ इन श्लोकों का ज्ञान था।

<sup>१</sup> 'पुराणेषु वायुप्रलपितम्' — कादम्बरी (कथामुख), जाबाल्याश्रम—वर्णन, पृ० १२६

<sup>२</sup> (क) पुस्तकवाचकः सुदृष्टिगीत्या पवमानप्रोक्तं पुराणं पपाठ। हर्षचरित, तृतीय परिच्छेद, चतुर्थ अनुच्छेद, पृ० ३५।

(ख) तथापि मुनिगीतमतिपृथु तदपि जगद्व्यापियावनं तदपि ।

हर्षचरितादभिन्नं प्रतिभाति हि पुराणमिदम् ॥ तत्रैव, तृतीय परिच्छेद, ५ अनुच्छेद ।

<sup>३</sup> वायु० ९८/१०४, ९९/३९६

<sup>४</sup> पुरुरवा ब्राह्मणधनतृष्णया दयितेन आयुषा व्ययुज्यत । हर्षचरित, जीवनानन्द संस्करण, पृ० २४२

<sup>५</sup> पुरुरवा ब्राह्मणधनतृष्णया विननाश ।' वासवदत्ता, दाक्षिणात्य सं०, पृ० ३३७

<sup>६</sup> बुद्धचरित, ११/१५

<sup>७</sup> अर्थशास्त्र, १/६

<sup>८</sup> वायुपुराण, २/१४—२३

इस पुराण के प्राचीन सामग्री धर्मसूत्रों, बौद्ध—जैनों के मूल ग्रन्थों, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, मनुस्मृति और महाभारत के पूर्वरूप से संगृहीत है, जिनका काल ई०पू० प्रथम शताब्दी है। इसकी सामग्री स्मृतियों तथा महाभारत में मुख्यतया उपलब्ध है उसका भी काल ५०० ई०पू० से कम नहीं । इस प्रकार यह अनुमान लगाना अनुचित न होगा कि ५०० ई०पू० से ई० की पञ्चम शताब्दी तक इस पुराण का परिवर्धन होता रहा।<sup>१</sup>

इसके अतिरिक्त आधुनिक विद्वानों ने वायुपुराण का समय भिन्न—भिन्न माना है—

१. हाजरा	:	ई०सं० ३५०—५५० <sup>२</sup>
२. डॉ०पी०वी०काणे	:	३००—६०० <sup>३</sup>
३. के०एल० दफ्तरी	:	ई०पू० २०३८ <sup>४</sup>
४. त्र्यं०गु० काले	:	ई०सं० ४०० <sup>५</sup>
५. सी०वी० वैद्य	:	अष्टम शताब्दी <sup>६</sup>
६. विण्टरनिट्ज	:	पञ्चम शताब्दी <sup>७</sup>
७. दीक्षितार	:	पाँचवीं शताब्दी <sup>८</sup>
८. पार्जीटर	:	ई०सं० ६२० <sup>९</sup>

<sup>१</sup> वायुपुराणम्, भूमिका भाग—पृ० ६—७, नाग पब्लिशर्स, जवाहर नगर, दिल्ली ।

<sup>२</sup> Hazra, Cf. p. 13-17.

<sup>३</sup> धर्मशास्त्र का इतिहास, अनुवादक अर्जुन चौबे काश्यप, पृ० १३

<sup>४</sup> के०एल० दफ्तरी, धर्मरहस्य ग्रंथ, पृ० १६४, नागपुर प्रकाशन ; (द्रष्टव्य : अष्टादशपुराणेषु नारी; द्वितीय—परिच्छेद, पृ० १९)

<sup>५</sup> त्र्यं० गु० काले : पुराणनिरीक्षणम्, पूना; द्रष्टव्य, तत्रैव, पृ० १९

<sup>६</sup> सी०वी० वैद्य, जे०बी०आर०ए०एस०—१९२५, १, पृ० १५५); तदेव, पृ० १९

<sup>७</sup> प्रो० विण्टरनिट्स, प्राचीन—भारतीय—साहित्य—ग्रन्थ, हिन्दी अनुवाद; पृ० २१६; द्रष्टव्य, तदेव, पृ० १९

<sup>८</sup> दीक्षितार, पुराण इण्डेक्स, भूमिका भाग, पृ० १८—२१

<sup>९</sup> Pargiter : AIHT. p. 49- The Vayu Purana existed before A.D. 620 because it is referred to by Bana in his Harsa-Charitra and a writing in a manuscript of the Skanda in the Royal Library of Nepal shows that the Purana also existed about that time.

अलबरूनी<sup>१</sup> (संवत् १०८७) ने अपने ग्रन्थ में कई स्थलों पर वायुपुराण से जो भी सामग्री ग्रहण की है वह वर्तमान वायु० में उपलब्ध हो जाती है। अलबरूनी के ग्रन्थ में उल्लिखित पंक्तियाँ उसकी महत्ता एवं अस्तित्व की परिचायक हैं।

इसमें गुप्तवंशीय राजाओं का केवल संकेत मात्र है, उनके नाम नहीं बताये गये हैं। यहाँ गुप्त—साम्राज्य की सीमा का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि 'गंगा के तटवर्ती प्रान्त, प्रयाग, साकेत और मगध आदि जनपदों में गुप्तवंशीय राजाओं का अधिकार होगा।'<sup>२</sup> यह वर्णन समुद्रगुप्त की दिग्विजय से पूर्वकालीन प्रतीत होता है। अधिकांश विद्वानों ने गुप्तकाल का आरम्भ ई० ३२० माना है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह पुराण लगभग ३२०—३३५ ई०के आस—पास संगृहीत या संवर्धित हुआ अथवा यह पुराण तब प्रणीत हुआ जब गुप्त शासन शैशवावस्था में था।

पुराणिक एनसाइक्लोपीडिया में बाणभट्ट के ग्रन्थों में उल्लिखित उद्धरणों तथा इसमें वर्णित गुप्तवंश के वर्णन के आधार पर इसका समय पाँचवी—छठी शताब्दी माना गया है।<sup>३</sup>

वायुपुराण की प्राचीनता एवं प्रामाणिकता का एक और प्रमाण यह है कि मल्लिनाथ ने रघुवंश के प्रथम सर्ग के प्रथम श्लोक की सञ्जीवनी टीका में इसे पुराण—संहिता के नाम से उद्धृत किया है—

‘इति वायुपुराणसंहिताबलेन पार्वतीपरमेश्वरय तत्त्वदर्शनात् ।’

<sup>१</sup> Alberuni's India, Vol I, p. 41-42, 168, 194, 248, 287, 295-296, etc.

<sup>२</sup> अनुगृह्यं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।

एताञ्जनपदान्सर्वान्भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः । वायु० ९९/३८३

<sup>३</sup> This Purana is told by Vayu. Banabhatta who lived in the Seventh Century A.D. makes references to this Purana in his works. There are many references in this Purana about the Gupta kings who ruled Bharata in the 4<sup>th</sup> Century A.D. So it is believed that this Purana must have been written in the fifth or sixth Century A.D. The book contains plenty of verses in praise of Siva. Puranic Encyclopaedia, p. 618

इस प्रकार यहाँ वायु को मूलभूत पुराण—संहिता से सम्बन्धित कर इसकी प्राचीनता एवं लोकप्रियता को स्पष्ट किया गया है।

अपराक (११२५ A.D.), कुल्लूक भट्ट ( ११५० A.D.) आदि मध्ययुगीन लेखकों ने इसे धर्मशास्त्र के रूप में स्वीकार किया और कहा कि इसका समय १००० ई०पू० के बाद का नहीं हो सकता ।<sup>१</sup>

इस प्रकार इतना तो स्पष्ट है कि सम्राट् हर्षवर्द्धन के काल (६०६—६४६ई०) तक इसका प्रथम और प्रामाणिक संस्करण तैयार हो चुका था अथवा उपर्युक्त समस्त उद्धरण इसे बाण से पूर्ववर्ती तो सिद्ध करते हैं किन्तु इसका वास्तविक काल क्या था? एवं इसका प्राचीन मूलरूप कैसा था? यह स्पष्ट नहीं करते, क्योंकि एक प्राचीन एवं प्रामाणिक पुराण—संरचना के बाद भी इसके संस्करण और प्रतिसंस्करण की प्रक्रिया पूर्व—निर्धारित तिथि के बाद भी चलती रही । इसके काल के निश्चित न होने का एक प्रमुखतम कारण उसका वर्तमान विकृत रूप है और इस विकृति के कारण हैं इसके कतिपय अर्वाचीन स्थल । हाजरा आदि विद्वानों ने इसके कतिपय अध्यायों को अर्वाचीन माना है।

वायुपुराण के किञ्चित् अंशों की अर्वाचीनता अथवा प्रक्षिप्तांशों के संदर्भ में विद्वानों के संशयात्मक विचार इस प्रकार है —

श्री बलदेव उपाध्याय :

अध्येय पुराण की अर्वाचीनता के संदर्भ में बलदेव उपाध्याय का मत है कि इसके

---

<sup>१</sup> Ancient Indian Tradition & Mythology (The Vayu Purana, Part I) Introduction, p. I x i.

<sup>२</sup> Anukramains (Table of contents) generally given in the 1st chapter of a Purana, were composed later in the 11<sup>th</sup> Cent. A.D. and some attempt is made later to make the Purana text conform to the Anukramani (A.D. Pusalkar-Studies in Epics and Puranas, p.70]. This has made the problem of fixing the date more complicated."

११२ अध्यायों में अन्तिम ९ अध्याय (१०४—११२) वैष्णव मत की पुष्टि के लिए किसी लेखक द्वारा पीछे से जोड़ दिये गये हैं। वास्तव में वह शैवमत प्रतिपादक पुराण है। इस पुराण का नैसर्गिक पर्यवसान १०३ वें अध्याय में हुआ है। क्योंकि इसके अन्त में पुराण के अवतार की गुरुपरम्परा, फल—श्रुति और महेश्वर की स्तुति निबद्ध है। इसके अतिरिक्त विष्णु की महत्ता एवं स्तुति के प्रतिपादक (गया—माहात्म्य सम्बन्धी) अन्तिम अध्यायों का प्रथम अध्याय में वर्णित पुराणस्थ विषयानुक्रमणी में संकेत नहीं है। अतः यह अध्याय प्राचीन न होकर अर्वाचीन ही है।<sup>१</sup>

### हाजरा :

हाजरा महोदय ने वायु—पुराण के १६, १७, १८, ५७—५९, ७३—८३, १०१ तथा १०५—११२ अध्यायों को उत्तरकालीन माना है तथा अपने विभिन्न विचारों के आधार पर इन अध्यायों की अर्वाचीनता को स्पष्ट किया है और कहा है कि यह इसके मौलिक अंश नहीं है बल्कि इनका बाद में समावेश हुआ है। इन्होंने इसके १६—१७ अध्यायों में विवेचित पाशुपत—योग—वर्णन मार्कण्डेय में संक्षिप्त व प्राचीन है साथ ही इस पुराण के अतिनिकटवर्ती ब्रह्माण्ड—पुराण में इसका निरूपण नहीं हुआ है। इसी प्रकार अध्याय १८ में वर्णित यतियों के प्रायश्चित्तों का भी इसमें उल्लेख न होने के कारण इन्हें किसी प्रकार प्राचीन नहीं माना जा सकता। ५७—५९ में निरूपित युग—धर्म के अन्तर्गत नन्द—वंश से लेकर आम्ब्रवंश तक के चित्रण को इन्होंने २०० ई०पूर्व तथा मत्स्यपुराण के तत्सम उद्धरणों के इन पर आधारित होने के कारण तृतीय शताब्दी ई०पू० का मानते हुए कहा है कि वायु में इन अध्यायों का समावेश उस काल में हुआ जबकि इस पुराण की संरचना में प्रथम संस्करण की प्रक्रिया अभी चल रही

---

<sup>१</sup> पुराण—विमर्श, पृ० ९६—९७

थी। ७३-८३ में श्राद्धकल्प-निरूपण में संकलित योगियों की महत्ता का, मनु तथा याज्ञवल्क्य स्मृतियों में न मिलना तथा पाञ्चरात्र संहिताओं में समान रूप से प्राप्त होने के आधार पर हाजरा ने इन अध्यायों को पूर्वोक्त स्मृतियों के बाद रचा हुआ माना है। इसी प्रकार इन अध्यायों में उक्त 'नग्न' अभिधान वाले व्यक्तियों को इन्होंने जैन और बौद्ध मतावलम्बी माना है और कहा है कि इन अध्यायों की रचना उस काल में हुई जब इन धर्मों का हास हो रहा था। १०१ अध्याय को भी इन्होंने इन्हीं अध्यायों के समकालीन माना है। १०५-११२ अध्यायों में गया-माहात्म्य के सभी संस्करणों में उपलब्ध न होने तथा वायुपुराण से पृथक् स्वतंत्र-रूप में प्राप्त होने के कारण प्रो० हाजरा इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि परिशिष्ट के रूप में इन अध्यायों को १४०० ई० के आस-पास संयुक्त किया गया होगा।<sup>१</sup>

रॉय :

उपाध्याय एवं हाजरा की भाँति सिद्धेश्वरी नारायण रॉय<sup>२</sup> ने भी अपने विभिन्न तर्कों के आधार पर इस पुराण के कतिपय अध्यायों की उत्तरकालीनता को स्पष्ट किया है। इन अध्यायों के विषय में उनका मन्तव्य है कि ये अध्याय मूल वायु के अंश न होकर उत्तरकालीन संयोजन मात्र हैं। इन्होंने निम्न अध्यायों को अर्वाचीन माना है—

११-२० :

इन अध्यायों में योग तथा योगी द्वारा व्यवहार में लाये जाने वाले नियमों का वर्णन है। रॉय ने भिन्न तर्कों से इसकी उत्तरकालीनता स्पष्ट की। उनका कहना है कि इसमें वे सामाजिक और सांस्कृतिक तत्त्व हैं जिनका समावेश उत्तरकालीन स्तर पर ही हुआ होगा।

<sup>१</sup> R.C. Hazra .Cf. p. 13-17.

<sup>२</sup> विस्तारभयवशात् यहाँ रॉय के विचारों को संक्षेप में ही प्रस्तुत किया जा रहा है, विस्तृत समीक्षा के लिए देखिए—

i. Roy. S.N. : Historical and Cultural Studies in the Puranas, P. 197-210.

ii. रॉय, सिद्धेश्वरी नारायण, पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ० ६४-८०

इसके अतिरिक्त ११/८, ९; १२/२४; १६/१७ तथा अ० १८ में बौद्ध धर्म का स्पष्टतः प्रभाव परिलक्षित है अतः इन्हें इसके बाद सम्भवतः ५ वीं शताब्दी का होना चाहिए । इसके अतिरिक्त प्रो० रॉय ने साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों की उपस्थिति से भी परिपुष्ट किया है कि ये अध्याय बहुत बाद में पुराण में जोड़े गये थे।

२१—२२ :

इन अध्यायों में वर्णित कल्प—निरूपण सम्बन्धी विवेचन की मौलिकता एवं प्राचीनता पर यद्यपि सन्देह नहीं किया जा सकता तथापि ये वर्णन ब्रह्माण्ड में न मिलने के कारण तथा वर्णन—शैली और श्लोक—योजना अव्यवस्थित होने के कारण इनकी मौलिकता संदिग्ध हो जाती है। सम्भवतः इस अध्याय के वर्णन में एक साथ हस्त—प्रक्षेप एक से अधिक संकलन—कर्त्ताओं ने किया था । यही नहीं, अध्याय—२२ की समाप्ति १९वें श्लोक में ही मन्तव्य थी, इसके आगे के श्लोक उत्तरकालीन प्रक्षेपण मात्र ही हैं और यह ऐसे संकलनकर्त्ता द्वारा समाविष्ट हैं जो शैव—मतावलम्बी था, जिनके अपने वचनों को पुनः पुनः दुहराकर शैवपरक विचारों को साकार करने का प्रयास किया था।

२३ :

इस अध्याय के ९३वें श्लोक में ध्यान —योग को तीर्थ फल से श्रेष्ठ बताया गया है। अतः यह वर्णन तीर्थ—सम्बन्धी स्थलों के बाद का होना चाहिए। इसके अतिरिक्त १००वें श्लोक में उल्लिखित वराह—अवतार और नारायण की विष्णु के साथ एकता भी किञ्चित् अर्वाचीनता की ओर संकेत करती है क्योंकि इसी पुराण के छठे अध्याय में यह वर्णन है और वहाँ नारायण को ब्रह्मा के साथ एकीकृत किया गया है। अतएव यह पूर्वकालीन है। २०६वें श्लोक के अन्तर्गत श्वेतकल्प—निरूपण तथा श्रीकृष्ण को विष्णु के अंशावतार की कल्पना के आधार पर इसका अन्तर्वर्त्ती समय सातवीं एवं नवीं शताब्दी के बीच रखा जा सकता है।

२४ :

इस अध्याय की अर्वाचीनता का प्रमाण इन्होंने कई तत्त्वों के आधार पर दिया ; जैसे १०३वें श्लोक में शिव को व्रत—पालयिता (देवता या ईश्वर) कहा जो कि इसकी अर्वाचीनता का ही सूचक है क्योंकि व्रतों को इस पुराण में कहीं भी महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दिया गया । हाजर ने स्पष्ट कहा है कि व्रत सम्बन्धी वर्णन पुराणों में अर्वाचीन समय में तब जोड़े गये जबकि पुराणों का भलीभाँति संशोधन हो चुका था। इसी प्रकार, श्लोक ७३ से ७६ में उक्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति तथा वायु द्वारा अण्डभेद वर्णन पूर्व अध्याय ३ के ५९वें श्लोक के समान है। चूँकि अ० ३ का निरूपण ब्रह्माण्ड में भी उपलब्ध है अतएव यही मौलिक है ।

२५ :

इस अध्याय की अर्वाचीनता कई कारणों से स्पष्ट है; एक तो यह अध्याय साम्प्रदायिक तत्त्व से ग्रस्त हैं दूसरा श्लोक ६ में विष्णु के लिए उक्त 'कृष्ण' शब्द । 'कृष्ण' शब्द यह स्पष्ट करता है कि इस अध्याय की संरचना तब हुई थी जबकि अवतार की भावना का विकास हो चुका था । अतएव इसे भागवत का समकालीन अथवा उसके बाद का माना जा सकता है।

२६ :

इस अध्याय की विषय—वस्तु, संकलन—क्रम भी बड़ा अस्त—व्यस्त है और अप्रमाणित है। इस अध्याय के प्रथम चार श्लोकों में शिव के अवतारों के विषय में सूत की पृच्छा का निरूपण अर्थ—विहीन है क्योंकि एक तो अ० २३ में शिव के अवतारों का वर्णन हो चुका है, दूसरा , अग्रिम श्लोकों में इसका निर्देश—मात्र भी नहीं है । इन चारों श्लोकों को छोड़कर अन्य शेष में ब्रह्मा द्वारा सृष्टि—प्रक्रिया तथा इसके परिणाम में व्याकरणिक विषय स्वरोत्पत्ति का सविस्तार वर्णन है। परिशिष्ट में भी स्वरोत्पत्ति का ही निर्देश है, लेकिन प्रारम्भ में



पौराणिक वर्ण्य—विषयों में इन्हें कोई स्थान नहीं दिया गया था। आख्यानान्तरक शैली में प्रस्तुत कर इसे पौराणिक रूप अवश्य दिया गया किन्तु यह उत्तरकालीन संयोजन का ही परिणाम माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अ० २७ के प्रथम श्लोक द्वारा २३—२६ तक के अध्यायों की उत्तरकालीनता को स्पष्ट किया है।

३२ :

इस अध्याय का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है युग—धर्म एवं देवताओं के स्वरूप निर्णय पर प्रकाश डालना। यहाँ शिव का अन्य देवताओं की अपेक्षा विशिष्ट महत्त्व प्रतिपादित है जो कि पुराण—संरचना के देव—समन्वयवाद सम्बन्धी प्राथमिक विशेषता के प्रतिकूल है। श्लोक १७ में शिव को यज्ञ का प्रवर्तक कहना इसकी उत्तरकालीनता का ही परिचायक है। यही नहीं, श्लोक २१ में शिव को 'सार्वकालिक' एवं 'सार्वयुगीन' कहना अध्याय की शैव साम्प्रदायिकता स्पष्ट करता है।

३४—४९ :

भुवन—कोश सम्बन्धी इन अध्यायों में से केवल ३४, ४५, ४६, ४७ और ४९ ही ब्रह्माण्ड में मिलते हैं। यही नहीं, अ० ३४ के ३६—४५ तक के श्लोक ब्रह्माण्डपुराण में नहीं हैं जो कि इनकी अर्वाचीनता के परिचायक हैं। ये सब अध्याय साम्प्रदायिक प्रवृत्ति के भी प्रतीक हैं क्योंकि इनमें वर्णित भौगोलिक वर्णन गौण है, प्रधानता शैवोपासना की है। कुछ विषय ऐसे भी हैं जिनकी यहाँ पुनरावृत्ति हुई है।

अन्ततः इन्होंने अपने तर्कपूर्ण विचारों के आधार पर इसके मूल संस्करण की कतिपय विशेषताओं तथा काल पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि इस स्तर पर वायु पुराण सांप्रदायिक तत्त्वों के प्रभाव से मुक्त था। देवताओं के स्वरूप—निर्धारण में इसका दृष्टिकोण सामान्य और समन्वयात्मक था। पुराणों की प्राथमिक परिभाषा (पञ्चलक्षण) इसमें अपने परिपाक को प्राप्त

थी। इसकी प्राचीनता सर्वसम्मत थी, अतएव इसे अनेक रचनाओं का आधार और स्रोत—ग्रन्थ होने का गौरव मिला। इसका सर्वसामान्य अभिधान 'वायु' अवश्य था पर प्रामाणिकता प्रस्तुत करने के लिए वायुप्रोक्त अथवा पवनप्रोक्त पुराण की संज्ञा से विशिष्ट किया जाता था। लगभग चतुर्थ शताब्दी में धार्मिक प्रभेद के कारण यह अपने मूल रूप से प्रभिन्न होकर दो शाखाओं—वायु और ब्रह्माण्ड में विभक्त हो गया। दोनों ने ही मूल ग्रन्थ में अध्याय—संयोजन द्वारा अथवा श्लोक—संयोजन द्वारा अथवा मूल श्लोकों में शब्द—संयोजन द्वारा परिवर्तन और परिवर्द्धन लाने का प्रयास किया। शैव—मत में यह 'वायु' और वैष्णवमत—मत में 'ब्रह्माण्ड' नाम से प्रचलित हुआ। कदाचित् वायुपुराण के शैव—मत परिचायक प्रतिसंस्करण का काल सातवीं शताब्दी ई० की उत्तरवर्ती अवधि ही माना जा सकता है।

इसमें संदेह नहीं कि गुप्तनरेशों के काल तक इसका प्रथम संस्करण तैयार हो चुका था।<sup>१</sup> गुप्त—साम्राज्य की सीमा का जो विवरण यहाँ मिलता है, वह सम्प्रदाय की दिग्विजय से पूर्वकालीन है। समुद्रगुप्त का शासनकाल ३५० ई० तक माना जाता है। ऐसी स्थिति में वायुपुराण के प्रथम संस्करण के सम्पादन का अन्तिम स्तर ३०० ई० में लेकर ४०० ई० के बीच कहीं रखा जा सकता है।<sup>२</sup>

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों की तुलना कर वायुपुराण के मूल्यस्वरूप और उसके रचनाक्रम या संकलनक्रम तथा काल—निर्धारण का प्रभूत प्रयास किया है। हमारी मान्यता है कि मात्र किसी देवी—देवता या तीर्थ के गौरव आदि के आधार पर किसी पुराण का कोई अंश प्रक्षिप्त या अर्वाचीन नहीं मानना चाहिए। पुराणों की परवर्ती ही समन्वयात्मक—प्रवृत्ति है, उसमें साम्प्रदायिकता आज के संकीर्ण अर्थ में नहीं, विशिष्ट अर्थ में

<sup>१</sup> द्रष्टव्य, हाजर, तत्रैव, पृ० १५

<sup>२</sup> पौराणिक धर्म एवं समाज, सिद्धेश्वरी नारायण शंख, पृ० ६३

है। भारतीय परम्परा में सम्प्रदायविद् को हमेशा सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है अतः पुराणों अथवा पुराणांशों को आधुनिक शब्दावली में सम्प्रदायिक कहना उचित न होगा। पुराणों का साम्प्रदायिक स्वरूप उनका भूषण है, दूषण नहीं। ऐतिहासिक तथ्य राजवंशावलियों पर आधृत होते हैं, अतः उन्हीं के आधार पर पुराणों के रचनाकाल का निर्धारण उचित है। इस दृष्टि से वायुपुराण का वर्तमान स्वरूप गुप्त—नरेशों के प्रारम्भिक काल का सुनिश्चित हो चुका था। हाँ, वायुपुराण में ही कालान्तर में लोक—प्रवृत्ति के अनुकूल ही परिवर्धन अवश्य हुआ होगा जिसे आज प्रथक् रूप में पहचानना असम्भव ही है।



सर्वश्रुतिशिरोरत्नविराजितपदाम्बुजः ।  
वेदान्ताम्बुजसूर्यो यस्तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

### तृतीय परिच्छेद ‘भाषा—वैशिष्ट्य एवं शैली’

- भाषा—वैशिष्ट्य
- वैदिक एवं लौकिक भाषा का सम्मिश्रण
- मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ
- लोकोपमानों का प्रयोग
- निर्वचन एवं लोकनिरुक्तियाँ
- पारिभाषिक शब्द
- काव्यशास्त्रीय अनुशीलन :
  - अलंकार—विधान,
  - छन्दो—विधान,
  - रस— योजना
- शैली

### भाषा—वैशिष्ट्य

आधुनिक भाषाशास्त्र की दृष्टि से विचार करने पर पुराणों की भाषा शास्त्रीय संस्कृत न होकर बोलचाल की संस्कृत है। जिस प्रकार बौद्धों ने संस्कृत को अपने प्रयोजन के अनुकूल ढालकर 'गाथा—संस्कृत' को रूप में विकसित कर लिया था, उसी प्रकार पुराण—प्रवक्ताओं ने भी शास्त्रीय संस्कृत के विशुद्ध लोकानुरूप बनाकर अपना प्रयोजन सिद्ध किया। यहाँ ध्यातव्य तथ्य है कि वेदोत्तर काल में विकसित संस्कृत जिसका वास्तविक स्वरूप रामायण और महाभारत में भी मिलता है, कालान्तर में व्याकरण के नियमों में बँध जाने पर शास्त्रीय संस्कृत के रूप में परिवर्तित हो गई और लोक से उसका सीधा सम्बन्ध कट गया, फलतः वह केवल विद्वद्भ्रम की भाषा मात्र बनकर रह गई। इसके विपरीत पुराण—प्रवक्ताओं ने संस्कृत के उस सहज रूप को ही प्राथमिकता दी जो किसी भी भाषा के निरन्तर विकासक्रम में स्वाभाविक रूप से प्रचलित नज़र आता है। इस दृष्टि से पुराणकारों को संस्कृत का प्रचारकर्ता या पुनरुद्धारक माना जा सकता है।<sup>1</sup> यही कारण है कि पौराणिक भाषा में भी 'छन्दसि बहुलम्' की भाँति व्यत्यय—बहुलता का दर्शन होता है। यद्यपि पौराणिक भाषा की प्रकृति विशुद्ध संस्कृत ही है और अधिकांश में व्याकरणसम्मत भी है, तथापि जनसामान्य के प्रयोजनवशात् उसमें व्याकरण—नियमों की शिथिलता, आज्वलिक प्रयोगों का समावेश, लोकजीवनोपयोगी शब्दावली, मुहावरे, लोकोपमान, आर्ष प्रयोगों की भरमार, सन्धि—शैथिल्य, वैदिकेतर अनेक पूजा—पद्धतियों की शब्दावली, पौराणिक मन्त्र आदि का यथेष्ट प्रयोग होने के कारण शास्त्रीय संस्कृत से अलग ही उसका स्वरूप है। प्रोफेसर पार्जीटर ने सम्भवतः पौराणिक भाषा की इसी प्रवृत्ति के कारण पुराणों को मूलतः प्राकृत में रचित और तदनन्तर ब्राह्मणों द्वारा संस्कृत में

<sup>1</sup> द्रष्टव्य; सत्यप्रकाश शर्मा, (सम्पा०) आम्भृणीयम्, १९८३, पृ० ९७—९८, डॉ० एस०ए० डोगे  
“कवीनां निरङ्कुशत्वं भाषाप्रचारे वा” ।

अनूदित माना है, जिसका अनेक विद्वानों ने जोरदार खण्डन किया है।<sup>1</sup>

यहाँ अध्येय पुराण से कुछ ऐसे उद्धरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जो व्याकरण सम्मत नहीं हैं—

क्रीडते	(क्रीडति)	९८/९४
प्राह्लादो	(प्रह्लादः)	९७/७९
पश्यति	(परोक्षार्थ में लट्)	५५/२७
महान्ताय	(चतुर्थी ? महते)	५५/३०
गायत्रिः	(गायत्री)	५५/४२
प्राभविष्यन्त	(प्रभविष्यन्ति)	१००/१०२
भविष्याः	(भावी)	१००/१०२
ताराऋक्षग्रहैस्तथा	(तारा+ऋक्ष= सन्धि नहीं है।)	१००/१२३
सायोज्यं	(सायुज्यं)	१००/१२६
भवित्री	(होनेवाली)	७३/१६, ९२/५३
महाभिषस्य	(भिषक् के स्थान पर भिष)	७३/१८
वहन्ते	(मानस्त नामते लोका वहन्ते—वहन्ति)	७३/४७
मांसचक्षुषा	(चक्षुभिः)	७३/५६, ७७/९८
हंसबर्हिणयुक्तानि	(बर्हि)	७३/७३
श्रेष्ठतमम्	(श्रेष्ठम्)	८०/२
ईजा	(ईडा)	८८/१६८
क्षत्रप्रावर्तकः	(प्रवर्तक)	८८/२१०
अन्ववाये	(अन्वये = वंशे)	८९/२
ओषध्यः	(औषधयः)	९०/१५
दस्युहन्तमम्	(दस्युहन्तारं)	९०/४२

<sup>1</sup> पार्जीटर के मत के लिए द्रष्टव्य उनका ग्रन्थ : *Ancient Indian Historical Tradition*, p. 5-14. इसके खण्डन के निमित्त देखिए जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, लण्डन; १९१४, पृ० १०२८-१०३० पर डॉ० कीथ तथा डॉ० याकोबी के मत । डॉ० पुसालकर ने भी इसका खण्डन किया है— *Studies in the Epics and the Puranas*, p. 26-30 (द्रष्टव्य, उपाध्याय, बलदेव, पुराण—विमर्श, पृ० ५८२).

उत्पद्यन्ते	(भविष्यार्थे लट्)	६१/९८
पितृयाणं	(पितृयानं)	६१/१००
ब्रह्मवायुमहेन्द्रेभ्यो नमस्कृत्य	(द्वितीय होनी चाहिए)	१/९
वेदेष्वधीकारः	(अधिकारः)	१/३३
धिष्ठिताः	(अधिष्ठिताः)	१/९६
गिरीशः	(वैदिक प्रयोग)	४७/२०
श्रेष्ठतमो	(श्रेष्ठः)	६०/३८
वदामहे	(वदामः)	६०/४५
गायनान्	(गायकान्)	७९/६८
सरिताम्	(द्वितीय एकवचन)	९१/६०, ८९
जनिष्यते	(जनिष्यति)	९१/७८
जायतेन्द्रियगोचरा	(जायते+इन्द्रिय० सन्धि ?)	९७/५५
नैधने	(मर्त्य के अर्थ में)	९७/५८ इत्यादि ।

### वैदिक एवं लौकिक भाषा का सम्मिश्रण :

पौराणिक भाषा की एक अन्य महती विशेषता है—उसकी भाषा में वैदिक एवं लौकिक प्रयोगों का सम्मिश्रण यह दो स्तरों पर देखा जा सकता है— प्रथम, स्वतन्त्र वैदिक पदों का प्रयोग, जैसे गिरिशो (४७/२०) इत्यादि और द्वितीय, वैदिक मंत्रों या प्रतीकों के प्रारम्भिक अंशों को लेकर रचित वाक्य, जैसे— अग्निमीले पुरोहितम् (२६/१७), दिव्यौ सुपर्णौ सयुजौ सशाखौ वटविद्रुमौ (९/११९), इषे त्वोर्जे (२६/२०), अग्न आयाहि वीतये (२६/२३), सहस्राक्षः, सहस्रपात् सहस्रशीर्षा (७/६२) इत्यादि।

### मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ :

यद्यपि सुभाषितों की बहुलता के कारण मुहावरे एवं लोकोक्तियाँ लुप्तप्राय हो गई हैं, तथापि यत्र—तत्र इनके अनेक उद्धरण अवलोकनीय हैं; यथा—

पर्याकुलेक्षणाः	(आँखों में अश्रु भर आना)	४/१
-----------------	--------------------------	-----

फुल्ललोचनः	(आँख नचाना)	२४/१७
भयाद्ववर्णविवर्जितौ	(चेहरे का रंग फीका पड़ जाना)	२५/४६
पतन्नश्रुबिन्दवः	(अश्रु बिन्दु छलकना)	२५/६४
प्रसादं कुरु	(प्रसन्न होना)	२५/७२
संरक्तलोचनः	(आँखे लाल—लाल होना)	३०/४५
नैत्रैः फुल्लाम्बुजप्रभैः	(नेत्र खिलना)	२५/७२
जानुभ्यामवनिः	(घुटने टेकना)	३०/१३७, १८०
अदर्शनमनुप्राप्तः	(आँख से ओझल होना)	३०/२९७
विमुक्तरोगः	(रोग मुक्त होना)	९३/९४
विषण्णवदनाः	(मुँह सूखना)	५४/५०
सिद्धिमाप्नुयात्	(सिद्धि प्राप्त करना)	३१/६१
तच्छक्यं	(शक्ति के बाहर होना)	३१/६०
ईप्सिताल्लभतेऽत्यर्थं	(अभिलषित कामना एवं)	३०/३१६
कामान्भोगांश्च मानवः	भोगों को प्राप्त करना )	
तप्तकाञ्चनभूषितम्	(खरा सोना)	४१/५३
तैलपालीकवज्जीवस्तत्रैव परिवर्तते	(तेली का बैल)	१०२/६४
एका क्रिया द्वयर्थकारी प्रसिद्धा	(एक पंथ दो काज)	११/३८ इत्यादि।

### लोकोपमानों का प्रयोग :

पुराणों में शास्त्रीय उपमानों के साथ—साथ अनेक लोकोपमानों का भी प्रयोग इनकी लोकोन्मुखता का सूचक है। वायुपुराण से कुछ प्रसिद्ध लोकोपमानों का यहाँ संकलन प्रस्तुत है—

- i. निशायामिव खद्योतः प्रावृट्काले ततस्ततः । ८/६
- ii. तस्योपरि जलौघस्य महती नौरिव स्थिता । ६/२
- iii. ततो बन्धात्प्रमुक्तेन सिंहेनेवेह लीलया । ३०/१३९
- iv. महाकुम्भप्रमाणैस्तु पुष्पैर्विकचकेसरैः । ३५/२१
- v. कुम्भप्रमाणैः सुस्वादैः फलैः सर्वर्तुकैः शुभैः । ३५/३५



vi.	मन्द्रवातवशाल्लोलैर्दोलयद्भिर्युतानि च ।	३६/३७
vii.	<u>छत्रप्रमाणैर्विकचैर्महागन्धैर्मनोहरः ।</u>	३६/१५
viii.	हर्म्यप्रासादमतुलं <u>तप्तकाञ्चनभूषितम् ।</u>	४१/५३
ix.	पूर्णस्त्वं जडमानेन वाताध्मातो यथा <u>द्रुतिः ।</u>	६०/५०
x.	उपरागेन कुर्याद्यः <u>पङ्के गौरिव</u> सीदति ।	७८/४
xi.	भवन्तीव <u>हृता ह्येते</u> ब्रह्मणा नागदेवताः ।	८६/६०
xii.	अश्वा इवाक्रमन्ते वा रमन्ते वाऽत्र <u>वाजिनः ।</u>	८६/६४
xiii.	<u>काष्ठकुड्यशिलाभूत ऊर्ध्वमाहुर्महाद्युतिः ।</u>	९०/२
xiv.	<u>पुत्रौ मम हतौ राजन्ननाथाया</u> इव प्रभो ।	९१/२४
xv.	क्रीडते भगवाँल्लोके बालः <u>क्रीडनकैरिव</u> ।	९८/९४
xvi.	विश्वस्फानिर्नरपति <u>क्लीबाकृतिरिवोच्यते ।</u>	९९/३८०
xvii.	<u>अम्बरीषमिवाऽऽभाति</u> सर्वं मारीषितं जगत् ।	१९९/१५२
xviii.	<u>तैलपालीकवज्जीवस्तत्रैव</u> परिवर्तते ।	१०२/६४
xix.	त्वमस्मांस्तृणवत्कृत्वा तथैवेमान्द्विजोत्तमान् ।	६०/५२

### निर्वचन एवं लोकनिरुक्तियाँ

अध्येय पुराण में स्थान—स्थान पर अनेक शब्दों के निर्वचन एवं लोक—निरुक्तियाँ भी प्राप्त होती हैं। शब्दों के निर्वचन वैदिक और ब्राह्मण परम्पराओं के अन्तर्गत हुए हैं। यत्र—तत्र शब्दों की लोकनिरुक्तियाँ प्रायः गुण, कर्म, स्वभाव अथवा किसी घटना—विशेष से प्रभावित जान पड़ती है, जिनमें व्याकरण अथवा भाषाविज्ञान के नियमों का कम, लोक—परम्पराओं एवं विश्वासों का आश्रय अधिक लिया गया है। इन लोकनिरुक्तियों को पौराणिक निर्वचन कहना असंगत न होगा।

यहाँ कतिपय विशिष्ट शब्दों के वायुप्रोक्त निर्वचन प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

- अग्नि : 'अग्रजोऽग्निरिति स्मृतः' वायु० ५/४५

पुराणकार द्वारा प्रस्तुत 'अग्नि' शब्द की यह निरुक्ति अग्नि को ब्रह्मा या परमपुरुष के साथ समीकरण स्थापित करने के आलोक में की गई है जो भाषावैज्ञानिक नियमों के प्रतिकूल है। निरुक्तकार द्वारा प्रस्तुत अग्नि के निर्वचन है; 'अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते । अङ्गं नयति संनममानः ।'<sup>१</sup> इनमें सर्वतः अग्रता का भाव होते हुए भी प्रथम निर्वचन अधिक समीचीन जान पड़ता है।

■ अचल (पर्वत, गिरि, शिलोच्चय, नग) :

(अ) 'स्कन्नाचलत्वादचलः', वायु० ६/३०

(ब) 'स्कन्धाचलत्वादचलः' तत्रैव, ८/११

पहले पिघलकर जहाँ—जहाँ उन्नत भूभाग अचल हो गये, इसलिए उन उन्नत भू—भागों को अ+चल =अचल कहा गया है। इसकी पृष्ठभूमि में कहा जा सकता है कि जलप्लावन की अवस्था में वायु से जल द्वारा एकत्रित किये गये होने की केवल पौराणिक मान्यता के आधार पर निर्वचन प्रस्तुत किया गया है। यहाँ 'स्कन्न' और 'स्कन्ध' समानार्थी शब्द हैं। पर्वत पृथिवी पर स्कन्ध के समान संलग्न है।<sup>२</sup>

यही पर पर्वत के अन्य पर्यायवाची 'गिरि', पर्वत, 'शिलोच्चय' और 'नग' शब्दों के भी निर्वचन प्रस्तुत किये गए हैं, यथा—

(अ) पर्वत :

'पर्वभिः पर्वताः स्मृताः' तत्रैव, ६/३० तथा ८/११

यह निर्वचन यास्क द्वारा भी सम्मत है— 'पर्ववान् पर्वतः।'<sup>३</sup>

<sup>१</sup> निरुक्त, ७/४, पृ० ३५४

<sup>२</sup> स्कन्ध एवं स्कन्न के लिए द्रष्टव्य : निरुक्त ६/४

<sup>३</sup> निरुक्त, १/४ पृ०. ५९

(ब) गिरि :

(क) 'गिरयोऽन्तर्निगीर्णत्वात्, ६/३१

(ख) गिरयोऽद्भिर्निगीर्णत्वात् ८/१२

क्योंकि ये जल द्वारा निगीर्ण किये गये थे इसलिए इन्हें 'गिरि' कहा गया है। यहाँ पौराणिक मान्यता है कि जलप्लावन अथवा महाप्रलय के अवसर पर पर्वतों को भी जलों ने निगीर्ण कर लिया था इसलिए उन्हें गिरि कहा गया। किन्तु इसके विपरीत यास्क ने भी यद्यपि 'गिरि' को 'गीर्ण' से व्युत्पन्न माना है किन्तु वह निगीर्ण न होकर समुद्गीर्ण की प्रक्रिया है— 'समुद्गीर्णो भवति' अर्थात् ऊपर की ओर उठा हुआ होने के कारण गिरि कहा जाता है।<sup>१</sup> निःसन्देह यास्क द्वारा प्रस्तुत निर्वचन में वैज्ञानिकता और पुराणकार द्वारा प्रस्तुत निर्वचन में पौराणिक आख्यान की झलक स्पष्ट है।

(स) शिलोच्चय : (क) 'चयनाच्च शिलोच्चयः' ६/३१ तथा ८/१२

(ख) 'विषमाणि समीकृत्य शिलाभिरचिनोद्गिरिन्' ८/१४

शिलाओं के चयन से शिलोच्चय बना । किन्तु यहाँ भी पुराणकार शिलाओं के चयनकर्ता के रूप में ब्रह्मा की कल्पना कर यह बताना चाहता है कि उसी ने ऊबड़—खाबड़ पृथ्वी को समतल बनाने के लिए शिलाओं को जहाँ—तहाँ एकत्रित कर दिया । वे शिलाओं के ढेर शिलोच्चय या पर्वत कहलाये।

(द) 'नग' : 'न गच्छेति नगः' १०८/२८

सामान्यतः 'न गच्छति इति नगः' शब्द की व्युत्पत्ति है किन्तु 'पुराणकार' ने इसमें एक विशेष कथानक की कल्पना करते हुए इसका निर्वचन दिया है— 'धर्मराजेन संप्रोक्तो न गच्छेति

<sup>१</sup> निरुक्त, १/४

नगः स्मृतः' अर्थात् धर्मराज ने पर्वत से कहा कि 'न गच्छ' — मत जाओ, अतः पर्वत का नाम नग पड़ा।

■ अज : 'अजातत्वादजः स्मृतः' ५/४०

जन्म—रहित अथवा अजन्मा (अ+ज) वायुपुराण में परम पुरुष का वाचक है। कुछ स्थलों पर पुँल्लिंग में छाग (बकरा) का भी वाचक है<sup>१</sup> किन्तु ऐसे स्थलों पर पुराणकार ने 'अज' शब्द का कोई निर्वचन प्रस्तुत नहीं किया। निरुक्तकार ने 'अज शब्द' का निर्वचन 'अजाश्व' इति पूषणमाह अजाश्व । अजाः = अजनाः ॥<sup>२</sup> ही दिया है जो पुराणकार द्वारा प्रस्तुत निर्वचन से मेल खाता है, किन्तु छाग के अर्थ में अ+ज में 'अ' का अर्थ व्यर्थ अथवा निरर्थक माना जाता है— 'व्यर्थं जन्म यस्य सः अजः' ।

■ अम्भ :

अध्येय पुराण में 'अम्भ' शब्द जल के पर्यायवाची के रूप में प्राप्त होता है। इसमें कई स्थलों पर इसके निर्वचन मिलते हैं, जैसे—

(क) आभान्ति यस्मान्नाऽऽभान्ति भासन्तो व्याप्तिदीप्तिषु ॥

सर्वतः समनुप्लाव्य तासां चाम्भो विभाव्यते ॥ ७/५५—५६

(ख) भान्ति यस्मात्ततोऽभांसि भाशब्दोऽयं मनीषिभिः ।

व्याप्तिदीप्त्यां निगदितः पुनश्चाऽऽह प्रजापतिः ॥ ९/२७

उपर्युक्त निर्वचनों में आ+भा (दीप्त्यर्थक) से अम्भस् शब्द की निरुक्ति स्वीकार की गई है जिसके मूल में पैराणिक विश्वास भी दिया गया है कि प्रलयकाल में सम्पूर्ण जगत् के भस्म हो जाने पर केवल जल ही सर्वत्र व्याप्त एवं अपनी प्रभा से भासित थे अतः उनका नाम अम्भस् कहा गया है—

<sup>१</sup> वायु० ४०/२१; १०१/१६४ इत्यादि ।

<sup>२</sup> निरुक्त, ४/४, पृ० १९६

आभान्ति यस्मात्ता भाभिर्भाशब्दो व्याप्तिदीप्तिषु ।

भस्मसर्वमनुप्राप्य तस्मादम्भो निरुच्यते ॥ १००/१८२

- असुर : 'असुः प्राणः स्मृतो विप्रस्तज्जन्मानस्ततोऽसुराः ।' ९/५

असुर = असु+र अर्थात् असु = प्राण से उत्पन्न । यहाँ 'र' का अर्थ उत्पत्ति दिया गया है जो केवल इस पौराणिक मान्यता को पुष्ट करने के लिए है कि 'असुर' ब्रह्मा से उत्पन्न हुए थे।<sup>१</sup>

निरुक्त में इस शब्द का निर्वचन 'असुरा असुरताः । स्थानेष्वस्ताः स्थानेभ्य इति वा । अपि असुरिति प्राणनाम । अस्तः शरीरे भवति । तेन तद्वन्तः । सोर्देवानसृजत तत् सुराणां सुरत्वम् । असोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वम् इति विज्ञायते' दिया गया है।<sup>२</sup> यहाँ अ+सु+र = असुर अर्थात् अपने स्थान पर स्थिर न रहने वाला । अथवा पौराणिक शैली में कहा जा सकता है कि 'स्थानेभ्यः च्युताः' अर्थात् देवताओं ने उन्हें अपने स्थान से च्युत कर रखा है। यास्क ने इसका तीसरा निर्वचन असु = प्राण+र = तद्युक्त = प्राणवान् अथवा असु = कुत्सित स्थान से पैदा होने के कारण असुर किया है।

यास्क द्वारा प्रदत्त इन निरुक्तियों में से दो निरुक्तियाँ वायुपुराण के प्रस्तुत संदर्भ से आश्चर्यजनक रूप से मेल खाती हैं— पहली असु = प्राण से युक्त और दूसरी असु से उत्पन्न। ध्यातव्य है कि 'असुरों' की उत्पत्ति वायुपुराण में ही ब्रह्मा के जघन भाग से बताई गई है जो निन्दित अंग माना गया है। निरुक्त में 'असु' को जघन्य अंग माना गया है।

- अहि : 'हीनत्वादहयः स्मृताः' ९/३५

पुराणकार द्वारा प्रस्तुत इस व्युत्पत्ति में पौराणिक विश्वास को आधार बनाया गया

<sup>१</sup> द्रष्टव्य, वायु० ९/१-४

<sup>२</sup> निरुक्त, ३/५, पृ० १२६

है। 'अहि' जैसी अप्रिय सृष्टि ब्रह्मा के सिर से केशराशि के रूप में स्खलित हो गयी थी। इसलिए हीन होने के कारण 'अहि' बना।

निरुक्त में 'अहि' शब्द सर्प और बादल दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। वहाँ दोनों ही अर्थों में 'अयनात् अहिः'<sup>१</sup> निर्वचन दिया गया है। किन्तु सर्प के अर्थ में एक दूसरा निर्वचन भी निरुक्तकार ने ही प्रस्तुत किया है— 'आहन्ति इति अहिः अर्थात् 'निर्हसितोपसर्ग आहन्तीति' यहाँ आङ् पूर्वक 'हन्' धातु से 'अहि' की निरुक्ति स्वीकार की गई है।

■ आचार्य : स्वयमाचरेत यस्मादाचारं स्थापयत्यपि ।

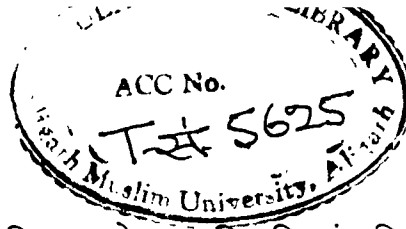
आचिनोति च शास्त्रार्थान्यमैः सन्नियमैर्युतः ॥ ५९/३०

यहाँ वायुपुराणकार ने 'आचार्य' शब्द की निरुक्ति के तीन रूप प्रस्तुत किए हैं—

- (क) 'स्वयमाचरेत यस्मात् अर्थात् वह स्वयं शास्त्रानुमोदित आचरण करता है,
- (ख) 'आचारं स्थापयति' अर्थात् वह शिष्य में आचार की स्थापना करता है अथवा स्वयं अपने आचरण से आचार—परम्परा की स्थापना करता है और;
- (ग) 'आचिनोति शास्त्रार्थान् सन्नियमैर्युतः' अर्थात् यम—नियमों से युक्त होकर वह शास्त्र के अर्थों को चुनता है।

यहाँ पुराणकार आ+ √चर् से अथवा आ+ √चि से आचार्य का निर्वचन स्वीकार करने के पक्ष में हैं। पुराणकार द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त निर्वचन यास्क द्वारा प्रदत्त निर्वचन से प्रभावित है लेकिन निरुक्तकार के निर्वचन में आचार्य के शिष्यहित को प्रमुखता दी गई है— 'आचारं ग्राहयति' के रूप में । यास्क ने 'आचिनोति बुद्धिमिति वा' लिखकर उपर्युक्त शिष्य के समुचित चयन को भी आचार्य की योग्यता के रूप में देखा है किन्तु पुराणकार द्वारा प्रस्तुत तृतीय निर्वचन में आचार्य की बुद्धि को ही प्रमुखता दी गई है।

<sup>१</sup> निरुक्त, २/५, पृ० ९७



- आत्मा : यदाप्नोति यदादत्ते यच्चास्ति विषयं प्रति ॥

तच्चास्य सततं भावस्तस्मादात्मा निरुच्यते ॥ ५/३४-३५

यहाँ आ + √आप, आ + √दा और आ + √अद् इन तीन रूपों में आत्मा का निर्वचन प्रस्तुत किया गया है। चूँकि आत्मा विषयों को प्राप्त करता है या विषयों का आदान करता है या विषयों का भोग करता है अतः उसे आत्मा कहा जाता है।

- आदित्य : (क) वर्णकस्याभिपालनात् आदित्यसंज्ञः कपिलः' ५/४४-४५

(ख) 'आदानादिक्रियाणां तु आदित्य इति चोच्यते' १२/३७

(ग) दिव्यानां पार्थिवानां च नैशानां चैव सर्वशः ।

आदानान्नित्यमादित्यस्तमसां तेजसां महान् ॥ ५३/५३

पुराणकार द्वारा उपर्युक्त तीनों निर्वचनों में प्रथम निर्वचन एकदम अस्पष्ट है । शेष दोनों निर्वचन आ+√दा से स्वीकार किये गये हैं जिनमें तेजोराशि आदित्य के क्रमशः योगशास्त्रीय और लौकिक स्वरूप की ओर इंगित किया गया है।

निरुक्तकार भी आ + √दा से ही आदित्य का निर्वचन करते हैं और उसके 'आदत्ते रसान्' तथा आदत्ते भासं ज्योतिषाम्' यह दो पक्ष प्रस्तुत करते हैं। साथ ही उन्होंने 'आदीप्तो भासेति वा' के रूप में आ+दीप्ति से भी आदित्य का निर्वचन स्वीकार किया है वहीं वह 'अदितेःपुत्रः' लिखकर व्याकरणसम्मत एवं इतिहासपरक निर्वचन भी प्रस्तुत करते हैं।<sup>१</sup>

अध्येय पुराण से कुछ अन्य शब्दों के भी निर्वचन यहाँ संकलित किये जा रहे हैं, यथा—

- उदधि : 'उदकस्याऽऽधानं यस्मात्तस्मादुदधिरुच्यते' ४९/१३२

उद+आ+ √धा

<sup>१</sup> निरुक्त, २/४, पृ० ८८

■ ऋषि : √ऋष् + इ

(क) गत्यर्धादृषयो धातो नामनिर्वृत्तिरादितः ।

तस्मादृषिपरत्वेन महांस्तस्मान्महर्षयः ॥ ८/७४

(ख) ऋषिः सर्वगतत्वाच्च शरीराद्यात्स्वयंप्रभुः ॥ ५/३५

(ग) 'ऋष इत्येव ऋषिणः' । ४९/१२६

(घ) 'ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ।

एतत्संनियतस्तस्मिन्ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः ॥ ५९/७९

(ङ) निर्वृत्तिसमकालं तु बुद्ध्याऽऽव्यक्तमृषिः स्वयम्।

परं हि ऋषते यस्मात्परमर्षिस्ततः स्मृतः ॥ ५९/८०

(च) गत्यर्धादृषतेर्द्धातोर्नामनिर्वृत्तिरादितः ।

यस्मादेष स्वयंभूतस्तस्माच्च ऋषिता स्मृता ॥ ५९/८१

(छ) तस्मात्तु ऋषयस्ते वै भूतादौ तत्त्वदर्शनाः । ५९/८४

यहाँ √ऋष् के गति, श्रुति, सत्य, तपस्या, मोक्ष, प्राप्ति अर्थ दिए गए हैं। पाणिनि धातु

पाठ में √ऋष् के विभिन्न रूपों के अर्थ इस प्रकार दिये गये हैं—<sup>१</sup>

ऋ √१/९२० गतिप्रापणयोः

ऋक्ष् ५/२९ हिंसायाम्

ऋष् १/५७६ संवरणे आदाने च

ऋश् १/गतिस्मृत्योः

<sup>१</sup> पाणिनीयधातुपाठसमीक्षा, (प्रथम भाग), भगीरथ प्रसाद त्रिपाठी 'वागीश', सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी १९८४, द्वि०सं०, पृ० ५१



किन्तु निरुक्त में दर्शनार्थक ऋष् से ऋषि का निर्वचन बताया गया है— ‘ऋषिर्दर्शनात्’<sup>१</sup>।

पुराणप्रोक्त अन्तिम निर्वचन निरुक्तमत के ही समान है।

- ऋत् : ऋतात्तु ऋतवो यस्माज्जजिरे ऋतवस्ततः।’ ३०/२२

ऋत् > ऋत्

- ओम् : ‘अवनादोमांत स्मृतः’ ५/३७ अवन या रक्षण करने से इसे ओम् कहते हैं।

√अव् > ओम्

यहाँ ‘ओम्’ की सर्वरक्षणात्मक शक्ति को इंगित करके यह निर्वचन दिया गया है क्योंकि ओंकार को सर्वदेवमय या परब्रह्म का वाचक माना गया है।

- ‘क’ (अव्यक्त) : ‘क्षेत्रक्षेत्रज्ञविज्ञानादेकत्वाच्च स कः स्मृतः।’ ४/४३

यहाँ विशुद्ध दार्शनिक भाव के आधार पर निर्वचन किया गया है।

- क्रमण : क्रमशः क्रमणीयत्वाद् । ५/४४

यह योगेश्वर या आदित्य का नाम है।

- करी : ‘करात्करी’ ६९/२३३

कर+इकणिच्

- कल्प : कल्पस्याऽदौ तु बहुशो यस्मात्संस्थाश्चतुर्दश ।

कल्पयामास वै ब्रह्मा तस्मात्कल्पो निरुच्यते ॥ ८/७७

√कल्प्

- कवि : ‘कविविक्रान्तदर्शनात्’ ५/४४

तुलनीय—निरुक्त, ‘कविः क्रान्तदर्शनो भवति, कवतेर्वा’ १२/२

- कुञ्जर : ‘कुञ्जरः कुञ्जचारित्वात्’ ६९/२३४

---

<sup>१</sup> निरुक्त, २/३

कुञ्ज + √र

- कुबेर : कुत्सायां क्वितिशब्दोऽयं शरीरं बेरमुच्यते।

कुबेरः कुशरीरत्वान्नाम्ना तेन च सोऽङ्कितः ॥ ७०/३९

कु+बेर

- क्षेत्रज्ञ : 'क्षेत्रज्ञः क्षेत्रविज्ञानाद्' ५/४२

- ख्याति : ख्यातिः प्रत्युपभोगश्च यस्मात्त्वं वर्तते ततः ॥

भोगस्य ज्ञाननिष्ठत्वात्तेन ख्यातिरिति स्मृतः ।

ख्यायते तद्गुणैर्वाऽपि नामादिभिरनेकशः ॥

तस्माच्च महतः संज्ञा ख्यातिरित्यभिधीयते । ४/३४—३६

- गज : 'गर्जनाद्गजः' ६९/२३३

√ गर्ज

- गन्धर्व : धयतीत्येष धातुर्वै पानार्थे परिपद्यते ।

पिबन्तो जज्ञिरे गास्तु गन्धर्वास्तेन ते स्मृताः ॥ ९/४०

- चिति : ज्ञानादीनि च रूपाणि क्रतुकर्मफलानि च ।

चिनोति यस्माद् भोगार्थं तेनासौ चितिरुच्यते । ४/३८

- चन्द्र : बह्वर्थश्चन्द्र इत्येष हलादेन धातुरिष्यते ।

शुक्लत्वे चामृतत्वे च शीतत्वे च विभाव्यते ॥

- छन्द : 'छाद्यतस्तानिच्छन्दांसि' ९/४२

- तनु : सदम्भस्तनुते यस्मात्सर्वा पृथ्वी समन्ततः ॥

धातुस्तनोति विस्तारे तेनाम्भस्तनवः स्मृताः ॥ ७/५६—५७

√ तनु = विस्तारे

- तारका : तीर्णानां सुकृतेनेह सुकृतान्ते ग्रहाश्रयात् ।  
ताराणां तारका ह्येताः शुक्लत्वाच्चैव तारकाः ॥ ५३/५२
- त्रिगुणः : त्रिधा यद्वर्तते लोके तस्मात्त्रिगुण उच्यते । ५/३३
- दन्ती : 'दन्ती दन्ताभ्यां' ६९/२३३  
दन्त + इकणिच्
- देव : यतोऽस्य दीव्यतो जातास्तेन देवाः प्रकीर्तिताः ।  
धातुर्दिवीति यः प्रोक्तः क्रीडायां स विभाव्यते ।  
तस्यां तन्वां तु दिव्यायां जज्ञिरे तेन देवताः ॥ ९/९-१०  
उस दिव्य से उत्पन्न होने के कारण ही वे देवतापदवाच्य हुए।
- धर्म : 'धारणा धृतिरित्यर्थाद्धातोर्धर्मः प्रकीर्तितः ।' ५९/२८  
यहाँ पुराणकार ने धारणार्थक 'धृ' धातु से धर्म की निष्पत्ति बताई है।
- नक्षत्र : 'न क्षीयन्ते पुनस्तानि तस्मान्नक्षत्रता स्मृता ।' ५३/५०
- नर : (क) अरमित्येष शीघ्रं तु निपातः कविभिः स्मृतः ॥  
एकाण्वि भवन्त्यापो न शीघ्रास्तेन ते नराः ॥ ७/५७-५८  
(ख) नानात्वे चैव शीघ्रे च धातुर्वै अर उच्यते ।  
एकाण्वि तदाऽऽपो वै न शीघ्रास्तेन ता नराः ॥ १००/१८३
- नाग : 'नागः नगविरोधतः' ६९/२३४
- नाथ : नाथ इत्येष धातुर्वै धातुज्ञैः पालने स्मृतः ॥  
यस्मादद्भुतस्य लोकस्य भव्यस्य भवतस्तदा ॥  
लोकत्रयस्य नाथस्ते तस्मादिन्द्रा द्विजैः स्मृताः ॥ ६४/१९-२०
- नारायण : (क) 'नराणामयनं यस्मात्तेन नारायणः स्मृतः' । ५/३८  
(ख) 'अप्सु शेते च यत्तस्मात्तेन नारायणः स्मृतः' । ६/५  
(ग) 'आपूर्य नाभिं तत्ताऽऽस्ते तेन नारायणः स्मृतः' । ७/६५

(घ) स वै नारायणाख्यस्तु सत्त्वोद्रिक्तोऽर्णवे स्वपन् । ७/६९

- निषाद : निषीदेत्यब्रवीदेनं पुत्रं शान्तं पितामहः ।

तस्मान्निषादः संभूतः स्वरस्तु स निषादवान् ॥ २१/४६

यह निर्वचन पौराणिक आख्यान के आलोक में दिया गया है।

- पन्नग : 'पन्नत्वात्पन्नाः' ९/३६

√पन् + न + ग

- पिशाच : 'पिशाचाः पिशिताशनात् ।' ९/३९

- पुराण : (क) 'यस्मात्पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत्स्मृतम् । १/२०३

(ख) 'तस्मात्पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन चोच्यते ॥ १०३/५५

- पुरुष : (क) 'यस्मात्पुर्यनुशेते च तस्मात्पुरुष उच्यते । ४/४४

(ख) 'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते । ४/७७

(ग) 'व्यापकस्त्वपवर्गाच्च व्यापित्वात्पुरुषः स्मृतः । १३/२३

(घ) 'पुरि शेते तथाऽग्रे च तस्मात्पुरुष उच्यते । १४/१६

(ङ) 'अत्र शेते च यत्पुर्या क्षेत्रज्ञानमथापि वा ।

पुरीशत्वाच्च पुरुषः क्षेत्रज्ञानात्समुच्यते ॥ ५९/७६

- पुराकल्प : यो ह्यत्यन्तपुरोक्तश्च पुराकल्पः स उच्यते ।

पुरा विक्रान्तवाचित्वात्पुराकल्पस्य कल्पना ॥ ५९/१३७

- पृथिवी : 'दुहितृत्वमनुप्राप्ता पृथिवीत्युच्यते ततः । ६३/३

'पृथोः दुहिता पृथिवी' यह भाव है।

- पृथु : पृथुस्तस्मात्समुत्पन्नः कशस्फालनतेजसः ।

पृथोः करतलाद्वाऽपि यस्माज्जातः पृथुस्ततः । ६२/१२८

- प्रजापति : 'पाति यस्मात्प्रजाः सर्वाः प्रजापतिरतः स्मृतः । ५/४०

- प्रज्ञा : 'तस्माज्जाता ग्रहाश्चैव प्रज्ञा तेन स उच्यते । ४/३७

यह विचित्र निरुक्ति है जिसमें शुद्ध पौराणिक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।

- प्रभास : 'भासितो भास्करेणेति प्रभासः परिकीर्तितः ।' १०८/१३

प्र + भासः

- प्रशंसा : प्रपूर्वाच्छंसतेर्धातोः प्रशंसा गुणवत्तया । ५९/१३५

प्र + √ शंस्

- प्रासाद : प्रसीदति मनस्तासु मनः प्रसादयन्ति ताः ।

तस्माद्गृहाणि शालाश्च प्रासादाश्चैव संज्ञिताः ॥ ८/१२७

- बुद्धि : बुध्यते पुरुषाश्चात्र सर्वभावान्हिताहितान् ।

यस्माद्बोधयते चैव तेन बुद्धि निरुच्यते ॥ ४/३३-३४

- ब्रह्मा : (क) बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च भावानां सलिलाश्रयात् ॥

यास्याद्बृंहयते भावान्ब्रह्मा तेन निरुच्यते ॥ ४/३१-३२

(ख) 'बृहत्वाच्च स्मृतो ब्रह्मा' ४/४३

(ग) 'बृहत्वाद्बृंहणाच्चैव तद्ब्रह्मेत्यभिधीयते । ६१/१०७

- ब्राह्मण : " धातो ब्राह्मणोऽवनात्' ५९/१४१

√ अव्

- भगवान् : " भगवान्भगसद्भावाद्' ५/३६

√ भग+वतुप्

- भव : 'भूतत्वाद्भव उच्यते' ४/४३

√ भू

- भूः, भुवः स्वः — पुराणकार ने इन तीनों लोकों को क्रमशः भू, भवन और भव्य लोक के रूप में स्वीकार कर सत्तार्थक भू धातु से इनकी व्युत्पत्ति मानी है। लेकिन साथ ही उन्होंने भू धातु का 'लोक—दर्शन' अर्थ भी स्वीकार करते हुए भूलोक का निर्वचन इस प्रकार किया है :

भूसत्तायां स्मृतो धातुस्तथाऽसौ लोकदर्शने ।

भूतत्वाद्दर्शनत्वाच्च भूर्लोकोऽयमभूत्ततः ॥

अतोऽयं प्रथमो लोको भूतत्वाद्द्विजैः स्मृतः । ६४/१२

भुवः लोक की निरुक्ति के प्रसंग में पुराणकार ने पौराणिक शैली का आश्रय लेते हुए कहा है कि ब्रह्मा ने द्वितीय उच्चारण 'भवत्' ऐसा किया । नैरुक्तों का प्रमाण देते हुए पुराणकार ने इसी भवत् अथवा भवन् से भुवः का निर्वचन स्वीकार किया है :

भूतेऽस्मिन्भवदित्युक्तं द्वितीयं ब्रह्मणा पुनः ।

भवत्युत्पद्यमानेन कालशब्दोऽयमुच्यते ॥ ६४/१३

भवनात् भुवर्लोको निरुक्तज्ञैर्निरुच्यते ॥

अन्तरिक्षं भुवस्तस्माद् द्वितीयो लोक उच्यते ॥ ६४/१४

इसी प्रकार ब्रह्मा के मुख से तीसरे उच्चरित शब्द भव्य से भावी अर्थात् वर्तमान से आगे के भव्यलोक शब्द का निर्वचन बताया है। मजे की बात है कि पुराणकार भव्य को भी भविष्यत् काल का बोधक धातु स्वीकार करता है।

- भरत : भरणाच्च प्रजानां वै मनुर्भरत उच्यते । ५४/७६

√भृ

- भूत : (क) 'भूतत्वाद्भूत उच्यते । ५/४२

(ख) 'भूतत्वान्ते स्मृता भूताः । ९/३९

- मति : बिभर्ति मानं मनुते विभागं मन्यतेऽपि च ।

पुरुषोपभोगसंबन्धात्तेन चासौ मतिः स्मृतिः ॥ ४/३०—३१

- मन : मनु सर्वभूतानां यस्माच्चेष्टाफलं विभुः ।

सौक्ष्मत्वेन विवृद्धानां तेन तन्मनः उच्यते ॥ ४/२८—२९

- मंत्र : 'मन्त्रो मन्त्रयतेः' ५९/१४१

- मातंग : 'मत्वा गातीति मातंगः' ६९/२३४

- मेघ : " मेहनाच्च मिहेर्धातोर्मैघत्वं व्यञ्जयन्ति च ।" ५१/२७

- मार्तण्ड : मार्तण्ड शब्द की निरुक्ति में पुराणकार ने विशुद्ध पौराणिक परम्परा की दुहाई देते हुए कहा है कि मृताण्ड से उत्पन्न होने के कारण पिता (कश्यप) द्वारा 'मार्तण्ड हो जाओ' ऐसा कहने के कारण विवस्वान् मार्तण्ड कहलाया । ८४/२९-३०
- यक्ष : (क) येऽब्रुवन्क्षिणुमोऽम्भांसि तेषां हृष्टाः परस्परम् ।  
तेन ते कर्मणा यज्ञा गुह्यकाः क्रूरकर्मिणः ।  
य एष क्षितिधातुर्वै क्षयणे सन्निरुच्यते ॥ ९/३२-३३  
(ख) यक्ष इत्येष खादने कृषणे च सः ।  
यक्षयत्युक्तवान्यस्माश्वस्मायक्षो भवत्ययम् ॥ ६९/१००
- यज्ञ : इज्यत्वादुच्यते यज्ञः । ५/४४
- रति : लब्ध्वा तु पुरुषः पत्नीं शतरूपामयोनिजाम् ॥  
तया स रमते सार्धं तस्मात्सा रतिरुच्यते ॥ १०/१२-१३  
 $\sqrt{\text{रम्}} = \text{रमते अस्याम् इति ।}$
- रवि : अवति त्रीनिर्माल्लोकाँन्यस्मात्सूर्यः परिभ्रमन् ।  
अवधातुः प्रकाशाख्यो ह्यवनात्स रविः स्मृतः ॥ ५०/६०
- राक्षस : (क) अम्भांस्येतानि रक्षाम उक्तवन्तश्च तेषु च ।  
राक्षसास्ते स्मृता लोके क्रोधात्मानो निशाचराः ॥ ९/३१  
रक्षणे पालने चापि धातुरेष विभाव्यते ॥ ९/३३  
(ख) रक्ष इत्येष धातुर्यः पालने स विभाव्यते ।  
उक्तवांश्चैव यस्मात्तु रक्ष मे मातरं खशाम् ॥  
नाम्नाऽयं राक्षसस्तस्माद् भविष्यति तवाऽऽत्मजः ॥ ६९/१०१
- राग : 'रागः रागस्य शाशनात्' ५/३६  
ऐसी निरुक्तियों में धातु स्पष्ट नहीं है। केवल पौराणिक विश्वास को आधार बनाया गया है।
- रावण : 'रावणाद्रावणस्तु सः' ७०/४४

- रुद्र : (क) 'रोदनाद् द्रवणाच्चैव रुद्रानाम्नेति विश्रुताः ।' ९/८०  
 (ख) 'रोदनात्खलु रुद्रास्ते रुद्रत्वं तेन तेषु तत् ।' २५/६८  
 (ग) 'अहंकाराद्गुदत्तरुद्रः' ३१/३२  
 (घ) 'ध्यायतो ब्रह्मणो वक्त्राद्गुदन्समभवद्भवः' । ३१/५३
- लोमहर्षण : लोमानि हर्षयांचक्रे श्रोतृणां यत्सुभाषितैः ।  
 कर्मणा प्रथितस्तेन लोकेऽस्मिँल्लोमहर्षणः ॥ १/१६
- वर्ष : 'वृषः शक्ति प्रबन्धने, इतिप्रबन्धनात्सिद्धं वर्षत्वं तेन तेषु तत्' । ४९/१२५
- वसुधा : 'वसु धारयते यस्माद्वसुधा तेन चोच्यते ।' ६३/१
- वारण (हाथी) : 'वरणाद्वारणः' ६९/२३३
- विष्णु : (क) 'स्वामित्वमस्य तत्सर्वं विष्णुः सर्वप्रवेशनात्।' ५/३६  
 (ख) 'यस्माद्विष्टमिदं सर्वं वामनेनेह जायता ।  
 तस्मात्स वै स्मृतो विष्णुर्विशधातोः प्रवेशनात्॥' ६६/१३७
- शाला : बुद्ध्वाऽन्विष्यंस्तथा न्यायो वृक्षशाखा यथा गताः ।  
 तथा कृतास्तु तैः शाखास्तस्माच्छालास्तु ताः स्मृताः ॥  
 एवं प्रसिद्धः शाखाभ्यः शालाश्चैव गृहाणि च ।  
 तस्मात्ता वै स्मृताः शालाः शालात्वं चैव तासु तत्॥ ८/१२५-१२६
- शिष्ट : 'शेषशब्दाच्छिष्ट इति' ५९/३३
- श्रौत : 'श्रवणाच्छ्रौतः' ५९/३९
- सन्त : सदिति ब्रह्मणः शब्दस्तद्वन्तो ये भवन्त्युत ॥  
 सायुज्यं ब्राह्मणोऽत्यन्तं तेन सन्तः प्रचक्षते । ५९/१९
- समुद्र : 'अपां चैव समुद्रेकात्समुद्रा इति संज्ञिताः' ४९/१२४
- सर्प : 'सर्पाश्चैवापसर्पिणः' ९/३६



- सविता : सुवति स्यन्दनार्थे च धातुरेष विभाव्यते ।  
सवनात्तेजसोऽपां च तेनासौ सविता मतः ॥ ५३/५४
- संविद : तस्माद्विन्दोर्विदश्चैव संविदित्यभिधीयते ।  
विद्यते स च सर्वस्मिन् सर्वं तस्मिंश्च विद्यते ॥  
तस्मात्संविदिति प्रोक्तो महान्वै बुद्धिमत्तरैः ॥ ४/४०-४१
- साधु : विद्यायाः साधनात्साधुर्ब्रह्मचारी गुरोर्हितः ।  
क्रियाणां साधनाच्चैव गृहस्थः साधुरुच्यते ॥  
साधनात्तपसोऽरण्ये साधुर्वैखानसः स्मृतः ।  
यतमानो यतिः साधुः स्मृतो योगस्य साधनात् ॥  
एवमाश्रमधर्माणां साधनात्साधवः स्मृताः । ५९/२३-२५
- सामज (हाथी) : 'सामजः सामजातत्वाद्' ६९/२३४
- स्कन्द : 'स्कन्दिता दानवगणास्तस्मात्स्कन्दः प्रतापवान्' ७२/४२
- स्थाणु : 'स्थितोऽस्मीति ततः स्थाणुरिति स्मृतः' । १०/६४
- स्मार्त : 'स्मरणात्स्मार्त उच्यते' ५९/३९
- स्मृति : वर्तमानान्यतीतानि तथा चानागतान्यपि ॥  
स्मरते सर्वकार्याणि तेनासौ स्मृतिरुच्यते । ४/३८-३९
- स्वयम्भू : (क) नोत्पादितत्वात्पूर्णत्वात्स्वयंभूरिति चोच्यते । ४/४४  
(ख) नोत्पादितत्वात्पूर्वत्वात्स्वयंभूरिति स स्मृतः । ५/४३
- हस्ती : 'हस्ताद् हस्ती' ६९/२३३
- हिरण्यगर्भ : हिरण्यमस्य गर्भोऽभूद्धिरण्यस्यापि गर्भजः ॥  
तस्माद्धिरण्यगर्भः स पुराणेऽस्मिन्निरुच्येत । ५/४५-४६
- हेतु : हेतुर्हितेः स्मृतो धातोर्यन्निहन्त्युदितं परैः ।  
अथवार्थपरिप्राप्तेर्हि नोतेर्गतिकर्मणः ॥ ५९/१३३

संक्षेप में कहा जा सकता है कि आलोच्य पुराण में यत्र—तत्र शब्दों की व्युत्पत्ति (लोकनिरुक्ति एवं निर्वचन) गुणकर्मादि के अनुसार हुई है। साथ ही इस पुराण के अध्ययन से यह भी विदित हो जाता है कि पुराण वाङ्मय तक निर्वचन—प्रक्रिया पर्याप्त रूप में विकसित हो चुकी थी।

### पारिभाषिक शब्द :

समीक्ष्य पुराण में यत्र—तत्र बहुत से विशिष्ट शब्दों की व्याख्या या परिभाषा का पुराणकार ने उल्लेख किया है। पुराणगत कतिपय व्याख्यात पद इस प्रकार हैं; यथा—

- ✧ अधर्म : अमंगल आचरण अधर्म है।<sup>१</sup>
- ✧ अनुमति पूर्णिमा : जिस रात्रि के संधिभाग में पूर्णिमा तिथि हो, पूर्ण चन्द्रमा का प्रकाश हो उसे अनुमति पूर्णिमा कहते हैं।<sup>२</sup>
- ✧ अमावस्या : जिस समय चन्द्रमा तथा सूर्य एक ही पन्द्रहवीं रात्रि को तथा एक ही मण्डल में समान नक्षत्र पर होते हैं उसे अमावस्या कहते हैं।<sup>३</sup>
- ✧ अलंकार : अपने — अपने वर्णों एवं पद समूहों के विशेष संयोग से संगठित होने को अलंकार कहते हैं।<sup>४</sup>
- ✧ अवरोहण : जिस वर्ण की निम्न गति होती है उसे अवरोहण वर्ण कहते हैं।<sup>५</sup>
- ✧ आचार्य : जो वृद्ध, लोभ—विहीन, आत्मनिष्ठ, दम्भरहित, विपुल, विद्यावान्, विनम्र, तथा सरल हो वह आचार्य है।<sup>६</sup>
- ✧ आरोहण : उन्नतिशील वर्ण को आरोहण कहते हैं।<sup>७</sup>
- ✧ आर्तव : द्विपद, चतुष्पद, पक्षी, सरीसृप और स्थावरादि पञ्चभौतिक के पुण्यकाल को

<sup>१</sup> वायु० ५९/२७—२८

<sup>२</sup> तत्रैव, ५६/४०

<sup>३</sup> तत्रैव, ५६/६; १५२

<sup>४</sup> वायु०, ८७/२

<sup>५</sup> तत्रैव, ८७/४

<sup>६</sup> तत्रैव, ५९/२९

<sup>७</sup> तत्रैव, ८७/८

आर्तव कहते हैं।<sup>१</sup>

☆ इन्द्रिय : साधक या कारण को इन्द्रिय कहते हैं।<sup>२</sup>

☆ ऋषि : जो गमन, मोक्ष, प्राप्ति, ज्ञान, श्रुति, सत्य एवं तपस्या— इन अर्थों से समन्वित होकर परब्रह्म में निरत रहता है, उसे ऋषि कहते हैं। सृष्टि के आदि काल में चूँकि स्वयमेव उत्पन्न हुए अतः उन्हें भी ऋषि कहा जाता है।<sup>३</sup>

☆ कला : निमेषोन्मेष (पलक गिरना और उठना) काल को कला या मात्रा कहते हैं।<sup>४</sup>

☆ क्षमा : जो मनसा, वाचा, कर्मणा सब प्रकार अपकारों को सहन कर लेता है उसके इस व्यवहार को क्षमा कहा जाता है।<sup>५</sup>

☆ क्षेत्रज्ञ : क्षेत्र का सम्यक् ज्ञान होने के कारण पुरुष को क्षेत्रज्ञ कहा जाता है।<sup>६</sup>

☆ जगत् : सूर्य—चन्द्र से प्रकाशित तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से जो युक्त है वह जगत् है।<sup>७</sup>

☆ जितात्मा : जो दस प्रकार के विषयों एवं आठ प्रकार के कारणों में फँसकर कभी क्रुद्ध नहीं होता वह जितात्मा है।<sup>८</sup>

☆ त्याग : सर्वथा परित्याग ही त्याग है।<sup>९</sup>

☆ दम : ब्रह्मचर्य—नियमों का पूर्णरूपेण पालन दम है।<sup>१०</sup>

☆ दया : हित एवं अहित करने वाले सभी प्रकार के जीवों में अपने समान दृष्टि रखना दया है।<sup>११</sup>

☆ दर्श : जिस अमावस्या तिथि को चन्द्रमा और सूर्य एक ही समान नक्षत्र में समागत होकर एक—दूसरे को देखते हैं उसे दर्श कहते हैं।<sup>१२</sup>

<sup>१</sup> वायु०, ३०/२३

<sup>२</sup> तत्रैव, ४/१६१

<sup>३</sup> तत्रैव, ५९/७९—८१

<sup>४</sup> तत्रैव, ११/२१

<sup>५</sup> तत्रैव, ५९/४४

<sup>६</sup> तत्रैव, ५९/७६—७७,

<sup>७</sup> तत्रैव, ४१/८९

<sup>८</sup> तत्रैव, ५९/२०, ४८

<sup>९</sup> तत्रैव, ५९/५३

<sup>१०</sup> तत्रैव, ५९/४६

<sup>११</sup> तत्रैव, ५९/४३

<sup>१२</sup> तत्रैव, ५६/४४

- ☆ दान : न्याय—मार्ग से प्राप्त, अतिप्रिय वस्तु को गुणवानों को समर्पित करना ही दान है।  
यह दान भी तीन प्रकार का होता है; (अ) कनिष्ठ दान : स्वार्थ सिद्धिहेतु दान, (ब) मध्यम दान : समस्त जीवों तथा बन्धु—बान्धवों को करुणावश दिया गया दान तथा (स) ज्येष्ठ दान: निःश्रेयस् प्राप्ति हेतु दिया गया दान।<sup>१</sup>
- ☆ द्विजाति : सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के धर्मों से अनुमोदित आचरण वाले ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य द्विजाति कहलाते हैं।<sup>२</sup>
- ☆ दीप्ति : अलौकिक सामर्थ्यप्राप्त को दीप्ति कहते हैं।<sup>३</sup>
- ☆ देवर्षि : कल्याणकारी देवलोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाले ऋषिगणों को देवर्षि कहते हैं।<sup>४</sup>
- ☆ धर्म : श्रुतियों, स्मृतियों द्वारा अनुमोदित, वर्णाश्रम सम्बन्धी शिष्टाचारानुमत, सत्पुरुषों एवं साधुओं द्वारा आचरित सत्कर्म धर्म है।<sup>५</sup>
- ☆ धारणा : मन की धारणा को ही धारणा कहते हैं।<sup>६</sup>
- ☆ निन्दा : केवल दोषप्रदर्शनपूर्वक दूसरे के वाक्य की स्पष्ट शब्दों में भर्त्सना निन्दा है।<sup>७</sup>
- ☆ निर्लोभता : स्वामी द्वारा न खाई जानेवाली एवं छोड़ी या पड़ी हुई परकीय वस्तु को ग्रहण न करना निर्लोभता है।<sup>८</sup>
- ☆ न्यग्रोध : दोनों बाहुओं तथा व्याम (फैलाई गई दोनों भुजाओं के बीच का परिमाण ) को न्यग्रोध कहते हैं।<sup>९</sup>
- ☆ न्यग्रोध मण्डल : जिस शरीरधारी के शरीर की ऊँचाई अपने व्याम के परिमाण के समान होती है उसके उस शुभ लक्षण को न्यग्रोधमण्डल कहते हैं।<sup>१०</sup>
- ☆ परकृति : किसी दूसरे द्वारा उक्त होने के कारण विधि को परकृति कहा जाता है।<sup>११</sup>

---

<sup>१</sup> वायु०, ५९/४९—५०

<sup>२</sup> तत्रैव, ५९/२१

<sup>३</sup> तत्रैव, ११/९

<sup>४</sup> तत्रैव, ६१/८५, ८८

<sup>५</sup> तत्रैव, ५९/२७, २९, ५१

<sup>६</sup> तत्रैव, ११/२९

<sup>७</sup> तत्रैव, ५९/१३४

<sup>८</sup> तत्रैव, ५९/४५

<sup>९</sup> तत्रैव, ५७/६७

<sup>१०</sup> तत्रैव, ५७/६७

<sup>११</sup> तत्रैव, ५९/१३६

- ☆ पुराकल्प : जो अत्यन्त प्राचीनकाल में व्यतीत हो चुका है उसे पुराकल्प कहते हैं।<sup>१</sup>
- ☆ पूर्णिमा : जिस दिन के तीसरे प्रहर में चन्द्रमा और सूर्य पूर्णरूप में व्यतीपात की भाँति परस्पर एक—दूसरे को देखते हैं; पूर्णिमा कहते हैं।<sup>२</sup>
- ☆ प्रत्याहार : विषयों से निवृत्ति पाने को प्रत्याहार कहते हैं।<sup>३</sup>
- ☆ प्रतिसन्धि : पूर्वकल्प के बीत जाने पर उस अतीत कल्प को प्रतिसन्धि कहते हैं।<sup>४</sup>
- ☆ प्रशंसा : गुणवत्ता प्रकट करना प्रशंसा है।<sup>५</sup>
- ☆ प्रशान्ति : इहामुत्र हितार्थ लोभ और अश्रेयस्कर अभिमानादि पापवृत्तियों का जिससे संयम हो उस तपस्या को प्रशान्ति कहते हैं।<sup>६</sup>
- ☆ प्रसाद : इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, मन और पञ्चवायु जिससे प्रसन्न हों उसे प्रसाद कहते हैं।<sup>७</sup>
- ☆ प्राणायाम : प्राण—विस्तार, गति तथा प्राणापानादि वायु के निरोध को प्राणायाम कहते हैं।<sup>८</sup>
- ☆ ब्रह्मचर्य : मैथुन का व्यवहार न करना, मन से भी उसकी चिन्तना एवं कल्पना न करना तथा भोग—विलास आदि अन्य वस्तुओं से सच्ची निवृत्ति ही ब्रह्मचर्य है।<sup>९</sup>
- ☆ ब्रह्मर्षि : ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठा ब्रह्मर्षि पद है।<sup>१०</sup>
- ☆ बोधात्मक : अखण्ड बुद्धि से संयुक्त पुरुष को बोधात्मक कहा जाता है।<sup>११</sup>
- ☆ महर्षि : जो बुद्धि के पारदर्शी (परमबुद्धिमान्) तथा धैर्यशाली विद्वान्गण सभी गुणों में महान् एवं महान् के सान्निध्य को प्राप्त करते हैं वे महर्षि कहे जाते हैं।<sup>१२</sup>
- ☆ महान् : जो किसी मान (परिमाण) द्वारा मापा न जा सके वही महान् होता है।<sup>१३</sup>

---

<sup>१</sup> वायु०, ५९/१३७

<sup>२</sup> तत्रैव, ५६/४३

<sup>३</sup> तत्रैव, ११/३०

<sup>४</sup> तत्रैव, ७/९

<sup>५</sup> तत्रैव, ५९/१३५

<sup>६</sup> तत्रैव, ११/७

<sup>७</sup> तत्रैव, ११/१०

<sup>८</sup> तत्रैव, १०/७८, ७९; ११/२९

<sup>९</sup> तत्रैव, ५९/४६

<sup>१०</sup> तत्रैव, ६१/८७

<sup>११</sup> तत्रैव, ५९/८९

<sup>१२</sup> तत्रैव, ५९/८२

<sup>१३</sup> तत्रैव, ५९/८२

- ☆ यज्ञ : पशु, द्रव्य, हवनीय, पदार्थ, ऋक्, साम और यजुर्वेद के मंत्र, पुरोहित और दक्षिणा—इनके संयोग का नाम ही यज्ञ है।<sup>१</sup>
- ☆ राका : पूर्णिमा तिथि को चन्द्रमा अत्यन्त सुप्रकाशित होता है अतः चन्द्रमा के रंजन के कारण ही उसे कवि लोग राका कहते हैं।<sup>२</sup>
- ☆ राजर्षि : प्रजाओं का रंजन करते हुए उनकी बुद्धि एवं भावनाओं तक पहुँचते हैं अतः उनकी राजर्षि संज्ञा होती है।<sup>३</sup>
- ☆ राजा : प्रजावर्ग का रंजन करने के कारण राजा कहे जाते हैं।<sup>४</sup>
- ☆ विधि : निश्चयात्मक कथन को विधि कहते हैं।<sup>५</sup>
- ☆ शम : अपने अथवा दूसरों के लिये जिसकी इन्द्रियाँ मिथ्या विषयों में अभिनिविष्ट नहीं, वह व्यवहार शम है।<sup>६</sup>
- ☆ शान्ति : भयंकर, अकल्याणकारक कर्म से उत्पन्न कुत्सित पापसमूह का जिससे नाश होता है वह शान्ति है।<sup>७</sup>
- ☆ शिष्टाचार : शिष्ट लोगों के आचार को शिष्टाचार कहते हैं।<sup>८</sup>
- ☆ श्राद्ध : मनुष्य द्वारा श्रद्धापूर्वक दी गई वस्तुएँ श्राद्ध हैं।<sup>९</sup>
- ☆ श्रुतर्षि : श्रुत—ज्ञान (शास्त्रीय ज्ञान) के सम्यक् विश्लेषण करने वाले श्रुतर्षि कहे जाते हैं।<sup>१०</sup>
- ☆ संचारी : विभिन्न प्रकार के भावों में जिसका संचरण होता है वह संचारी वर्ण कहलाता है।<sup>११</sup>
- ☆ सन्त : जो लोग ब्रह्मनिष्ठ एवं ब्रह्म का अत्यन्त सायुज्य प्राप्त करते हैं सन्त कहलाते हैं।<sup>१२</sup>

---

<sup>१</sup> वायु०, ५९/४२

<sup>२</sup> तत्रैव, ५६/४१

<sup>३</sup> तत्रैव, ६१/८७

<sup>४</sup> तत्रैव, ५७/५८

<sup>५</sup> तत्रैव, ५९/१३६

<sup>६</sup> तत्रैव, ५९/४७

<sup>७</sup> तत्रैव, ११/५—६

<sup>८</sup> तत्रैव, ५९/३३

<sup>९</sup> तत्रैव, ७१/१७

<sup>१०</sup> तत्रैव, ५९/८६

<sup>११</sup> तत्रैव, ८७/७

<sup>१२</sup> तत्रैव, ५९/१९

- ✧ संशय : यह वस्तु यह है, यह वस्तु यह नहीं है, इस प्रकार का अनिश्चय करना संशय कहलाता है।<sup>१</sup>
- ✧ सत्य : जो व्यक्ति घटित घटना को देखकर पूछे जाने पर कुछ भी नहीं छिपाता, उसको ज्यों का त्यों प्रकट कर देता है, उसके व्यवहार को सत्य कहते हैं।<sup>२</sup>
- ✧ सप्तर्षि : जो सत्य के पुजारी, महातेजस्वी, ऋषिगण, पंचतन्मात्राओं एवं सत्य पर निर्भर रहने वाले हैं, सप्तर्षि कहे जाते हैं।<sup>३</sup>
- ✧ सिद्ध : दूर की ध्वनि सुनने की शक्ति, देवताओं का दर्शन और अभ्रान्ति सिद्ध का लक्षण कहा गया है।<sup>४</sup>
- ✧ सूत्र : अल्पाक्षर, असन्दिग्ध, व्यर्थ के आडम्बरों एवं दोष से शून्य विस्तृत सार अर्थ को प्रकट करने वाले वाक्य सूत्र हैं।<sup>५</sup>
- ✧ स्थायी : एक ही प्रकार के भाव वर्ण में जिसका संचरण होता है वह स्थायी वर्ण है।<sup>६</sup>
- ✧ स्वरमण्डल : संगीतशास्त्र में सात स्वर, तीन विराम, इक्कीस मूर्च्छनाएँ, उनचास ताल

होते हैं, यही स्वर मण्डल है।<sup>७</sup>

- ✧ स्वेदज : चन्द्रमा, सूर्य, और अग्नि से तप्त भूमि में तथा मेघ—प्रसिक्त तृणों में जो जन्तु उत्पन्न होते हैं वे स्वेदज कहे जाते हैं।<sup>८</sup>
- ✧ स्मार्त धर्म : बीते हुए मन्वन्तरों में उत्पन्न होने वाले लोगों के आचारों का स्मरण कर वर्तमान मन्वन्तर के लोगों को उपदेश करना, इस प्रकार वर्णाश्रम—विभाग से संयुक्त धर्म को स्मार्त धर्म कहा जाता है।<sup>९</sup>

<sup>१</sup> वायु०, ५९/१३५

<sup>२</sup> तत्रैव, ५९/४०

<sup>३</sup> तत्रैव, ५९/८५

<sup>४</sup> तत्रैव, १२/६—७

<sup>५</sup> तत्रैव, ५९/१४२

<sup>६</sup> तत्रैव, ८७/७

<sup>७</sup> तत्रैव, ८६/३६

<sup>८</sup> तत्रैव, ६९/३००—३००१

<sup>९</sup> तत्रैव, ५९/३२

इसी प्रकार और भी अनेकानेक पद हैं जिनका कि वायुपुराणकार ने लक्षण दिया है । अध्याय चार में महान् के विभिन्न पर्यायवाची पदों का लक्षण दिया गया है तथा अध्याय पाँच में त्रिगुण, चतुर्व्यूह, आत्मा, प्रभु, भगवान्, ओम्, त्रैलोक्य आदि पदों को व्याख्या सहित प्रस्तुत किया गया है, जो कि विशिष्ट ज्ञान का परिचायक है।

पुराणों की भाषा के सम्बन्ध में पं० माधवाचार्य शास्त्री<sup>१</sup> ने एक अलग ही राय व्यक्त की है। उनके अनुसार भारतीय शास्त्रों का रहस्य उनकी विशिष्ट भाषाओं में छिपा हुआ है। उन्होंने भारद्वाज संहिता (?) के आधार पर समाधि, लौकिकी और परकीया—भाषा के तीन भेद प्रतिपादित कर पुराणों में इन तीनों का प्रयोग दर्शाया है। उनके अनुसार अवाङ्मनसोगोचर रहस्यों के वर्णन में समाधि—भाषा का प्रयोग हुआ है। यथा—

अजामेतां लोहितां शुक्लकृष्णां विश्वं संप्रसृजमाना सुरूपां ।

अजोऽहं वै बुद्धिमान्विश्वरूपां गायत्री गां विश्वरूपां हि ॥ (२३/५७)

अव्यक्ताकरणं यत्तु नित्यं सदसदात्मकम् ॥

प्रधानं प्रकृतिं चैव यमाहुस्तत्त्वचिन्तकाः ।

गन्धवर्णरसैर्हीनं शब्दस्पर्शविवर्जितम् ॥

अजातं ध्रुवमक्षय्यं नित्यं स्वात्मन्यवस्थितम् । इत्यादि । (४/१८..)

पुराणों में गहन तत्त्व लौकिकी—भाषा द्वारा प्रकट किये गये हैं। जिन सन्दर्भों में किसी धार्मिक गूढ़ रहस्य को प्रकट करने के लिए लौकिक पद्धति का अनुसरण किया गया हो, ऐसे तात्पर्यप्रधान आलंकारिक वर्णनों को 'लौकिकी भाषा' में निबद्ध माना है, यथा वायुपुराण में—

दिव्यौ सुपर्णौ सयुजौ सशाखौ पटविद्रुमौ ॥

एकस्तु यो द्रुमं वेत्ति नान्यः सर्वात्मनस्ततः ॥ (९/११९) ।

यहाँ जीव और ब्रह्म रूपी दोनों पक्षियों के अभिन्न सम्बन्धों को पुराणकार ने लौकिकी शैली या लोकव्यवहार के अनुरूप प्रस्तुत किया है अतः लौकिकी भाषा का स्पष्ट निदर्शन है।

<sup>१</sup> द्रष्टव्यः पुराण—दिग्दर्शन, पृ० २६१—२८३.



पुराणगत आख्यानो की भाषा इसी वर्ग के अन्तर्गत रखी जा सकती है। आख्यानो के माध्यम से, अस्पष्ट रूप से लौकिकी भाषा में उच्चादर्शो की शिक्षा दी गई है।

असम्भवाभासोपलक्षित रूपक में परकीया—भाषा का प्रयोग हुआ है। जो सन्दर्भ प्रत्यक्ष में अटपटे प्रतीत होते हैं और बातें न कभी सुनीं और न देखीं—ऐसी लोकोत्तर एवं असम्भव—सी जँचने वाली भाषा द्वारा जहाँ गूढ़तम वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निरूपण किया गया हो, वह 'परकीया भाषा' समझनी चाहिए।

सहस्रशीर्षा सुमनः सहस्रपात्सहस्रचक्षुर्वदनः सहस्रभुक् ।  
 सहस्रबाहुः प्रथमःप्रजापतिस्त्रयीपथे यः पुरुषो निरुच्यते ॥  
 आदित्यवर्णो भुवनस्य गोप्ता एको ह्यपूर्वः प्रथमं तुराषाट् ।  
 हिरण्यगर्भः पुरुषो महात्मा स पद्यते वै तमसः परस्तात् ॥

(वायु० ७/६६—६७)

द्यौर्मूर्धानं यस्य विप्राः स्तुवन्ति खं नाभिवै चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे ।  
 दिशः श्रोत्रे चरणौ चास्य भूमिः सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रसूतिः ॥  
 वक्त्रादस्य ब्राह्मणाःसंप्रसूता यद्वक्षस्तः क्षत्रियाः पूर्वभागे ॥  
 वैश्याश्चोरोर्यस्य पद्भ्यां च शूद्राः सर्वे वर्णा गात्रतः संप्रसूताः ॥

(तत्रैव ९/१२०—१२१)

### काव्यशास्त्रीय अनुशीलन

यद्यपि 'पुराण' काव्य से भिन्न प्रकार का साहित्य है और उसका उद्देश्य भी काव्यशास्त्रियों द्वारा स्वीकृत काव्य के उद्देश्यों से भिन्न है फिर भी चूँकि पुराणों की रचना पद्यबद्ध अथवा छन्दोबद्ध है, अतः उसमें लय और भाव के साथ—साथ काव्यात्मकता का समावेश स्वतः हो गया है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए महाभारत जैसे इतिहास ग्रन्थ और पुराणों में भी न केवल काव्यशास्त्रीय तत्त्व ढूँढ़ने की परम्परा है अपितु इनके काव्यात्मक

अनुशीलन की ओर भी विद्वान् आकृष्ट हुए हैं।

संस्कृत अलंकारशास्त्र की परम्परा यद्यपि 'भरत' से प्रारम्भ हो जाती है तथापि उसे सुव्यवस्थित रूप भामह और अग्निपुराण के युग में मिल सका । भामह और अग्निपुराण के पौर्वापर्य तथा पारस्परिक आदान—प्रदान के सम्बन्ध में विद्वानों में मत—वैभिन्य है। चूँकि अग्निपुराण में स्वतंत्र रूप से इन विषयों का विवेचन प्राप्त होता है और हमारा अध्येय विषय पुराण ही है, अतः आलोच्य पुराण का काव्यात्मक अनुशीलन भी अग्निपुराणोक्त काव्यालंकारानुशीलन के परिप्रेक्ष्य में करना उचित रहेगा । फिर भी, कहीं—कहीं भामह और दण्डी के परिप्रेक्ष्य में भी यह अनुशीलन करने का प्रयास किया गया है।

### अलंकार—विधान

पुराण—काव्य जनसामान्य के लिए लिखा गया काव्य है जिसमें सरलता एवं नैसर्गिकता को महत्त्व दिया गया है। यद्यपि अलंकरण की प्रवृत्ति वहाँ दिखाई नहीं देती तथापि इनमें अनेक अलंकारों का समावेश स्वाभाविक रूप से हो गया है। पुराणों के स्तोत्र—भाग में तो उच्चकोटि के चित्र काव्य के दर्शन होते हैं।

आलोच्य पुराण में शब्दालंकार और अर्थालंकारों में अनुप्रास, यमक, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, लोकोक्ति, अतिशयोक्ति, विभावना, विशेषोक्ति, प्रशस्ति, औचित्य, संक्षेप आदि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग विशेष रूप से अवलोकनीय है। कुछ अलंकारों के उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

#### १. अनुप्रास :

पद और वाक्य में वर्णों की आवृत्ति को अनुप्रास कहते हैं,<sup>१</sup>यथा—

(क) चारुश्च चारुभद्रश्च भद्रचारुस्तथाऽपरः ॥

<sup>१</sup> स्यादावृत्तिरनुप्रासो वर्णानां पदवाक्ययोः । अग्निपुराणोक्त काव्यालंकारशास्त्र । ७/१७

चारुविन्ध्यश्च रुक्मिण्यां कन्या चारुमही तथा।<sup>१</sup>

यहाँ 'चारु' पद की आवृत्ति अनेक बार होने से अनुप्रास है।

(ख) वरा वरेण्या वरदा वरार्हा वरवर्णिनी ।

वरमा वरभद्रा च रम्यास्तस्मिन्पुरोत्तमे ॥<sup>२</sup>

प्रस्तुत उद्धरण में 'व' तथा 'र' वर्ण की आवृत्ति अनेक बार होने से अनुप्रास अलंकार है।

(ग) यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं यदिदं स्मृतम् ।

यदज्ञानाज्जगद्भाति यस्मिज्ज्ञाते जगन्न हि ॥<sup>३</sup>

यहाँ 'य' वर्ण की आवृत्ति होने से अनुप्रास अलंकार है।

## २. यमक :

भिन्न—भिन्न अर्थों का प्रतिपादन करने वाले पदों की आवृत्ति को यमक अलंकार कहते हैं<sup>४</sup> ।

कामश्चार्थेन संबद्धस्तेनार्थं कामयामहे।

कामप्रश्नधना विप्राः कामप्रश्नान्वदामहे ॥<sup>५</sup>

प्रस्तुत श्लोक में पहले 'काम' का अर्थ है 'धन' और दूसरे 'काम' का अर्थ है 'कामना' या 'इच्छा' अतः यमक अलंकार है।

## ३. उपमा :

जहाँ पर उपमान और उपमेय में अन्तर होते हुए भी सदृशता बतायी जाती है और उस सदृशता के आधार पर ही लोक—व्यवहार का प्रवर्तन होता है, उसे उपमा अलंकार कहते हैं।

<sup>१</sup> वायु० , १६/२३७ —२३८

<sup>२</sup> तत्रैव, १०१/२४३

<sup>३</sup> तत्रैव, १०४/३४

<sup>४</sup> अनेकार्थावृत्तिर्या भिन्नार्थपतिपादिका । काव्यालंकारशास्त्र २/२७ (अग्निपुराणकार ने अनुप्रास के द्वितीय भेद अनेकवर्णावृत्ति को ही यमक अलंकार कहा है।)

<sup>५</sup> वायु०, ६०/५४

उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और उपमावाचक शब्द—ये उपमा के चार अंग होते हैं।<sup>१</sup> प्रस्तुत पुराण में उपमा की छटा अनगिनत स्थलों पर देखने को मिलती है; कतिपय उद्धरण इस प्रकार हैं —

(क) ततो मन्दतरं ताभ्यां चक्रं भ्रमति वै यथा।

मृत्पिण्ड इव मध्यस्थो ध्रुवो भ्रमति वै तथा ॥<sup>२</sup>

प्रस्तुत पद्य में दिशाओं के मध्य मन्दगति से घूमते हुए ध्रुव की तुलना धीमी गति वाले चक्र के मृत्पिण्ड से की गयी है, अतः उपमा अलंकार है।

(ख) तत्किमर्थं भयोद्विग्ना मृगाः सिंहार्दिता इव।<sup>३</sup>

यहाँ भयभीत सुरगणों की तुलना सिंह से डरे हुए हरिणों से की गई है, अतः उपमा अलंकार है।

(ग) स वै वेगं समुद्रस्य प्रावृत्कालाम्बुजेक्षणः ।

क्रीडन्निव मुखोद्विग्नः प्रावृत्कालं चकार ह ॥<sup>४</sup>

यहाँ अर्जुन के सुन्दर नेत्रों की तुलना वर्षाकालीन कमल से तथा उसके द्वारा रोके गये समुद्र के वेग की तुलना असमय में आने वाले वर्षाकाल से की गई है, अतः उपमा है।

(घ) अम्बरीषमिवाऽऽभाति सर्वं मारीषितं जगत्।

सर्वमेव तदाऽर्चिभिः पूर्णं जाज्वल्यते नभः ॥<sup>५</sup>

प्रस्तुत श्लोक में प्रचण्ड तेज से सन्तप्त जगत् की तुलना जलते हुए भाड़ से की गई है।

<sup>१</sup> अग्निपुराणोक्त काव्यालंकारशास्त्र, ७/६-७ (अग्निपुराणकार ने उपमा को सादृश्यालंकार का प्रथम भेद कहा है।)

<sup>२</sup> वायु०, ५०/१४८

<sup>३</sup> तत्रैव ५४/५५

<sup>४</sup> तत्रैव, ९४/२७

<sup>५</sup> तत्रैव, १००/१५२

(ङ) तैलपीडाकरं चक्रं भ्रमद्भ्रमायते यथा।

तथा भ्रमन्ति ज्योतीषि वातबद्धानि सर्वशः ॥<sup>१</sup>

प्रस्तुत उद्धरण में वायु द्वारा आबद्ध सर्वत्र घूमते ज्योतिर्मण्डल को स्वयं घूमते हुए तथा दूसरों को घुमाने वाले कोल्हू के चक्के के समान कहा गया है, अतः उपमा है।

#### ४. उत्प्रेक्षा :

जहाँ पर अन्यरूप में प्रस्तुत चेतन और अचेतन वस्तु की स्थिति अन्यरूप से उपस्थित (अर्थात् उपमेय में उपमान की सम्भावना) की जाय, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है,<sup>२</sup> जैसे—

(क) जटाकरालो द्युतिमाल्लक्ष्यते शयनासने ।

विस्तीर्ण इव मेदिन्यां सहस्रशिखरो गिरिः ॥<sup>३</sup>

प्रस्तुत उद्धरण में नागराज के विशालकाय भयंकर जटाओं से युक्त शरीर (उपमेय) में सहस्रशिखर वाले विशालपर्वत (उपमान) की संभावना की गयी है अतः उत्प्रेक्षा है।

(ख) अभिभाष्यस्तदा हृष्टो महादेवो महेश्वरः ।

वक्त्रकोटिसहस्रेण प्रसमान इवाम्बरम् ॥<sup>४</sup>

प्रस्तुत श्लोक में शिव की शतमुखों द्वारा आकाश को निगलते हुए रूप में सम्भावना की गयी है अतः उत्प्रेक्षा है।

(ग) ज्योतिष्कं नाम सावित्रं सर्वरत्नविभूषितम् ॥

तस्मिन्देवो गिरिश्रेष्ठे सर्वधातुविभूषिते ॥

पर्यंक इव विभ्राजन्नुपविष्टा बभूव ह ।<sup>५</sup>

<sup>१</sup> वायु०, ५२/८९ उपमा की दृष्टि से अन्य स्थल—१/४१, ५/९—१०; १०/८४, ८५, ८८/८९; ४१/५३, ६९/६१; ७३/८; ९०/३८, १००/१४५; ३०/१३१; ६९/२२८, १०१/७९, १०२/३८, ११/१९, २६; १४/१६, १९/२१—२९; १६/२०, २०/३४; ३०/७२—७३; ३४/२२; ५१/७२; ५२/८३ इत्यादि।

<sup>२</sup> अग्निपुराणोक्त काव्यालंकारशास्त्र, ८/२४

<sup>३</sup> वायु० ५०/५१

<sup>४</sup> तत्रैव, ५५/५२

<sup>५</sup> तत्रैव, ३०/८१—८२

प्रस्तुत उद्धरण में ज्योतिः शिखर पर विराजमान शिव की कल्पना पलंग पर बैठे व्यक्ति के रूप में की गयी है, अतः उत्प्रेक्षा है।

(घ) मेरुस्तु शोभते शुभ्रो राजवत्स तु धिष्ठितः ॥  
तरुणादित्यवर्णाभो विधूम इव पावकः ॥<sup>१</sup>

प्रस्तुत पद्य में मेरु पर्वत की शोभा की कल्पना बिना धूँ की आग से की गयी है, अतः अत्प्रेक्षा है।

#### ५. दृष्टान्त :

उपमान, उपमेय, उनके विशेषण और साधारण धर्म आदि का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होने पर दृष्टान्तालंकार होता है; जैसे—

चकार क्षोभयन्नाजा दोःसहस्रेण सागरम्।  
देवासुरपरिक्षिप्तं क्षीरोदमिव सागरम्॥

यहाँ अमृतमन्थन के समय देवताओं और दानवों द्वारा विक्षुब्ध क्षीरसागर उपमान, अर्जुन द्वारा विक्षुब्ध सागर उपमेय का बिम्ब—प्रतिबिम्बभाव सम्बन्ध होने से दृष्टान्त है।

#### ६. रूपक :

जहाँ पर उपमान और उपमेय में अतिशय सादृश्य बताने के लिए दोनों में काल्पनिक अभेद बतलाया जाय वहाँ रूपक अलंकार होता है;<sup>२</sup> जैसे—

(क) स वेदपाद्यूपदंष्ट्रः क्रतुवक्षाश्चितीमुखः ।  
अग्निजिह्वी दर्भरोमा ब्रह्मशीर्षो महातपाः ॥  
अहोरात्रेक्षणधरो वेदाङ्गश्रुतिभूषणः ।  
आज्यनाशः सुवतुण्डः सामघोषस्वनो महान् ॥.....<sup>३</sup>

<sup>१</sup> तत्रैव, ३४/४८-४९ उत्प्रेक्षा अलंकार के अन्य उदाहरण—३५/७; ७२/३४; ७९/६३-६४; ८८/५५; ५६ आदि।

<sup>२</sup> अग्निपुराणोक्त काव्यालंकारशास्त्र, ८/२२-२३ (अग्निपुराणकार ने रूपक अलंकार को भी सादृश्य अलंकार के अन्तर्गत परिगणित किया है)।

<sup>३</sup> वायु० ६/१५-२१

प्रस्तुत उद्धरण में वराह की दंष्ट्रा में यूप, वक्षःस्थल में यज्ञ, मुख में चित्ति, जिह्वा में अग्नि आदि का आरोप होने से रूपक है।

(ख) बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियाङ्कुरकोटरः ।

महाभूतप्रशाश्वश्च विशेषैः पत्रवांस्तथा ।

धर्माधर्मसुपुष्पस्तु सुखदुःखफलोदयः ॥<sup>१</sup>

प्रस्तुत श्लोक में स्कन्ध (उपमेय) में बुद्धि (उपमान) का, कोटर में इन्द्रियगणों का, शाखा—‘प्रशाखा’ में महाभूतों का, पत्रों में विशेष (तत्त्व) का, पुष्पा में धर्माधर्म का और फलों में सुख—दुःख का आरोप होने से रूपक है।

(ग) प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म गुहायां निहितं पदम् ॥<sup>२</sup>

प्रस्तुत उद्धरण में धनुष में ओंकार का, बाण में आत्मा और लक्ष्य में ब्रह्म का तथा एकाक्षर ब्रह्म में ओंकार का, गुहा में बुद्धि का अभेद आरोप होने से रूपक है।

(घ) द्यौर्मूर्धानं यस्य विप्राः स्तुवन्ति खं नाभिर्वै चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे ॥

दिशः श्रोत्रे चरणौ चास्य भूमिः सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रसूतिः ॥<sup>३</sup>

प्रस्तुत पद्य में उपमेय—सिर, नाभि, नेत्र, कान और चरण में क्रमशः उपमान—भूलोक, आकाश, चन्द्र—सूर्य, दिशाओं और भूमि का आरोप होने से रूपक अलंकार है।

### ७. अतिशयोक्ति :

जहाँ पर किसी वस्तुधर्म की सीमा का अतिक्रमण करके वर्णन किया जाय उसे अतिशयोक्ति अलङ्कार कहते हैं<sup>४</sup>; जैसे—

(क) संवत्सरस्य पर्यन्ते स निःश्वासं प्रमुञ्चति ।

<sup>१</sup> तत्रैव, ९/११४—११५

<sup>२</sup> वायु०, २०/५—६

<sup>३</sup> तत्रैव, ९/१२० अन्य स्थल : ५०/५५, ५२/६७, ९४/२८, ९७/११, ९७/२० आदि ।

<sup>४</sup> अग्निपुराणोक्त काव्यालंकारशास्त्र, ८/२५

यदा यदा मही तत्र चलति स्म सकानना ॥  
 तस्य निःश्वासवातेन रज उद्धूयते महत् ।  
 आदित्यपथमावृत्य सप्ताहं भूमिकम्पनम् ॥  
 सविस्फुङ्गि सज्ज्वालं सधूममतिदारुणम् ।<sup>१</sup>

यहाँ धुन्धु (उपमेय) की एक श्वास से उपमान — जंगलों की अग्नि समेत पृथ्वी का हिलना, धूल से सूर्य के मार्ग का घिर जाना, पृथ्वी का काँपना, अग्नि की चिनगारियों का उठना आदि —की अतिशयिता द्योतित होने से अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

(ख) तस्य बाहुसहस्रस्य बभूव ज्यातलस्वनः ।  
 युगान्तेऽम्बुदवृक्षस्य स्फुटितस्थाशनेरिव ॥<sup>२</sup>

प्रस्तुत उद्धरण में उपमेय (प्रत्यज्वा के टड्कार) का उपमान (युगान्त के समय बिजली गिरने और प्रलयंकर बादलों के भयावने शब्दों के साथ) का अतिशयिता से वर्णन किया गया है, अतः यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार है।

उपर्युक्त अलंकारों के अतिरिक्त और भी अनेक अलंकार यहाँ प्रयुक्त हुए हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि पुराण में काव्यात्मक सौन्दर्य का सर्वथा अभाव नहीं है। पुराणकार ने सूत जी के माध्यम से स्तुति, ऐश्वर्य—वर्णन, गन्धर्वों के रूप—वर्णन आदि प्रसंगों में उपमाओं की झड़ी लगा दी है। इसके लिए उपमान पुराणकार ने प्रकृति, लौकिक एवं सामान्य जीवन से, सुखद एवं भयानक वातावरण से ग्रहण किये हैं। यहाँ रूपकों की छटा भी शोभनीय है। अतिशयोक्तिपूर्ण विचित्र वर्णनों के होने पर भी यथार्थता का अभाव नहीं है। संक्षेप में, वायुपुराण की अलंकार—योजना प्राचीन एवं मौलिक है।

<sup>१</sup> वायु०, ८८/३८-४०

<sup>२</sup> वायु०, ९४/३७



### छन्दोविधान

काव्य में गुणालंकारादि की तरह छन्दोविधान भी अनिवार्य है। 'छन्द' कविता का नैसर्गिक परिधान है। छन्दों का महत्त्व इसलिए भी है क्योंकि इसके द्वारा भावसंप्रेषण में लालित्य आता है तथा कठिन से कठिन भावों को छन्दों के माध्यम से सर्वजन—ग्राह्य बनाने में सरलता अनुभूत की जाती है। वायुपुराण<sup>१</sup> में 'छन्दस्' की निरुक्ति इसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालती है।

मुख्यतः सभी पुराण पद्यमय हैं। कुछ पुराण ऐसे भी हैं जिसमें पद्य के साथ—साथ गद्य भी मिलता है किन्तु वे अंश प्रक्षिप्त माने जाते हैं। पद्यात्मक होने के कारण ये पुराण छन्दोबद्ध हैं। वायुपुराण भी इसी कोटि का छन्दोबद्ध पुराण है। छन्दोत्पत्ति के सन्दर्भ में इस पुराण के नवें अध्याय में पुराणकार ने सकल, त्रैष्टुभ्, कर्म, स्तोम, पञ्चदश बृहत्साम, उक्थ्य इत्यादि को ब्रह्मा के पूर्व मुख से; साम, जगती छन्द के पन्द्रह प्रकार के भेद वैरूप्य, अतिरात्र इत्यादि को पश्चिम मुख से और इक्कीस प्रकार का अथर्व, आप्तोर्यामाण, अनुष्टुप्, वैशज आदि को उनके उत्तर मुख से उत्पन्न माना गया है।<sup>२</sup> किन्तु इनमें एकाध ही छन्द इस पुराण में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ प्रधानता केवल एक ही छन्द को दी गई है, वह है —अनुष्टुप्। इसके अतिरिक्त इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वंशस्थ, शालिनी, आर्या, प्रहर्षिणी, उपजाति आदि छन्द भी यत्र—तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। कहीं—कहीं इन छन्दों में किञ्चित् नियम भंगता के भी दर्शन होते हैं। वायुपुराण में प्रयुक्त कुछ छन्दों के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

<sup>१</sup> छाद्यतस्तानिच्छदासि । वायु०, ९/४२

<sup>२</sup> छंदासि त्रैष्टुभं कर्म स्तोमं पञ्चदशं तथा।

बृहत्साममथोक्यं च दक्षिणात्सोऽसृजन्मुखात्।

सामानि जगती छन्दः स्तोतं पञ्चदशं तथा।

वैरूप्यमतिरात्रं च पश्चिमादसृजन्मुखात् ।

एकविंशमथर्वाणमाप्तोर्यामाणमेव च ॥

अनुष्टुभं सवैराजमुत्तरादसृजन्मुखात् । तत्रैव, ९/४९—५२

## १. आर्या :

इसके प्रथम व तृतीय चरण में बारह—बारह मात्राएँ, द्वितीय चरण में अठारह तथा चतुर्थ चरण में पन्द्रह मात्राएँ होती हैं; यथा—

जयति पराशरसूनुः सत्यवतीहृदयनन्दनो व्यासः।

यस्याऽऽस्यकमलगलितं वाङ्मयममृतं जगत्पिवति ॥<sup>१</sup>

## २. इन्द्रवज्रा :

इस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः दो तगण (ऽऽ।), एक जगण (।ऽ।) तथा दो गुरु (ऽऽ) होते हैं। यह छन्द इस पुराण में सनियम एवं नियम—भंगता के साथ कई स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है; यथा—

(i) यस्यां च बद्धा प्रथमा प्रवृत्तिः, प्राधानिकी चेश्वरकारिता च ।

यत्तस्मृतं कारणमप्रमेयं, ब्रह्मप्रधानं प्रकृतिप्रसूतिः ॥<sup>२</sup>

(ii) आत्मागुहा योनिरथापि चक्षुः क्षेत्रं तथैवामृतमक्षरं च ।

शुक्रं तपः सत्त्वमभिप्रकाशं तद्व्यष्टिनित्यं पुरुषं द्वितीयम् ॥<sup>३</sup>

ये द्वापरेषु प्रथयन्ति वेदान्व्यासांश्च तेऽत्र क्रमशो निबद्धाः ।

कल्पस्य संख्या भुवनस्य संख्या ब्राह्मस्य चाप्यत्र दिनस्य संख्या ॥<sup>४</sup>

(iii) सत्त्वं तथाऽऽरोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रभा सुस्वरसौम्यता च ।

गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिः प्रथमा शरीरे ॥<sup>५</sup>

(iv) सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।

अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥<sup>६</sup> इत्यादि ।

<sup>१</sup> वायु०, १/२

<sup>२</sup> तत्रैव, २/९

<sup>३</sup> तत्रैव, २/१०

<sup>४</sup> तत्रैव, २/२१

<sup>५</sup> तत्रैव, ११/६३

<sup>६</sup> तत्रैव, १२/३३

### ३. उपेन्द्रवज्रा :

प्रस्तुत छन्द के चारों चरणों में क्रमशः जगण, तगण, जगण और अन्त में दो गुरु होते हैं; यथा—

- (i) अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं महेश्वरः सर्वमिदं पुराणम्।  
स सर्गकाले च करोति सर्गं संहारकाले पुनराददीत ॥<sup>१</sup>
- (ii) निवेदितं पुष्पफलादियुक्तं मया च गीतं चतुराननेन ।  
कथामिमां पुण्यफलादियुक्तां निवेद्य देव्याः शशिवद्धमूर्धजः ।<sup>२</sup>
- (iii) चतुर्महास्यं सिततीक्ष्णदण्डं महोग्रतेजोबलपौरुषाढ्यम्।  
युगान्तसुर्याग्निसहस्रभासं सहस्रचन्द्रामलकान्तिकान्तम् ॥<sup>३</sup> इत्यादि ।

### उपजाति :

इस छन्द के प्रथम व तृतीय चरण में इन्द्रवज्रा और द्वितीय तथा चतुर्थ चरण में उपेन्द्रवज्रा होता है; जैसे—

तच्छास्त्रयुक्त्या स्वमतिप्रयत्नात्समस्तमाविष्कृतधीधृतिभ्यः ।

विप्रा ऋषिभ्यः समुदाहृतं यद्यथातथं तच्छृणुतोच्यमानम् ॥<sup>४</sup> आदि ।

### ४. वंशस्थ :

इस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण, तगण, जगण और रगण (5। 5) होते हैं, यथा—

- (i) सहस्रशीर्षा सुमनः सहस्रपात्सहस्रचक्षुर्वदनः सहस्रभुक्।  
सहस्रबाहुः प्रथमः प्रजापतिस्त्रयीपथे यः पुरुषो निरुच्यते ॥<sup>५</sup>

<sup>१</sup> वायु०, १/२०५

<sup>२</sup> तत्रैव, ५४/११५—११६

<sup>३</sup> तत्रैव, ३०/१३०

<sup>४</sup> तत्रैव, ३/२४

<sup>५</sup> तत्रैव, ७/६६; १००/१८६

छन्द के प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं। इसमें षष्ठ अक्षर सदा गुरु होता है और पञ्चम लघु । सप्तम अक्षर, द्वितीय और चतुर्थपाद में लघु तथा प्रथम और तृतीय पाद में गुरु होता है। शेष अक्षर लघु या गुरु हो सकते हैं; जैसे—

- (i) नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।  
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥<sup>१</sup>
- (ii) नारायणः सर्वमिदं विश्वं व्याप्य प्रवर्तते ।  
तस्यापि जगतः स्रष्टुः स्रष्टा देवो महेश्वरः ॥<sup>२</sup>
- (iii) नराणामयनं यस्मात्तेन नारायणः स्मृतः ।  
त्रिधा विभज्य स्वात्मानं त्रैलोक्यं संप्रवर्तते ॥<sup>३</sup>

### स्तुतियों में छन्दोयोजना :

पुराणगत स्तुतियाँ भी छन्दोबद्ध हैं। इनमें कुछ स्तुतियाँ तो ऐसी हैं जिनमें आदि से अन्त तक एक ही छन्द का प्रवाह दिखाई देता है<sup>४</sup> और कुछ स्तुतियाँ ऐसी भी हैं जिनमें प्रत्येक श्लोक के बाद छन्द परिवर्तन हुआ है।<sup>५</sup> संभवतः जब भक्त अपनी वित्तवृत्तियों को एकाग्र करके समाधि की अवस्था में भगवान् की स्तुति करता है तब उसकी वाणी एक ही छन्द का आश्रय ग्रहण करती है और जब वह व्याकुलता, आतुरता या हर्षातिरेक की अवस्था में स्तुति करता है तो उसकी वाणी में विभिन्न छन्दों की झलक देखने को मिलती है।

विष्णुप्रोक्त शिव—स्तोत्र,<sup>६</sup> ब्रह्मा द्वारा शिव—स्तुति,<sup>७</sup> भद्रकालीस्तव,<sup>८</sup> वसिष्ठकृत

<sup>१</sup> वायु०, १/१

<sup>२</sup> तत्रैव, १/२०४

<sup>३</sup> तत्रैव, ५/३८ आदि।

<sup>४</sup> दक्ष द्वारा शिव—स्तुति में आदि से अन्त तक अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग हुआ है—तत्रैव ३०/१८१—२८६

<sup>५</sup> ब्रह्मा, विष्णु द्वारा शिव—स्तुति में अनुष्टुप्, उपेन्द्रवज्रा, वंशस्थ छन्द प्रयुक्त हुए हैं—तत्रैव, ५५/३१—५०

<sup>६</sup> तत्रैव, २४/९१—१६७ (१६५—१६६ श्लोकों को छोड़कर)।

<sup>७</sup> तत्रैव, ५४/६६—७८

<sup>८</sup> तत्रैव, ९/८५—९३

कार्तिकेय—स्तुति,<sup>१</sup> कार्तिकेय के नामों का स्तवन,<sup>२</sup> सप्तर्षिष—स्तोत्र,<sup>३</sup> शुक्राचार्य—प्रोक्त शिव—स्तुति (देव—स्तोत्र),<sup>४</sup> ब्रह्मा, शिव आदि द्वारा विष्णु—स्तुति<sup>५</sup> आदि स्तुतियाँ 'अनुष्टुप्' छन्द में हैं। नीलकण्ठोपाख्यान के अन्तर्गत दैत्य—उरग—रक्षस और देवगण द्वारा शिव—स्तुति<sup>६</sup> में 'इन्द्रवज्रा' छन्द का प्रयोग हुआ है।

संक्षेप में, अध्येय पुराण के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि पुराणकार छन्दों के बाह्य स्वरूप से ही परिचित नहीं थे प्रत्युत उनकी अन्तःप्रवृत्तियों को भी समझते थे। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ—एक दोषों को छोड़कर इस पुराण की छन्दोयोजना प्रशंसनीय है। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से कुछ स्थलों पर छन्दोभङ्ग भी दिखाई देता है लेकिन वह पुराण की लोकप्रिय शैली में ढक जाता है। इसे पौराणिक वाङ्मय की विशेषता ही कहा जा सकता है।

### रस—योजना

सुहृत्सम्मितोपदेश होने के कारण अध्येय पुराण में यथावसर सभी रसों का सफल एवं सोद्देश्य प्रयोग प्राप्त होता है। यद्यपि आदि से अन्त तक 'भक्ति' प्रधान होने के कारण 'भक्तिरस' की प्रधानता इस पुराण में स्वीकार की जा सकती है। कुछ विद्वान् इसका मुख्य उद्देश्य 'मोक्ष' स्वीकार कर 'शान्त' रस को भी प्रमुखता दे सकते हैं। वायुपुराणगत विभिन्न रसों के कुछ उद्धरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

### भक्ति रस :

विभिन्न स्तोत्रों के अन्तर्गत इस रस का आस्वादन किया जा सकता है...

<sup>१</sup> वायु०, ५४/२२—२४

<sup>२</sup> तत्रैव, ७२/४९

<sup>३</sup> तत्रैव, ७९/१६२—२०२

<sup>४</sup> तत्रैव, ७४/२१—२८

<sup>५</sup> तत्रैव, १०६/१०—११

<sup>६</sup> तत्रैव, ५४/९८—१००

नमस्तुभ्यं भगवते सुव्रतेऽनन्ततेजसे ।

नमः क्षेत्राधिपतये बीजानि शूलिने नमः ॥

X X X

सर्वाय महतेऽजाय नमः सर्वगताय च ।

जनाय च नमस्तुभ्यं तपसे वरदाय च ॥

X X X

कीर्तितं तव माहात्म्यमपारं परमात्मनः ॥

शिवो नो भव सर्वत्र योऽसि सोऽसि नमोऽस्तुते । ( २४/९१-१६७ )

### शान्त रस :

स्तोत्रों के अन्तर्गत जहाँ भक्त का संसार से वैराग्य और ईश्वर में लीन होने का प्रसंग है वहाँ शान्त रस है। अन्यत्र भी इसके उद्धरण देखे जा सकते हैं—

जराया बहवो दोषा यानभोजनकारिणः ।

तस्माज्जरां न ते राजन्प्रहीतु महमुत्सहे ॥

X X X

अशक्तः कार्यकरणे परिभूतस्तु यौवने ।

महोपभीर्तिभश्चैव तां जरां नाभिकामये ॥ ( ९३/३२-३४ )

### संयोग शृंगार रस :

यस्मिन्नहमवासीति ? दर्शयमास तं नृपम् ।

ततः आविर्बभूवुस्ताः पञ्चचूडाप्सरास्तु ताः ॥

दृष्ट्वा तु राजा तां प्रीतः प्रलापान्तकुरुते बहुन् ।

आयाहि तिष्ठ मनसा घोरे वचसि तिष्ठ हे ॥

एवमादीनि सूक्ष्माणि परस्परमभाषत ।

उर्वशी त्वब्रवीच्चैलं सर्गर्भाऽहं त्वया प्रभो ॥ ( ९१/३५-३७ )

### वियोग शृंगार रस :

किं न पश्यसि रे मूढं मदमूढं विरुध्य माम् ।

क्व गताऽसि वरारोहे धिक्ते (ङ्मे) जीवितमीहशम् ॥

अथापश्यच्च तां राजा कुरुक्षेत्रे महाबलः । ( ९१/३२ )

हास्य रस :

वज्रस्फटिकसोपानचित्रपट्टशिलातलैः ।

व्याघ्रसिंहमुखैश्चान्यैर्गजवाजिमुखैस्तथा ॥

X X X

बहुनेत्रैर्महानेत्रैरेकनेत्रैनेत्रकैः ।

एवं विधैर्महायोगी भूतैर्भूतपतिर्वृतः ॥ (५४/३९-४३)

रौद्र रस :

(क) आश्रमः कश्च वाऽन्योऽस्ति को वा धर्मविधिस्तव ।

मामनादृत्य दुबुद्धै यदात्थ नवदेशिक ॥

X X X

यस्त्वं मे हृदयाज्जातो वयः स्वयं न प्रयच्छसि ॥

तस्मान्न राजभाग्मूढ प्रजा ते वै भविष्यति ॥ ( ९३/३६-३९ )

(ख) चुकोप भार्गवस्तेषामवलेपने वै तदा ।

बोधिताऽपि मया यस्मान्न मां भजत दानवाः ॥

तस्मात्प्रनष्टसंज्ञा वै पराभवं गमिष्यथ ।

इति व्याहृत्य तान्काव्यो जगामाथ मथागतम् ॥ (९८/३६-३७)

भयानक रस :

(क) सुगसुरैर्मध्यमाने पाथोधौ च महात्मभिः ।

भुजङ्गभृङ्गसंकाशं नीलजीमूतसंनिभम् ॥

X X X

दृष्ट्वा तं रक्तगौराङ्गं कृतं कृष्णं जनार्दनम् ।

भीताः सर्वे वयं दैवास्त्वामेव शरणं गताः ॥ ( ५४/५७-६० )

(ख) ममाऽऽश्रमसमीपेषु समेषु मरुधन्वसु ।

समुद्रो वालुकापूर्णस्ततत्र तत्रतिष्ठति भूपते ॥

X X X

संवत्सरस्य पर्यन्ते स निश्वासं प्रमुञ्चति ।

यदा यदा मही तत्र चलति स्म सकानना ॥

X X X

सविस्फुलिङ्गं सज्वालं सधूममतिदारुणम् ।

तेन रजन्न शक्नोमि तस्मिन्स्थातुं स्व आश्रमे ॥ (तत्रैव, ८८/३५-४०)

बीभत्स रस :

शूलनिर्भिन्नबदनैः कूजद्भिः परिवारिकैः ।

निखातोत्पाटितैर्यूपैरपविद्धैर्यतस्ततः ॥

उत्पतद्भिः पतद्भिश्च गृधैरामिषगृध्रुभिः ।

पक्षपातविनिर्धूतैः शिवाशतनिनादितैः ॥ (३०/१६९-१७०)

काव्यात्मक सौन्दर्य :

प्रस्तुत पुराण काव्यात्मक सौन्दर्य से भी परिपूर्ण है। यद्यपि ऐसे स्थल बहुत कम है तथापि स्तुति, ऐश्वर्य—वर्णन, गन्धर्वों के रूप—वर्णन में काव्यात्मकता का पूर्ण स्पर्श है। भुवन—विन्यास प्रसंगों में यत्र—तत्र प्राकृतिक सौन्दर्य की छटा सर्वत्र विकीर्ण है। काव्य सौन्दर्य एवं प्राकृतिक निरीक्षण के कतिपय उद्धरण इस प्रकार हैं; यथा—

(क) चन्द्रतुल्यप्रभैः कान्तैश्चन्द्रकारैः सुलक्षणैः ।

श्वेतवैदूर्यकुमुदैश्चित्रोऽसौ कुमुदप्रभः ॥

अनेकचित्रकोद्यानो नैकनिर्झरकन्दरः ।

महासानुदरी कुञ्जैर्विविधैः समलंकृतः ॥ (४५/५४-५५)

(ख) बलयाङ्गदकेयूरहारकुण्डलभूषिताः ।

स्रग्विर्णाश्चित्रमुकुटाश्चित्राच्छादनवाससः ॥ (४५/४५)

(ग) अनेकाभिः स्रवन्तीभिराप्यायितजलाशिवा ।

एवं शैलसहस्राणि सादयन्ती महानदी ॥

पारिजाते महाशैले निपपाताशुगामिनी ॥ (४२/५३-५४)

(घ) तस्य कुक्षिष्वनेकासु भ्रान्ततोया तरङ्गिणी ।

व्याहृत्यमानसंवेगा गण्डशैलैरनेकशः ।



संविद्यमान सलिला गता च धरिणी तले ॥ (तत्रैव, ४२/५५-५६)

### शैली

पुराण वाङ्मय भारतीय जनमानस में अतीव लोकप्रिय रहा है किन्तु यह भी सत्य है कि जहाँ परम्परागत विद्वानों ने ‘इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थं समुपवृंहयेत्’ कहकर पुराणों को वेदार्थ का पूरक माना है और आधुनिक विद्वानों ने भी उन्हें भारतीय संस्कृति के विश्वकोश के रूप में स्वीकार किया है, वहीं महर्षि दयानन्द सरस्वती आदि ने इन्हें कपोल—कल्पित, विशुद्ध गणों का पुलन्दा और वैदिक संस्कृति के विधातक रूप में देखा है। महर्षि दयानन्द सरस्वती आदि का मन्तव्य भले ही सोद्देश्य रहा हो, किन्तु पुराणों की रहस्यमयी शैली ने उन्हें यह अवसर दिया, यह सुनिश्चित है। पुराणों की वर्णन शैली जहाँ एक ओर सरल, सर्वजन—हृदयावर्जक, अतिशयोक्तिपूर्ण और रोमांचकारी है, वहीं गूढ़ और रहस्यपूर्ण भी है। पुराण सम्पूर्ण मानवजाति का सच्चा मित्र है। उसका मुख्य उद्देश्य साधारण —से—साधारण व्यक्तियों को लोक व्यवहार का सम्यग् ज्ञान कराकर सन्मार्ग में प्रवृत्त करना है। पुराणों के इस उद्देश्य को भारतीय काव्याचार्यों ने भलीभाँति पहिचान कर ही उन्हें ‘सुहृत्सम्मित’ कहा है<sup>१</sup> और उनकी शैली को ‘अर्थतात्पर्यवत्’ माना है। इस प्रकार उन्होंने पौराणिक वर्णनों का रहस्य वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ स्वीकार न कर तात्पर्यार्थ स्वीकार किया है। प्रस्तुत प्रसंग में अर्थ का अभिप्राय ‘प्रयोजन’ लेने पर यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है कि पुराणों का तात्पर्यार्थ उसके प्रयोजन में सन्निहित है। ‘प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते ।’ अतः पुराणों के प्रयोजन को बिना समझे उसके वास्तविक अर्थ को जानना असम्भव ही है।

आजकल शैलीविज्ञान आलोचनाशास्त्र का एक प्रमुख एवं स्वतन्त्र विषय हो गया है। भारतीय साहित्य में शैलीविज्ञान के लिए ‘रीति’ शब्द का प्रयोग होता रहा है और उसे कुछ ने

<sup>१</sup> सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च.....काव्यप्रकाश, १/२ वृत्तिभाग ।

तो 'काव्य की आत्मा' भी स्वीकार किया है।<sup>१</sup> संस्कृत काव्यशास्त्र में इसका समुचित विकास न हो सका और इसे मात्र 'वर्णसंघटनाविशेष' के रूप में ही प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकी। यहाँ वर्ण से न केवल 'वर्ण' अपितु शब्द, वाक्य, भाषा और वाक्यार्थादि का भी ग्रहण अपेक्षित है। कदाचित् इसीलिए राजशेखर ने रीति को 'वचनविन्यासक्रम'<sup>२</sup>, कहा और भोज ने उसे 'बुद्ध्यारम्भ' के रूप में देखा। अग्निपुराणकार ने तो 'वाग्विद्या के सम्प्रत्यभिज्ञान'<sup>३</sup> को रीति कहा है जो रीति के विस्तृत स्वरूप को स्पष्ट करता है। आनन्दवर्धन ने रस (मम्मट के शब्दों में सकलप्रयोजनमौलिभूत) के साथ-साथ वक्ता, वाच्य और विषय के औचित्य को रीति का नियामक तत्त्व स्वीकार किया है।<sup>४</sup> रीति अथवा परम्परा का भी अपना विशेष महत्त्व होता है। अतः संस्कृत काव्यशास्त्रोक्त का रीतिविज्ञान की दृष्टि से भी पुराणों का रहस्य समझने के लिए हमें न केवल वर्णसंघटनाविशेष पर ही अपितु वचनविन्यासक्रम, पुराणकार का बुद्ध्यारम्भ, प्रयोजन, अर्थ, विषय, परम्परा जैसे तथ्यों पर भी ध्यान देना होगा। वस्तुतः वाग्विद्या के सम्प्रतिज्ञान के लिए उक्त सभी तथ्यों का प्रौढ़ ज्ञान अपेक्षित है।

### परम्परा :

पुराण —परम्परा शास्त्रीय नियमों के कठोर बन्धन से रहित, पूर्णतया लोकानुगामिनी, सूतकुलों के कण्ठ से विनिःसृत है जिसमें अन्य कुलों या विद्वानों के लिए कोई स्थान नहीं है। यह न केवल वेदों से भी प्राचीन है, अपितु प्राचीनतम होकर भी समय-समय पर नये-नये विषयों के समावेश के कारण यह सदा नई बनी रहती है— 'पुरां नवं भवति'। अतः इसमें

<sup>१</sup> रीतिरत्ना काव्यस्य : वामन, काव्यालंकारसूत्राणि, २/६, पृ० ४

<sup>२</sup> 'वचनविन्यासक्रमो रीतिः, काव्यमीमांसा, तृतीय अध्याय ।

<sup>३</sup> 'वाग्विद्या सम्प्रतिज्ञाने रीतिः' अग्नि० ३४०/१

<sup>४</sup> ध्वन्यालोक, ३/६-८

अति प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीन काल तक के विषयों का उल्लेख पुराणों की विशेषता है न कि उनकी अप्रामाणिकता का प्रमाण ।

### वचन—विन्यासक्रम :

पुराणों की रचना एक विशेष पद्धति पर हुई है जिसमें सूत और शौनकादि ऋषियों का संवाद, विषय या सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए बीच—बीच में कथा या आख्यानो का समावेश यथावसर गाथा, मन्त्र आदि के उदाहरण और देवस्तुतियाँ विशेष आकर्षण का केन्द्र हैं। भाषा अत्यन्त सरल, व्याकरण के नियमों से शिथिल किन्तु कहीं—कहीं विशिष्ट प्रतीकों को अपने अन्दर छिपाये हुये हैं। पौराणिक विशिष्ट शब्दावली का भी अपना विशेष महत्त्व है। वायुपुराण उक्त वचनविन्यासक्रम की सम्पूर्ण विशिष्टताओं से समृद्ध है।

### वक्ता :

यद्यपि पुराणों की रचना का श्रेय वेदव्यास को दिया जाता है, और प्रत्येक पुराण को किसी—न किसी देवता द्वारा प्रोक्त भी कहा गया है, तथापि सर्वत्र सूत ही सभी पुराणों के प्रवक्ता और शौनकादि उसके श्रोता हैं। ऐसी स्थिति में वास्तविक पुराणकर्ता के विषय में सामान्य पाठकों को सन्देह होने लगता है जिसका निराकरण पुराणों के गहन अध्ययन के बाद स्वतः हो जाता है । प्रकृत पुराण के वाक्ता वायुदेवता हैं।

### वाच्य :

पुराणों में प्रयुक्त शब्दों का सामान्य वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ न होकर विशेष प्रतीकात्मक अर्थ होता है, जिसमें पुराणकार का तात्पर्यार्थ निहित होता है। इन्द्र द्वारा 'अहल्या के शीलहनन' की कथा सूर्य और रात्रि के प्राकृतिक दृश्य का प्रतीकात्मक वर्णन है, उसी में पुराणकार का तात्पर्य है न कि वाच्यार्थ मात्र में ।

### विषय :

‘पुराणं पञ्चलक्षणम्’ के अनुसार यद्यपि सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर आदि पाँच विषय ही पुराणों के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय हैं तथापि सृष्टि आदि के अङ्गभूत अनेक अवान्तर विषयों (धर्म, दर्शन, भूगोल, खगोल, संस्कृति आदि) का भी यहाँ समावेश है। यह संकलनात्मक पद्धति पुराणों की अपनी विशेषता है जिसके कारण ही आज विद्वान् पुराणों को “भारतीय संस्कृति का विश्वकोश” कहते हैं। वायुपुराण इसका सर्वोत्तम निदर्शन है।

### औचित्य :

इन सभी में औचित्य का विशेष ध्यान रखा गया है। महर्षि दयानन्द सरस्वती सरीखे कुछ विद्वानों को इसमें नितान्त अनौचित्य भले ही प्रतीत होता हो, किन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। उदाहरणार्थ अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों को हम असम्भव कहकर एकदम खारिज़ नहीं कर सकते। काव्य में अतिशयोक्ति एक अलंकार के रूप में सर्व स्वीकृत है। इसका उद्देश्य वर्णन में अतिशय चमत्कार उत्पन्न कर श्रोता या पाठक को आकृष्ट करना होता है। पुराणकारों ने अपनी इसी शैली से पथभ्रष्ट सामान्य जन को सन्मार्ग में लाने का बहुत समय तक सफल प्रयास किया है। विद्या अनधिकारी के हाथ न जा सके, इसके लिए उन्होंने गूढ़ प्रतीकों का आश्रय लिया। जनसमाज में अनेक तान्त्रिक मान्यताएँ सदा प्रचलित रही हैं, अतः अनेक वर्णनों में अश्लीलता का पुट भी अनौचित्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

पं० माधवाचार्य शास्त्री ने पुराण—वचनों का शैली के आधार पर रोचक, भयानक, यथार्थ त्रिधा वर्गीकरण किया है। जनमानस को कर्ममार्ग में प्रवृत्त करने के लिए प्रयुक्त रुचिकर वाक्यों को ‘रोचक; अधर्माचरण से मनुष्यों की प्रवृत्ति हटाने के लिए कथित भयोत्पादक वाक्यों

को भयानक और सीधे वाच्यार्थ के प्रतिपादक वाक्यों को यथार्थ वचन कहा है।<sup>4</sup> उन्होंने “लौकिक—वैदिक शब्दों का प्रयोग : रोचक, भयानक और यथार्थवचनों का अस्तित्व : समाधि, लौकिकी और परकीया—भाषाओं का समावेश एवं आध्यात्मिक, आधिदैविक आदि अनेक अर्थों के सामञ्जस्य को पौराणिक शैली का वैशिष्ट्य स्वीकार किया है।<sup>5</sup> एक अन्य स्थल पर पुराणों के प्रमुख प्रतिपाद्य पञ्चलक्षणात्मक इतिहास के साथ धर्म एवं विज्ञान के विमिश्रण को भी उन्होंने पुराण शैली की विशेषता स्वीकार किया है।<sup>6</sup>

समीक्ष्य पुराण का अध्ययन करने पर हमें उक्त सभी वैशिष्ट्य उपलब्ध हो जाते हैं। यदि आधुनिक समीक्षाशास्त्र की दृष्टि से वायुपुराण की शैली की समीक्षा की जाय तो भाषा—वैशिष्ट्य के अतिरिक्त निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट दिखायी देंगी।

i. संवाद—प्रधानता :

सम्पूर्ण वायुपुराण में इस शैली के दर्शन होते हैं। पुराण की रचना ही सूत और शौनकादि ऋषियों के संवाद के रूप में हुई है। कहीं—कहीं ये संवाद ऋषियों—राजाओं, पशु—पक्षियों, देवासुरों, देव—गन्धर्वों, ऋषि—अप्सरारों आदि के मध्य हुए हैं। वायुपुराण में ये संवाद प्रश्नोत्तर रूप में सर्वत्र देखे जा सकते हैं।

ii. आख्यान—प्रधानता :

विषय के स्पष्टीकरण के लिए अनेक आख्यानों और उपाख्यानों का आश्रय लिया गया है। इन आख्यान—उपाख्यानों के कारण ही पुराणों के कथानक में गतिशीलता और प्रतिपाद्य के स्पष्टीकरण की सार्थकता देखी जाती है। वायुपुराण में भी ऐसे आख्यानों की कमी नहीं है।

<sup>4</sup> दृष्टव्य, पुराणदिग्दर्शन, पृ० २५४—२५९

<sup>5</sup> दृष्टव्य, तत्रैव, पृ० २८९

<sup>6</sup> तत्रैव, पृ० २९०—२९४

### iii. गाथा या श्लोकों का समावेश

वायुपुराण में यथावसर अनेक गाथाओं और प्राचीन श्लोकों का समावेश दिखाई देता है, उदाहरणार्थ मांधाता, राम, भिषक् शन्तनु, भगीरथ, अम्बरीश, राजा मूलक, ध्रुव इत्यादि।

### iv. निर्वचन—प्रवणता :

यहाँ प्रत्येक सन्दर्भ में देवी—देवताओं के नामों, यज्ञीय पदार्थों, आध्यात्मिक—आधिभौतिक एवं आधिदैविक सिद्धान्तों और स्थानादि नामों के मूल आधार को स्पष्ट करने के लिए निर्वचनों का आश्रयण लिया गया है। ये निर्वचन प्रायः लोक—प्रसिद्धि या घटना विशेष के आधार पर किए गए हैं। कहीं—कहीं धातुओं से भी इनका सम्बन्ध जोड़ा गया है जो यास्कীয় निर्वचन—पद्धति का स्मरण कराते हैं।

### v. मुक्तक शैली :

वायुपुराण में आगत स्तोत्रों को इसका निदर्शन माना जा सकता है । इन स्तोत्रों को पुराणप्रसंग से पृथक् कर देने पर भी इनके महत्त्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता । इन स्तोत्रों में कहीं तो स्तोता की भावप्रवणता के दर्शन होते हैं, तो कहीं अष्टोत्तरशतनाम या सहस्रनाम संकीर्तन की शैली दृष्टिगोचर होती है।

### vi. अतिशयोक्ति का प्राचुर्य :

यह पुराणों की सामान्य वर्णन शैली है। समीक्ष्य पुराण इसका अपवाद नहीं है।

### vii. रूपकों का प्रयोग :

विषय के उपगूहन अथवा प्रकारान्तर से स्पष्टीकरण के लिए अनेक प्रसंगों में विविध रूपकों का प्रयोग किया गया है।

### viii. प्रतीकात्मकता :

गूढ़ विषयों को विशिष्ट प्रतीकों के माध्यम से स्पष्ट करने के लिए इस शैली का

प्रयोग किया गया है।

ix. अर्थवाद का आश्रयण :

कभी—कभी एक ही विषय की महत्ता को प्रकट करने के लिए उसका पुनःपुनः उल्लेख किया गया है। ऐसे महत्ताद्योतक अथवा प्रशंसापरक वर्णनों को अर्थवादात्मक शैली का उदाहरण माना जा सकता है।

x. अलौकिकता का समावेश :

इसमें अलौकिक, अतिमानवीय एवं अतिप्राकृत तत्त्वों का समावेश सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

xi. माहात्म्य वर्णन :

पुराण के पठन—पाठन, श्रवण, लेखन, दान के तथा विविध तीर्थों में विहित दान—स्नानादि के माहात्म्यों के सारोप वर्णनों में इस शैली को देखा जा सकता है।

xii. पौराणिक मन्त्रों और वैदिक मन्त्रों का लौकिक भाषा में अनुवाद या फिर उनके प्रारम्भिक अंशों या पदों के प्रयोग पुरस्सर लौकिक भाषा में छन्दो रचना की विशिष्ट शैली भी यहाँ अवलोकनीय है।

वायुपुराण में उपर्युक्त सभी शैलीगत विशेषताएँ यथावसर उपलब्ध हैं, जिन्हें प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध के अन्तर्गत यथावसर प्रस्तुत कर दिया गया है, पुनरावृत्ति के भय से यहाँ उद्धरण उद्धृत नहीं किये गये हैं।

इस प्रकार वायुपुराणकार ने अपने पुराण को मानो लोक—शास्त्र—काव्याद्यवेक्षण से उद्भूत प्रतिभा से मण्डित कर धर्मार्थकाममोक्ष—साधक, व्यवहारज्ञानप्रदाता एवं सुहृज्ज्मसम्मितोपदेशक काव्य बनाने का भरपूर प्रयास किया है। इसमें एक ओर स्वाभाविक अलंकारों की छटा, यत्र—तत्र छन्दोवैविध्यजनित छान्दसी शोभा, सरल शैली में गूढ़ दार्शनिक

विचार—प्रस्तुति, प्रगल्भ पाण्डित्य—प्रसूत व्युत्पत्ति—सम्पदा आदि की निरन्तर समुपस्थिति है, तो दूसरी ओर लोक के प्रत्यक्ष—दर्शन की प्रबल प्रवृत्ति है जिसके कारण अनायास ही यह एक सहज लोक—काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण बन गया है।





“अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।  
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ”

चतुर्थ—परिच्छेद  
‘वायुपुराण में आगत आख्यान’

- आख्यान का महत्त्व,
- आख्यान—लक्षण,
- आख्यान—परम्परा,
- पौराणिक आख्यान,
- वायुपुराणागत कतिपय आख्यान

### आख्यान का महत्त्व

आख्यान के रूप में लघु कथाएँ सदा से प्रसिद्ध रहीं हैं । पशु-पक्षियों के बहाने से शिशुवर्ग को शिक्षा देने के लिए प्रभूत गद्य-साहित्य सामने आया, जो अपनी सरलता और सारग्राहिता के कारण सर्वत्र छा गया। इसमें 'पंचतन्त्र,' 'हितोपदेश,' और गुणादय की 'बृहत्कथा' विश्ववन्द्य रचनाएँ हैं। संस्कृत कथा-कहानियों का संसार में इतना अधिक प्रचार-प्रसार हुआ कि वे विश्व-साहित्य का एक अंग बन गईं। इन्हीं के माध्यम से सर्वत्र भारतीय संस्कृति, आचार-विचार और सभ्यता का प्रचार-प्रसार हुआ है। यह मौलिकता, रचना-नैपुण्य तथा विश्व-व्यापक प्रभाव की दृष्टि से अनुपम और अद्वितीय है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी इनकी मौलिकता एवं मनोरंजकता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है, जैसाकि, डॉ० कीथ के निम्न कथन से स्पष्ट है— 'साधारण-सी कहानी का एक निश्चित उद्देश्य के लिए उपयोग में लाया जाना, उपदेशात्मक कथा का जीवनोपयोगी ज्ञान समझने की एक निश्चित विधि बन जाना, कहानियों के इतिहास में एक स्पष्ट महत्वपूर्ण कदम था ।'<sup>१</sup>

#### लक्षण :

प्राणिजगत् के किसी पात्र की एक जीवन-घटना पर लिखी गई इतिहास-विषयक स्वल्पाकार कथा आख्यान है। कभी-कभी आख्यान के लिए गौण रूप में अन्य शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं; यथा महाभारत<sup>२</sup> में एक ही वर्णन को पुराण, आख्यान और मनु का चरित कहा गया है।

सागरनन्दी ने 'नाटकलक्षणरत्नकोश' में भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' से किसी पुरातन किन्तु सम्प्रति अनुपलब्ध पाठ उद्धृत किया है जिसके अनुसार आख्यान और इतिहास में कोई

<sup>१</sup> द्रष्टव्य : संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास, डॉ० राजकिशोर सिंह, पृ० १७४

<sup>२</sup> महाभारत : आरण्यक पर्व, १५८/५३, ५४

भेद नहीं है।<sup>१</sup>

जैन आचार्य हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन के स्वरचित विवेक में आख्यान को परिभाषित करते हुए लिखा है—

आख्यानकसंज्ञां तल्लभते यदभिनयन् पठन् गायन् ।

ग्रन्थिक एकः कथयति गोविन्दवद् अवहिते सदसि ॥<sup>२</sup>

श्रीधर स्वामी ने आख्यान और उपाख्यान के पार्थक्य के विषय में एक श्लोक उद्धृत किया है, जिसका अभिप्राय है— ‘स्वयं— दृष्ट (साक्षात्कृत) अर्थ का कथन आख्यान है तथा इसके विपरीत सुने गये अर्थ का कथन उपाख्यान है।’<sup>३</sup> लेकिन अन्य विद्वानों के मत में यह भेद दृष्ट—श्रुत का न होकर महत्—स्वल्प आकार का ही है अर्थात् आकार में जो महान् या बृहत् है, वह तो है आख्यान और जो स्वल्प आकार का कथानक है, वह उपाख्यान है। वस्तुतः आख्यान के अन्तर्गत आगत आख्यान उपाख्यान कहलाता है।

### आख्यान—परम्परा :

आख्यान—शास्त्र अति पुरातन है और इस परम्परा का आदि स्रोत है ऋग्वेद जिसमें देवताओं और ऋषियों की स्तुतियों में बहुत से आख्यान बीज रूप में आये हैं। बाद में उन्हीं आख्यानों का ब्राह्मणों, उपनिषदों, सूत्र—ग्रन्थों, महाकाव्यों और पुराणों में पल्लवन हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण<sup>४</sup> में शौनःशेप आख्यान शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में भी दृष्टान्त—रूप में अन्यानेक आख्यान (जैसे; इन्द्र द्वारा वृत्र का वध, पुरुरवा—उर्वशी, इन्द्र और अहल्या आदि) आये हैं। उपनिषदों में भी आध्यात्मिक ज्ञान को

<sup>१</sup> आख्यानमितिवृत्तं स्यादितिहासः स एव च । नाटकलक्षणरत्नकोश, २५६, पृ० २१०

<sup>२</sup> हेमचन्द्र : काव्यानुशासनम्, अ० १, सू० ३, पृ० ५ तथा अ० ८, सू० ८, पृ० ४६३

<sup>३</sup> स्वयं दृष्टार्थकथनं प्रादुराख्यानकं बुधाः ।

श्रुतस्यार्थस्य कथनमुपाख्यानं प्रचक्षते ॥ द्रष्टव्यः पुराण—विमर्श, पृ० ६६—६७

<sup>४</sup> ऐतरेय ब्राह्मण, ७/१८

स्पष्ट करने के लिए आख्यानों (जैसे— हरिश्चन्द्र—शुनःशेष, याज्ञवल्क्य—गार्गी इत्यादि) का प्रयोग किया गया है। विभिन्न श्रौतसूत्रों यथा—शाङ्खायन,<sup>१</sup> आपस्तम्ब<sup>२</sup> आदि में भी इन आख्यानों का संकेत मिलता है। रामायण में मुख्य राम—कथा के साथ—साथ वसिष्ठ—विश्वामित्र—द्वेष, वामनावतार, इन्द्र—अहल्या, शुनःशेष आदि अनेकानेक आख्यान यत्र—तत्र उपलब्ध हैं। इसी प्रकार महाभारत में मुख्य आख्यान कौरव—पाण्डवों के विग्रह के साथ—साथ अन्यान्य आख्यान भी गुंथे हुए हैं; जैसे इन्द्र—विजय,<sup>३</sup> यक्ष—युधिष्ठिर संवाद<sup>४</sup> इत्यादि। इनके अतिरिक्त आदिपर्व का शकुन्तलोपाख्यान और वनपर्वस्थ मत्स्योपाख्यान, शिवि—उपाख्यान, सावित्री—उपाख्यान तथा नलोपाख्यान आदि अपने आप में स्वतंत्र आख्यान—सदृश हैं। अष्टाध्यायी की काशिकावृत्ति में यह शब्द उल्लिखित है।<sup>५</sup> व्याकरण महाभाष्य में इसके दृष्टान्त में तीन उदाहरण दिये गये हैं— यावक्रीतक, प्रैयङ्गविक, यायातिक।<sup>६</sup> शाकटायन<sup>७</sup> व्याकरण में अविमारक आख्यान का उद्धरण मिलता है।

उपर्युक्त समस्त उल्लेख इस तथ्य को प्रामाणित करते हैं कि आख्यान—परम्परा अति प्राचीनकाल से चली आ रही है।

### पौराणिक आख्यान :

आख्यानों, गाथाओं और कल्पवाक्यों को लेकर पुराण की सृष्टि हुई थी। “संस्कृत—साहित्य का सुबोध इतिहास” में ‘पुराण’ शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि

<sup>१</sup> शाङ्खायनश्रौतसूत्र, १५/२७ — ‘तदेतच् छौनःशेषम् आख्यानम्’ ।

<sup>२</sup> आपस्तम्बश्रौतसूत्र, १८/१९ — ‘शौनःशेषम् आख्यायते’ ।

<sup>३</sup> महाभारतस्थ, उद्योगपर्वान्तर्गत ।

<sup>४</sup> तत्रैव, आरण्यकपर्वस्थ, अध्याय २९८ के अन्त में ।

<sup>५</sup> याज्ञवल्क्यादयोऽचिरकाला इत्याख्यानेषु वार्ता । पाणिनि, अष्टाध्यायी, ४/३/१०५, काशिकावृत्ति

<sup>६</sup> महाभाष्य, ४/२/६०

<sup>७</sup> शाकटायनव्याकरण, २/४/१७४

‘पुराणमाख्यानं पुराणम्’<sup>१</sup> अर्थात् जिसमें प्राचीन आख्यान हो, वह पुराण है। व्यासकर्तृक पुराणसंहिता में मुख्य सर्गादि पञ्च विषयों के साथ आख्यान सम्मिलित थे, जिसके प्रमाण में वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु आदि के निम्न श्लोक को उद्धृत किया जा सकता है—

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः ।

पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः ॥<sup>२</sup>

यह श्लोक कतिपय पाठभेद से पूर्वोक्त पुराणों में उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त पौराणिक आख्यान के माध्यम से वेदोक्ति (जो सभी के लिए सुगमन नहीं थी) को साधारण लोक—समुदाय हेतु सुगम बनाया गया । आख्यान की इस लोकप्रियता के कारण ही व्यास ने पुराण—संहिता के प्रणयनकाल में इसका संकलन सर्गादि पञ्च विषयों के साथ किया था। लोकवार्ता के रूप में पौराणिक आख्यानों का वेदों से पूर्व अस्तित्व था। मत्स्य,<sup>३</sup> पद्म,<sup>४</sup> विष्णु<sup>५</sup>, वायु,<sup>६</sup> आदि पुराणों का कथन है कि ‘सभी शास्त्रों के निर्माण से पूर्व ब्रह्मा ने पुराण का स्मरण किया था।’ यह कथन इसी आशय का द्योतक है कि किञ्चित् पौराणिक आख्यान लोकानुश्रुति के रूप में वैदिक वाङ्मय की रचना के पूर्व भी उपस्थित थे। इसके अतिरिक्त पुराण की प्राचीनता की बोधक विभिन्न पंक्तियाँ (दृष्टव्यः प्रथम अध्याय; पुराण—प्राचीनता) भी निस्सन्देह इस बात की सूचक हैं कि भले ही साहित्य के रूप में पुराणों की रचना वेदों के बाद हुई, मगर लोकवार्ता के रूप में वे किसी—न—किसी रूप में वेदों की रचना से पूर्व भी लोकमानस में जी रहे थे। इन पौराणिक आख्यानों को ऐतिहासिक और धार्मिक स्वरूप देने का

<sup>१</sup> संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास, डॉ० राजकिशोर सिंह, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, पं० सं०—१९७८, पृ० ३८

<sup>२</sup> वायु० ६०/२१; विष्णु० ३/६/१६; ब्रह्माण्ड० १/३४/१ इत्यादि ।

<sup>३</sup> पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।

अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः ॥ मत्स्य०; अ० ५३, श्लोक—३

<sup>४</sup> पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् । पद्म०, सृष्टि—खण्ड—१/४५

<sup>५</sup> विष्णु० १/२०३

<sup>६</sup> वायु० १/५४

जितना प्रयास हुआ, उतना उनके काव्यात्मक तथा शैलीगत रूप को (श्रीमद् भागवत् को छोड़कर) उभारने का नहीं ।

पौराणिक आख्यान और विश्वास के लिए प्रयुक्त 'Myth' या 'mythology' शब्द का अर्थ देवताओं एवं वीरों की प्राचीन परम्परागत गाथा है जो किसी तथ्य या प्राकृतिक सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत करती है, वहाँ उसका अर्थ मिथ्या या कपोल कल्पित भी होता है।<sup>1</sup> चूंकि 'पुराण' शब्द प्रामाणिकता के द्योतक हैं अतः, इसे मिथ्या या कपोल कल्पित कहना उचित नहीं । आजकल इसके लिए धर्मगाथा शब्द गढ़ लिया गया है।

### उत्तरकालीन साहित्य और पौराणिक आख्यान :

रामायण, महाभारत एवं पौराणिक आख्यानों का उत्तरकालीन संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य पर इतना प्रभाव पड़ा कि उनके आधार पर स्वतन्त्र तथा पृथक् काव्य--ग्रन्थों की सृष्टि हुई, यथा—

(अ) रामायण पर आधारित काव्य; कालिदासकृत—'रघुवंश'; भासकृत 'प्रतिमा' और

'अभिषेक नाटक,' भवभूतिकृत 'महावीरचरित', 'उत्तररामचरित' आदि ।

(ब) महाभारत पर आधारित काव्य; जैसे— भारविकृत 'किरातार्जुनीयम्', माघकृत

'शिशुपाल—वध, श्रीहर्षकृत 'नैषधीयचरित' आदि ।

(स) विशुद्ध पौराणिक आख्यानों से सम्बन्धित काव्य एवं नाटक; जैसे—

कालिदासकृत 'कुमारसम्भव,' विक्रमोर्वशीयम्, रत्नाकरकृत 'हर—विजय';

क्षेमेन्द्रकृत 'दशावतार—चरित'; रामदेव कृत 'पारिजात—हरण'; श्रीकण्ठ दीक्षित कृत

---

<sup>1</sup> Myth : an Ancient traditional story of gods or heroes, offering an explanation of some fact or phenomenon : a fable : a fictitious person or thing. Mythology : a collection of myths." Chambers Compact English Dictionary; W & R. Chambers Ltd., London and Edinburgh, ed. 1954. ( द्रष्टव्य, पौराणिक आख्यानों का विकासात्मक अध्ययन, डॉ० उमापति राय चन्देल, पृ० १३ )।

‘गंगावतरण;’ अश्वघोष कृत ‘उर्वशी—वियोग’ इत्यादि ।

पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश—साहित्य में उपलब्ध पौराणिक आख्यानों का कुछ परिवर्तित रूप देखने को मिलता है। उनमें बौद्ध एवं जैन धर्मों के अनुकूल परिवर्तन कर लिया गया है।

इस प्रकार पुराण भारतीय संस्कृति के आधार स्तम्भ हैं और इसमें आगत आख्यानों से भारतीय समाज सदैव से ही प्रेरित होता रहा है। संस्कृत वाङ्मय के अतिरिक्त अन्य भाषाओं का साहित्य भी इन पौराणिक आख्यानों से समृद्ध हुआ है और अब भी यह प्रक्रिया रुकी नहीं है।

### वायुपुराण में आगत आख्यान :

समीक्ष्य पुराण में देवताओं, ऋषियों, राजाओं के स्वरूप—विवेचन में प्रसंगवश अनेक आख्यान आये हैं, जिनमें वैदिक तत्त्वों का समन्वय परिलक्षित होता है। इसमें आगत आख्यान लौकिक, धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक आदि सभी तरह के हैं। इन आख्यानों की रोचकता एवं लोकप्रियता के लिए सुभाषित एवं नीतिपरक श्लोकों का समावेश किया गया है। पुराणकार ने अलौकिक वैदिक तत्त्वों को रूपक तथा अलंकृत शैली में ढालकर लौकिक कथाओं का रूप दे दिया है, जिसका स्पष्ट प्रमाण है देवासुर—संग्राम से सम्बन्धित आख्यान। इसके अतिरिक्त पुरुरवा—उर्वशी, नहुष, ययाति, पुरु आदि राजाओं की बड़ी—बड़ी विचित्र कथायें दी गई हैं और उन्हीं को बाद के समस्त प्रमुख भारतीय राजवंशों का स्रोत बतलाया है। इसमें आगत आख्यानों में तद्युगीन समाज की झलक देखने को मिलती है। इन आख्यानों में कहीं कुतूहल है, कहीं घटना—वैचित्र्य है, कहीं हास्य और विनोद है, कहीं गम्भीर उपदेश है और कहीं सरस काव्य की समधुर झाँकी। इन आख्यानों की भाषा बड़ी ही मनमोहक एवं लच्छेदार है तथा शैली लोकप्रिय उपदेशात्मक है।

इसमें आगत आख्यान कुछ लम्बे हैं तो कुछ संक्षिप्त और कुछ आख्यानों का संकेत

मात्र ही दिया गया है तथा कभी—कभी एक ही आख्यान संक्षिप्त और विस्तृत दोनों ही रूपों में भिन्न—भिन्न स्थलों पर, भिन्न—भिन्न प्रसंगों में मिलता है। सभी उपाख्यानों के अन्त में उनका माहात्म्य भी बताया गया है जो कभी—कभी विशिष्ट संदर्भों या प्रयोजनों को लक्षित करता है। सभी आख्यानों का वर्णन करना असम्भव होने के कारण यहाँ केवल कुछ ही आख्यानों का संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है। वायुपुराणागत कतिपय आख्यान इस प्रकार हैं—

### नीलकण्ठ भगवान् शिव<sup>१</sup> :

शिव का कण्ठ नीला कैसे हुआ ? इस सम्बन्ध में एक आख्यान शिव—पार्वती के संवादरूप में ५४वें अध्याय में 'नीलकण्ठस्तवः' शीर्षक के अन्तर्गत प्राप्त होता है।

समुद्र—मन्थन के समय जब काल और अग्नि के समान विष बाहर आया तब उससे भयभीत समस्त देव और दानव ब्रह्मा के पास जाते हैं और उन्हें सारी वस्तुस्थिति से अवगत कराते हैं। पुनः ब्रह्मा की सम्मति से सभी शिव के समक्ष उपस्थित होकर स्तुति करते हैं, जिससे प्रसन्न होकर वह प्रकट होते हैं और तत्क्षण चराचर जगत् के कल्याणार्थ विष का पान कर लेते हैं। तभी से उनका कण्ठ नीला हो गया किन्तु इससे उनके गोरे रंग की शोभा घटी नहीं बल्कि और भी अधिक बढ़ गयी। इस शोभा को देखकर ब्रह्मा जी कहते हैं —

‘शोभसे त्वं महादेव कण्ठेनानेन सुव्रत’

तभी से शिव 'नीलकण्ठ' कहलाये।

### मधु—कैटभ—वध<sup>२</sup> :

जिस समय भगवान् विष्णु जल में शयन कर रहे थे तथा ब्रह्मा जी पद्मासन पर

<sup>१</sup> वायु० ५४/२—१०२

<sup>२</sup> तत्रैव, २५/१—५५



विराजमान थे; उस समय 'मधु और कैटभ' नामक दो अतुलनीय बलशाली भ्राता कमलनाल के सहारे ऊपर आते हैं और निर्भय भाव से कमल पत्रों को हिलाकर तोड़ने का प्रयास करते हैं तथा ब्रह्मा से कहते हैं कि 'तुम हमारे भक्ष्य बनो', ऐसा कहकर वह अन्तर्धान हो जाते हैं। ब्रह्मा जी इस रहस्य को समझ नहीं पाते और तत्क्षण अपनी रक्षार्थ विष्णु के पास जाते हैं। विष्णु उन्हें सान्त्वना देते हुए वापिस भेज देते हैं तथा उनकी सहायतार्थ 'विष्णु' और 'जिष्णु' दो भ्राताओं को मुख से उत्पन्न कर उनके पीछे भेज देते हैं। इधर मधु और कैटभ उन दोनों के आगमन को जानकर अपना स्वरूप भी वैसा ही बना लेते हैं और फिर उनके बीच युद्ध प्रारम्भ हो जाता है, जिसे देखकर ब्रह्मा असमञ्जस में पड़ जाते हैं। दिव्य दृष्टि द्वारा ब्रह्मा जी सारा रहस्य जानकर उन दोनों—विष्णु—जिष्णु के नाभि से ऊपर के शरीर को कमल—केसर के बने सूक्ष्म कवच द्वारा बाँधकर मंत्रों का जाप करने लगते हैं। उसी क्षण एक अद्भुत सौन्दर्यशाली कन्या की उत्पत्ति होती है, जिसके तेज से वह दोनों राक्षस भयभीत हो जाते हैं। युद्ध करते—करते जब वह थक जाते हैं तब वे विष्णु—जिष्णु से वरदान माँगते हैं कि 'हमारी मृत्यु खुले स्थान में हो'। तदनन्तर 'तथास्तु' ऐसा कह विष्णु की आज्ञानुवर्तिनी उस कन्या की सहायता से विष्णु—जिष्णु उन दोनों राक्षसों को यम—सदन पहुँचा देते हैं। इससे प्रसन्न हो ब्रह्मा पुनः लोकहित में रत हो जाते हैं। यह आख्यान मार्कण्डेय आदि पुराणों में कुछ अन्तर के साथ आया है जहाँ स्वयं विष्णु उनका वध करते हैं।

### कार्तिकेय जन्म :

शंकरात्मज कार्तिकेय के जन्म सम्बन्धी आख्यान यहाँ कई स्थलों पर विभिन्न प्रसंगों में वर्णित हैं।<sup>१</sup> हिमालय—पुत्री 'उमा' ने शिव का पतिरूप में वरण किया था। उनसे उत्पन्न

<sup>१</sup> वायु०, ४१/३७—४३; ७२/२४—५०, ५४/२२—२६; ६९/१८४—१९४; ८४/१३—१४; १०९/२७९—८१, ३९/५५ इत्यादि।

सन्तति के भय से आतंकित होकर इन्द्र ने उनके पास अग्नि को भेजा और कहा कि तुम उन दोनों के रतिकर्म में विघ्न पहुँचाओ । इन्द्र के आदेशानुसार अग्नि ने वैसा ही किया जिसका परिणाम यह हुआ कि शंकर ने अपना वीर्य उमा के शरीर में न गिराकर पृथ्वी पर गिरा दिया । परिणामतः उमा ने क्रुद्ध होकर अग्नि को दण्डरूप शाप दिया जिसके कारण हुताशन को यह गर्भ धारण करना पड़ा। किन्तु कई वर्षों के बाद जब वह उस गर्भ को वहन करने में वह असमर्थ हो गया तब उसने गङ्गा को उसे धारण करने के लिए विनम्र निवेदन किया । गंगा, अपने तेज से जलते हुए उस गर्भ को अनेकों कठिनाइयों की उपेक्षा कर बहुत दिनों तक धारण करती रही। तदनन्तर उसने 'कुक्षि' प्रदेश में स्थित 'शरवण' वन में सैकड़ों सूर्य के समान तेजस्वी शिशु को जन्म दिया । उस समय सर्वत्र आनन्द का साम्राज्य छा गया । अभिषेक के लिए आर्यी सप्तर्षियों की स्त्रियों में से अरुन्धती को छोड़कर सबने सर्वप्रथम ही उस कुमार का दर्शन किया था क्योंकि उस शिशु ने सबको प्रसन्न करने के लिए तथा सबको एक साथ देखने की इच्छा से छः मुखों की सृष्टि कर ली थी । इनके जन्म लेते ही दानवगण स्कन्दित (व्यथित) हो गये थे इसलिए उनका 'स्कन्द' नाम प्रसिद्ध हुआ तथा कृतिकाओं द्वारा पोषित होने के कारण इनका 'कार्तिकेय' नाम विख्यात हुआ । तारकासुर के वधोपरान्त ये 'सेनापति' पद पर अभिषिक्त हुए।

### जनक की राजसभा में 'ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्य' की विजय<sup>१</sup>

एक बार राजा जनक ने अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया जिसमें हजारों ऋषियों का आगमन हुआ। जनक ने यह जानने के लिए कि इनमें सर्वश्रेष्ठ वक्ता कौन हैं? इसके लिए उन्होंने एक युक्ति का सहारा लिया और सहस्रों गायें, स्वर्ण, ग्राम, बहुरत्न आदि को लेकर करबद्ध होकर उपस्थित सभी को सम्बोधित कर कहा, " आप सब—के—सब महान् हैं, फिर

---

<sup>१</sup> वायु० ६०/३५-६२

भी आप लोगों में से जो सबसे बड़े ब्रह्मनिष्ठ हों, वह मेरे द्वारा लाये गये द्रव्यादि समूह को ग्रहण करे ।” तदनन्तर उस बहुमूल्य धनराशि को प्राप्त करने की अभिलाषा से वहाँ उपस्थित सभी ने वाद—विवाद के लिए एक—दूसरे को ललकारा । ठीक इसी समय ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्यों से सम्पूर्ण धनराशि को ले चलने का आदेश दिया, जिसे सुनकर सभी हतप्रभ होकर उनके प्रति अपना क्रोध प्रकट करने लगे। याज्ञवल्क्य बड़ी प्रसन्नता से उन सबसे कहते हैं कि ‘तुम सब अपना क्रोध त्याग दो तथा जो चाहो वह प्रश्न पूछो’। फिर तो एक ओर सारे ऋषिगण और दूसरी ओर अकेले याज्ञवल्क्य । सभी ने एक —एक करके उनसे गहन से गहन प्रश्न किया मगर उन्होंने सभी का सटीक उत्तर दिया। यहीं उनका शाकल्य के साथ विवाद हुआ जिसमें याज्ञवल्क्य ने उनके द्वारा पूछे गये सभी प्रश्नों का सुनते ही उत्तर दिया। किन्तु जब शाकल्य याज्ञवल्क्य के प्रश्न का उत्तर न दे सके तो पण के अनुसार वहीं पर वह मृत्यु को प्राप्त हो गये हैं। तदनन्तर प्रसन्नमना याज्ञवल्क्य अपने निवास की ओर प्रस्थान करते हैं।

‘वाद’ संधीय सम्भाषा में ही होना चाहिए, विग्रह्य सम्भाषा में नहीं । शाकल्य को उत्तर पाकर सन्तुष्ट होकर सत्य वस्तु को मान लेना चाहिए था, क्योंकि ‘वाद’ सत्य अर्थ के बोध के लिए ही होता है। अतः जब सत्य का पता लग जाय, तब झट से उसे स्वीकार कर लेना चाहिए भले ही उससे अपना पुराना मत खण्डित ही क्यों न होता हो। ऐसा न करने पर ही शाकल्य मृत्यु को प्राप्त हुए।

धुन्धुमार ‘कुवलाश्व’ :

८८वें अध्याय में वर्णित है कि किस प्रकार कुवलाश्व ने ‘धुन्धु’ को मारकर जगत् की रक्षा की।<sup>१</sup> प्राचीन काल में मनु—पुत्र ‘धुन्धु’ नाम का एक राक्षस था। वह ब्रह्मा से वरदान

---

<sup>१</sup> वायु० ८८/२८—६०

पाकर सभी के द्वारा अबध्य हो गया था और उसने तीनों लोकों को अपने अधीन कर लिया था। एक बार उसके मन में सम्पूर्ण विश्व के विनाशार्थ भयानक विचार उद्भूत हुआ जिसके लिए उसने मरु प्रदेश में कठिन तप आरम्भ कर दिया। इस तपश्चर्या काल में भी उसका सताने वाला काम न रुका। उसके इन उत्पातों से सबसे अधिक प्रभावित था उत्तङ्क मुनि का आश्रम। ब्रह्मर्षि, राजा बृहदश्व के पास पहुँचे और उन्होंने राजा से विश्व के कल्याणार्थ आर्द्र निवेदन किया। उस समय राजा बृहदश्व अपने यशस्वी पुत्र कुवलाश्व को उत्तराधिकारी पद पर अभिषिक्त कर वन जा रहे थे। अतः उन्होंने मुनि से कहा, “मुनिवर ! आपका विचार बहुत उदात्त है और उसका कार्यरूप में परिणत होना भी आवश्यक है, किन्तु यह कार्य अब मेरा पुत्र ‘कुवलाश्व’ करेगा क्योंकि मैंने वानप्रस्थाश्रम के लिए अस्त्र—शस्त्र का त्याग कर दिया है।” तदनन्तर पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके कुवलाश्व ने अपने इक्कीस सहस्रपुत्रों तथा महर्षि उत्तङ्क को साथ ले धुन्धु के निवारणार्थ प्रस्थान किया। मुनि उत्तङ्क की प्रार्थना एवं लोककल्याणार्थ भगवान् विष्णु स्वयं उस राजर्षि कुवलाश्व में अपने तेज सहित प्रविष्ट हो गये। दल—बल के साथ कुवलाश्व धुन्धु के तपस्या—स्थल पर पहुँचे। बालुकामय समुद्र के भीतर छिपे धुन्धु की तलाश के लिए उन्होंने समुद्र को खनना प्रारम्भ कर दिया। उस समय धुन्धु पश्चिम दिशा की ओर दिखाई दिया। क्रुद्ध होकर उसने अपने योगबल से राजा के केवल तीन पुत्रों को छोड़कर सबको भस्म कर दिया। तत्पश्चात् कुवलाश्व ने आग्नेयास्त्र का प्रयोग कर उसे सदा के लिए सुला दिया। इससे प्रसन्न होकर उत्तङ्क मुनि ने कुवलाश्व को उत्तमोत्तम वरदान दिये। धुन्धु को मारने के कारण ही लोक में इनका ‘धुन्धुमार’ नाम विख्यात हुआ।

### हिरण्यकशिपु<sup>१</sup> :

६७वें अध्याय में हिरण्यकशिपु के जन्म एवं मृत्यु सम्बन्धी कथानक आया है। प्राचीन समय में पुष्कर क्षेत्र में कश्यप ने एक अवशमेध यज्ञ का आयोजन किया था, जिसमें ऋषि, देवगण एवं गन्धर्वों के समूह उपस्थित हुए। उस यज्ञ में शास्त्रीय विधि—सम्मत आख्यान आदि के लिए पाँच सुवर्णमय आसन स्थापित किये गये थे। उनमें से चार मुख्य 'पुरोहित' के लिए और अन्तिम पाँचवा 'होता' के लिए था। उस समय पत्नी दिति, कश्यप के पार्श्व में बैठी थी और उनके उदर में दस सहस्र वर्ष का गर्भ था। ठीक उसी अवसर पर वह गर्भ उदर से निकलकर 'होता' के लिए निर्दिष्ट पाँचवे आसन पर बैठ गया और पिता की भाँति वहीं से वेद एवं आख्यानोत्पत्तिक पाँचवे वेद का व्याख्यान देने लगा। उस बालक को इस प्रकार देखकर सभी ऋषियों ने तदनुकूल ही उसका 'हिरण्यकशिपु' नामकरण किया। एक समय हिरण्यकशिपु ने कठोर तप किया जिससे प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उससे वरदान मांगने को कहा। तब हिरण्यकशिपु ने वरदान माँगते हुए कहा कि उसकी मृत्यु न गीली वस्तु द्वारा हो और न सूखी से। वरदानानुसार दैत्येन्द्र हिरण्यकशिपु की मृत्यु का कारण नरसिंहरूपधारी भगवान् विष्णु स्वयमेव हुए। उन्होंने अपने नखों से उसकी छाती फाड़ डाली थी, उस समय उनके नख न ही गीले थे और न सूखे।

### चन्द्रोपाख्यान (बुधोत्पत्ति)<sup>२</sup>

९०वें अध्याय में चन्द्रमा के जन्म के विषय में एक आख्यान है। एक समय इनके पिता 'अत्रि' ने लोक के कल्याणार्थ तीन सहस्र वर्षों तक दुश्चर तपस्या की जिसके

<sup>१</sup> वायु० ६७/५३-६६

<sup>२</sup> तत्रैव, ९०/१-४९

फलस्वरूप चन्द्रमा का जन्म हुआ। दक्ष प्रजापति ने इन्हें अपनी २७ कन्याओं को समर्पित किया था। एक बार चन्द्रमा ने राजसूय यज्ञ का आयोजन किया जिसमें इन्होंने सैकड़ों प्रकार की दक्षिणा दान में दी । धीरे-धीरे चन्द्रमा का प्रताप बढ़ने लगा, जिससे उसकी मति भ्रमित हो गई। इसी स्वभाव के कारण वह गुरु बृहस्पति की पत्नी 'तारा' का अपहरण कर ले गया। ऋषियों और देवताओं के द्वारा याचना किये जाने पर भी जब उसने तारा वापस नहीं दी तब भगवान् शिव बृहस्पति के सहायक रूप में वहाँ उपस्थित होते हैं और 'अजगव' नामक अस्त्र का संधान करते हैं जिससे उसका सारा यश नष्ट हो जाता है। तत्पश्चात् देव और दानवों का लोकक्षयकारी युद्ध शुरू हो जाता है। ब्रह्मा विनाश कार्य में प्रवृत्त शिव को निवारित करते हैं तथा 'तारा' को पुनः बृहस्पति को सौंपते हैं । तारा को गर्भवती जानकर बृहस्पति उससे उस गर्भ का त्याग करने को कहते हैं। मगर जैसे ही वह उसे छोड़ने को उद्यत होती है तब तक वह कुमार उत्पन्न हो जाता है। संदेह में पड़े देव 'तारा' से पूछते हैं कि यह किसका पुत्र है—

“ सत्यं ब्रूहि सुतः सोमस्याथ बृहस्पतेः ” (तत्रैव, ९०/३९)

पुनः पुनः, पूछे जाने पर भी जब तारा चुप रहती है तो वह सद्यः उत्पन्न कुमार उन्हें शाप देने को उद्यत हो जाता है। तब उसे रोकते हुए ब्रह्मा स्वयं तारा से इस रहस्य का उद्घाटन करने को कहते हैं। तारा सच्चाई व्यक्त करते हुए स्पष्ट बता देती है कि यह सोम का पुत्र है—

‘सोमस्येति महात्मानं कुमारं दस्युहन्तमम्’ (तत्रैव, ९०/४२)

दाता प्रजापति ने उस सुत का शिर 'सूँघकर 'बुध' नाम रखा । इसी बुध के द्वारा इला से 'पुरूरवा' नामक पुत्र हुआ था । इधर जब राजयक्ष्मा रोग से पीड़ित चन्द्रमा का तेज क्षीण हो जाता है तो वे 'अत्रि' ऋषि की शरण में जाते हैं । ऋषि उनके पापों का शमन कर देते हैं जिसके फलस्वरूप वह पुनः अपनी कान्ति से प्रकाशित हो उठते हैं।

### पुरूरवा—उर्वशी<sup>१</sup>

राजा पुरूरवा, बुध और इला का पुत्र था। उसकी राजधानी प्रतिष्ठानपुर में थी। वह अनुपम सौन्दर्यशाली था। ब्रह्मा के शाप के कारण स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी पृथ्वी पर आयी और उसके रूप—सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसने समस्त देवों को छोड़कर पतिरूप में उसका वरण किया। उर्वशी ने राजा के साथ रहने के लिए कुछ नियम रखे और राजा से स्पष्ट कहा कि मेरी यह दृढ़ प्रतिज्ञा है कि 'जब तक आप इन नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करते रहेंगे तब तक मैं आपके साथ रहूँगी।' इस प्रकार राजा के उर्वशी के साथ ६४ वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। उधर गन्धर्वगण उर्वशी के वियोग में व्याकुल रहने लगे। उन्होंने उर्वशी को पुनः गन्धर्वलोक लाने की एक युक्ति खोज ली। योजनानुसार 'विश्वावसु' नामक गन्धर्वगण रात्रि में शयनागार से उसके पुत्रवत् मेढों को चुग लेता है। उर्वशी उन्हें न देखकर आकुल हो राजा से उन्हें ढूँढ लाने को कहती है, लेकिन राजा उस समय निर्वस्त्र था। प्रतिज्ञा टूटने के डर से राजा पहले तो नहीं जाता है, किन्तु जब वह पुनः पुनः कहती है तो वह उसी अवस्था में उन्हें तलाशने निकल पड़ता है और उधर गन्धर्वगण अपनी योजनानुसार भवन को प्रकाशयुक्त कर देते हैं। उर्वशी राजा को इस अवस्था में देख लेती है और अन्तर्धान हो जाती है। राजा उन मेढों को लेकर जब शयनागार में पहुँचते हैं तो वहाँ उर्वशी को न देखकर करुण विलाप करते हुए अपने जीवन को धिक्कारते हैं। इसी अवस्था में एक दिन उर्वशी अन्य अप्सराओं के साथ जल में क्रीडा करती हुई दिखाई देती है। राजा को परमविषण्ण देखकर वह एक रात्रि उसके साथ बिताती है तथा साथ ही अपने गर्भवती होने की सूचना देती है। प्रातः राजा चला जाता है और पुनः एक वर्ष बाद आकर उर्वशी से हमेशा साथ में रहने को कहता है। इस पर उर्वशी उसे गन्धर्वों से अपने को सदा देखने का वरदान माँगने को कहती है। जब राजा

<sup>१</sup> वायु० ९०/४५; ९१/१—५१

गन्धर्वों से उसकी याचना करते हैं तो वह उन्हें अग्नि देकर यज्ञ करने को कहते हैं। तत्पश्चात् राजा उर्वशी से उत्पन्न कुमार को लेकर नगर में प्रस्थान करते हैं तथा गन्धर्वों द्वारा दी गई अग्नि से हवन कर गन्धर्वलोक को प्राप्त करते हैं।

### धन्वन्तरि<sup>१</sup> :

प्राचीन काल में समुद्र-मन्थन के अवसर पर देव धन्वन्तरि का आविर्भाव हुआ था। वे सबसे पहले उत्पन्न हुए थे। गुणों और कान्ति से युक्त उनके शरीर को देखकर देवगणों ने उन्हें 'अज' कहा था। कालान्तर में जब इन्होंने विष्णु से यज्ञादि में अपने लिए भाग की व्यवस्था करने को कहा तब विष्णु ने उनसे कहा कि इस जन्म में तो मैं कुछ नहीं कर सकता क्योंकि यह सब पहले ही व्यवस्थित हो चुका है किन्तु अगले जन्म में तुम्हें अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होंगी तथा तुम आयुर्वेद के उद्धारक बनोगे। कालान्तर में द्वितीय द्वापर युग में राजा दीर्घतमा ने पुत्र प्राप्ति की कामना से तपस्या की और उसमें उन्होंने इन्हीं अजदेव की आराधना की। इससे प्रसन्न होकर जब वह उन्हें वरदान मांगने को कहते हैं तो वह इन्हीं को पुत्ररूप में उत्पन्न होने का वरदान मांगते हैं। 'तथास्तु' कहकर धन्वन्तरि अन्तर्हित हो जाते हैं। तदनन्तर वरदानानुसार ये ही उनके पुत्ररूप में उत्पन्न हुए और भरद्वाज ऋषि ने जिस आयुर्वेद का प्रणयन किया था उसी को इन्होंने पुनः आठ भागों में विभक्त कर अपने शिष्यों को इसकी शिक्षा दी थी।

### राजर्षि दिवोदास<sup>२</sup>

राजा दिवोदास वाराणसी नगरी में निवास करता था। उसी कालावधि में शिव ने पार्वती से विवाह किया था। शिव उनकी प्रसन्नता के हेतु हिमवान् के गृह में ही रहा करते थे

---

<sup>१</sup> वायु० ९२/९-२३

<sup>२</sup> तत्रैव, ९२/२३-६१



तथा उनके गण विचित्र—विचित्र रूप धारण कर महेश्वरी को प्रसन्न किया करते थे। उनकी माता 'मेना' को यह सब अच्छा नहीं लगता था। वह मन में 'सदा उनकी भर्त्सना किया करती थी। एक दिन तो वह पार्वती से स्पष्ट कह देती हैं कि 'मुझे तो तुम्हारे पति परम अकिंचन एवं व्यर्थ में नाच—गाने में लगे हुए लम्पट प्रतीत होते हैं।' स्त्री—स्वभाववश वह इन बातों को सहन नहीं कर पाती और तत्क्षण शिव से अपने घर ले चलने को कहती हैं। शिव जब रहने योग्य स्थान की खोज करते हैं तो उन्हें वाराणसी पसन्द आती है किन्तु उसे दिवोदास के अधीन जानकर गणेश्वर निकुम्भ को मृदुल उपायों द्वारा उस नगरी को रिक्त कराने की आज्ञा देते हैं जिसे शिरोधार्य कर वह वहाँ प्रस्थानक करता है और स्वयं को 'मंकन' नामक नापित को स्वप्न में दर्शन देकर नगरी के बाहर अपनी मूर्ति की स्थापना करने को कहता है। तदनुसार मंकन राजाज्ञा से उसकी मूर्ति की स्थापना करता है। प्रतिदिन वहाँ गणेश्वर की पूजा होने लगती है। प्रजा से प्रसन्न गणेश्वर नगरवासियों की कामनाओं को पूर्ण होने का वरदान देता है। राजा की पत्नी सुयशा भी पुत्र—प्राप्ति की कामना से उसकी पुनःपुनः पूजा करती है लेकिन वह राजा को 'क्रुद्ध' करने के लिए उसे वरदान नहीं देता है। इससे क्रोधित हो राजा उसकी पूजा का निषेध कर देता है साथ ही उसके स्थान को भी नष्ट कर देता है। यह सब देखकर निकुम्भ योजनानुसार राजा को उसकी नगरी के सूनी हो जाने का शाप दे देता है। इस प्रकार वह नगरी सूनी हो जाती है और शिव वहाँ आकर दैवी विभूति से उस पुरी का पुनः निर्माण करके पार्वती के साथ सुखपूर्वक रहने लगते हैं।

### राजा रजि<sup>१</sup> :

प्रस्तुत आख्यान में राजा रजि और उनके पुत्रों द्वारा इन्द्रपद प्राप्त करने का वर्णन है। राजा रजि के सौ पुत्रों में से पाँच परम बलवान् थे जिनके क्षात्रबल से इन्द्र भी भयभीत रहता

---

<sup>१</sup> वायु० ९२/७५—९९

था। एक बार जब देव और असुर संग्राम हो रहा था तब— 'इस संग्राम में हम दोनों में से कौन विजयी होगा' यह जानने के लिए दोनों अपने दल—बल के साथ ब्रह्मा की शरण में गये । उनकी बात सुनने के बाद ब्रह्मा कहते हैं कि जिन लोगों के लिए महाराज 'रजि' संग्राम—भूमि में शस्त्र धारण करेंगे, वे लोग निःसन्देह विजयी होंगे । तब दोनों पक्ष अपनी विजय की आकांक्षा से रजि से शस्त्र धारण करने को कहते हैं। रजि उनके सामने अपनी एक शर्त रखते हैं कि जो उन्हें विजयोपरान्त अपना इन्द्र बनायेगा उसी के लिए शस्त्र धारण करेंगे। तब दानव, प्रह्लाद के स्थान पर उन्हें अपना इन्द्र बनाने को तैयार हो जाते हैं और जैसे ही रजि उन्हें स्वीकारोक्ति देते हैं तभी देवगण उन्हें अपना इन्द्र बनने को कहते हैं, जिसे स्वीकार कर वह सारे दानवों का संहार कर विनष्ट राज्यलक्ष्मी का उद्धार करते हैं। तब प्रसन्न इन्द्र रजि से कहते हैं कि 'इन्द्रोऽसि राजान् देवानां सर्वेषां नात्र संशयः ।' कालान्तर में 'रजि' के स्वर्गगामी हो जाने पर उसके पुत्र इन्द्र का राज्य छीनकर अपनी मनमानी करने लगते हैं। दुःखी हो इन्द्र बृहस्पति से रजि—पुत्रों से अपनी रक्षा की प्रार्थना करते हैं। इसे सुनकर बृहस्पति अनुष्ठान करते हैं जिसके परिणामस्वरूप उन रजि—पुत्रों की मति भ्रमित हो जाती है और वे विधर्म में निरत हो रोगग्रस्त हो जाते हैं । ऐसी दशा में इन्द्र उनका संहार कर अपने पद को पुनः प्राप्त कर लेते हैं।

### ययाति—पुत्र 'पुरु'<sup>१</sup>

राजा नहुष के इन्द्र तुल्य छः पुत्र थे, जिनमें सबसे बड़े थे यति और उनमें छोटे थे ययाति । राजा ययाति की देवयानी और शर्मिष्ठा नाम की दो रानियाँ थी। देवयानी से 'यदु' और 'तुर्वसु' तथा शर्मिष्ठा से 'दुह्यु' 'अनु' व ' पुरु' नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए थे। एक

---

<sup>१</sup> वायु० ९३/१२-१०४

बार राजर्षि ययाति जब बहुत वृद्ध हो गये तब उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र यदु से अपनी वृद्धावस्था को ग्रहण करने तथा यौवन अवस्था देने को कहा तो वह अपनी असमर्थता व्यक्त करता हुआ मना कर देता है। राजा उसे शाप देकर अन्य पुत्रों के समक्ष भी यही प्रस्ताव रखते हैं। सभी वृद्धावस्था की कठिनता का वर्णन कर अपनी असमर्थता बताते हुए मना कर देते हैं तब उन्हें भी शाप देकर ययाति अन्त में सबसे छोटे पुत्र 'पुरु' के समक्ष अपनी पूर्वोक्त अभिलाषा को निवेदित करते हैं तो वह तत्क्षण सहर्ष स्वीकार कर लेता है इससे प्रसन्न हो ययाति उन्हें सर्वदा समृद्धि का आशीर्वाद देकर उसकी यौवनावस्था को ग्रहण कर परम प्रसन्न होते हैं और अन्त में दुःख एवं दोष देखकर तथा अवधि पूर्ण होने पर पुनः वह पुरु को उसकी यौवनावस्था के साथ राज्य देकर अपनी वृद्धावस्था को पुनः ग्रहण कर लेते हैं। जिस समय राजा ज्येष्ठ पुत्र 'यदु' के स्थान पर 'पुरु' का राज्याभिषेक करने का आदेश देते हैं तो सभी वर्ण के लोग इसका विरोध करते हैं। तब राजा उसकी योग्यता को सिद्ध करते हुए कहता है कि— "जो पुत्र गुणवान् एवं माता—पिता के कल्याण में निरत रहने वाला होता है, वह सबसे छोटा होकर भी कल्याण का भाजन है और सम्पत्ति का उत्तराधिकारी है, अतः 'पुरु' का राज्याभिषेक करिये ।" राज्याभिषेक हो जाने पर राजा अन्य पुत्रों के मध्य भी सम्पत्ति का वितरण कर तथा उनसे शिक्षाप्रद बात कहकर पत्नी के साथ वन को प्रस्थान करते हैं तथा वहाँ विधिवत् तप एवं व्रत का आचारण कर स्वर्ग प्राप्त करते हैं।

### कार्तवीर्यार्जुन<sup>१</sup>

अर्जुन की उत्पत्ति यदुवंशीय 'कृतवीर्य' से हुई थी। इन्होंने दस सहस्र वर्षों तक परम कठोर तप कर अत्रि—पुत्र 'दत्त' की आराधना की थी और चार वरदान प्राप्त किये थे—(१) सहस्र बाहुओं को प्राप्त करना, (२) अधर्म में नष्ट होते हुए लोक की सदुपदेशों द्वारा

---

<sup>१</sup> वायु० ९४/८—५६

निवासित करना, (३) धर्मपूर्वक पृथ्वी विजय करके धर्मपूर्वक पालन करना तथा, (४) अनेक संग्रामों में विजय प्राप्त कर, सहस्रों शत्रुओं का विनाश कर रणभूमि में अपने से अधिक बलवाले के हाथों मृत्यु प्राप्त करना । वरदान प्राप्त कर इन्होंने नगरों एवं सात द्वीपों सहित पृथ्वी को जीतकर उस पर अपना अधिकार कर लिया । उनकी यशोगाथा गन्धर्व, नारद आदि गाया करते थे । एक बार तृष्णा से व्याकुल आदित्य ने जब इनसे समस्त जगत् की भोजन—रूप भिक्षा की याचना की तो ये अपने को असमर्थ बताते हैं । तब आदित्य इन्हें दो बाण देते हैं जिसकी सहायता से सब कुछ नष्ट कर देते हैं । इसी क्रम में वह वसिष्ठ महर्षि के आश्रम को भी भस्म कर देते हैं जिससे क्रुद्ध हो ऋषि उन्हें शाप देते हुए कहते हैं कि 'तुम्हारे इस दुष्कर कर्म को कुन्ती पुत्र अर्जुन नष्ट करेगा । तुम्हारी इन सहस्र बाहुओं को परशुराम काट डालेंगे और वे ही तुम्हारा संहार करेंगे ।' शापवशात् परशुराम ही उनकी मृत्यु का कारण बने ।

### भक्त गयासुर<sup>१</sup>

१०६ वें अध्याय में 'गयासुर' सम्बन्धी आख्यान आया है। गयासुर ने 'कोलाहल' नामक गिरि जो १२५ योजन लम्बा एवं ६० योजन चौड़ा था, पर सहस्रों वर्षों तक कठोर तप किया । उसके इस परम दारुण तप से पीड़ित एवं चिन्तित होकर देवगण रक्षार्थ ब्रह्मा के समक्ष गये । ब्रह्मा उन्हें लेकर शिव के पास और शिव की सम्मति से सभी विष्णु के पास गये । उनकी आर्त्त पुकार सुनकर विष्णु ने सबको गयासुर के पास चलने को कहा । तदनन्तर अन्य देवगणों के साथ विष्णु ने गयासुर के समक्ष प्रकट होकर उनकी तपस्या से प्रसन्न हो वरदान मांगने को कहा। तब उसने 'मैं सबसे बढ़कर पवित्र हो जाऊँ,' ऐसा वरदान प्राप्त किया। परिणामतः उसके दर्शन एवं स्पर्श मात्र से सभी पवित्र होने लगे तथा यमपुरी एवं तीनों लोक

---

<sup>१</sup> वायु० १०६/४-८६

सूने होने लगे । तत्पश्चात् देवगण सहित ब्रह्मा पुनः विष्णु की शरण में जाते हैं और उन्हें सारी वस्तुस्थिति से अवगत कराते हैं । विष्णु ब्रह्मा से यज्ञार्थ उसका शरीर मांगने की आज्ञा देते हैं जिसे स्वीकार ब्रह्मा अपनी अभिलाषा गयासुर के सामने प्रकट करते हैं। गयासुर तत्क्षण वहीं धाराशायी हो जाता है। यज्ञान्त भूमि के चलायमान होने पर ब्रह्मा ने यम से घर में रखी शिला को उसके ऊपर रखने को कहा लेकिन इसके बाद भी वह स्थिर न हुआ । सभी देवगणों के विराजमान हो जाने पर भी जब वह चञ्चल बना रहा तो ब्रह्मा ने विष्णु का आवाहन किया और गदाधारी विष्णु के शिला पर जनार्दन, पुण्डरीक एवं आदिगदाधर के तीनों रूपों में स्थित होते ही वह स्थिर हो गया । प्रसन्न देवगणों ने उससे वरदान माँगने को कहा । गयासुर ने वरदान मांगते हुए कहा कि जब तक पृथ्वी का अस्तित्व है, पर्वतगण, चन्द्रमा, तारायें विद्यमान रहें तब तक इस शिला पर आप सभी का वास रहे । X X X यदि आप में से एक भी यहाँ न रहेगा तो मैं भी स्थित न रहूँगा ।' 'तथास्तु' कहकर ब्रह्मा अपने लोक को चले जाते हैं। तब से गयासुर सबका उद्धार करता आ रहा है । यह एक भक्त का विश्व के कल्याणार्थ अद्भुत अवदान है।

### धर्मव्रता का 'शिला' रूप में अवतरण<sup>१</sup>

अध्याय १०७ में उस शिला की गाथा है जो गयासुर के सिर को स्थिर करने के लिए रखी गयी थी। प्राचीनकाल में धर्म और विश्वरूपा की सर्वगुणसम्पन्न धर्मव्रता नामकी एक कन्या थी। धर्म को जब उसके अनुरूप कोई योग्य वर नहीं मिला तब उसने उससे अनुरूप पति की प्राप्ति के लिए 'तप' करने को कहा । तदनन्तर पिता की आज्ञा से उसने वन—गमन किया। जिस समय वह सभी को अचम्भे में डाल देने वाले तप में रत थी उस समय ब्रह्मा के मानस पुत्र मरीचि पृथ्वी का पर्यटन करते हुए वहाँ आये और उनके इस तप का कारण पूछा।

---

<sup>१</sup> वायु० १०७ / २-५८

धर्मव्रता अपनी तपश्चर्या का कारण बता देती है जिसे सुनकर मरीचि उससे अपनी पत्नी बनने को कहते हैं। तब 'धर्म' की आज्ञा से दोनों का वेदोक्त विधि से विवाह हो जाता है और उनके आश्रम में सुखपूर्वक रहते हुए सौ पुत्र उत्पन्न होते हैं। एक दिन श्रमित मरीचि धर्मव्रता से चरण दबाने को कहते हैं। उनकी आज्ञा को अंगीकार कर वह उनके चरण दबाने लगती है और थोड़ी देर में मुनि की आँख लग जाती है। ठीक उसी समय ब्रह्मा वहाँ आते हैं। पहले धर्मव्रता किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाती है किन्तु शीघ्र ही जगद्गुरु की पूजा अनिवार्य मानकर तत्क्षण जैसे ही वह अर्घ्य पाद्यादि द्वारा उनकी पूजा करती हैं तत्क्षण मुनि की आँख खुल जाती है और क्रोधित होकर वह धर्मव्रता को शिला हो जाने का शाप दे देते हैं, इससे क्रोधित हो धर्मव्रता भी उन्हें शाप देने के लिए तत्पर होती है किन्तु "महादेव तुम्हें शाप देंगे" ऐसा कहकर कठोर तप प्रारम्भ कर देती है। उधर अभिशप्त मुनि भी कठोर तप में लीन हो जाते हैं। धर्मव्रता के तप से सन्तप्त देवगणों के आर्त निवेदन पर जब विष्णु धर्मव्रता से वर माँगने को कहते हैं तो वह इस शाप को निष्फल करने को कहती है। विष्णु अपने को इस शाप को निरकृत करने में असमर्थ बताते हैं तथा अन्य दुर्लभ वर माँगने को कहते हैं। तब 'मैं निखिल ब्रह्माण्ड में परम पावन शिला के रूप में प्रादुर्भूत हो जाऊँ.....' ऐसा वरदान माँगती है, जिसे स्वीकृति देते हुए विष्णु 'तुम्हारी अभिलाषाएँ पूर्ण होंगी तथा जब तुम गयासुर के सिर पर स्थित होगी तब हम भी उस शिला पर स्थित होंगे', ऐसा वरदान देकर अन्तर्धान हो जाते हैं।

### मरीचि आख्यान<sup>१</sup> :

मरीचि—शापोन्मुक्ति के सम्बन्ध में यहाँ पृथक् से आख्यान है। एक बार मरीचि जब रुक्मपारिजात वन में पुष्पादि के चयनार्थ जाते हैं किन्तु शिव इन्हें अपने सुख में बाधा समझकर 'दुःख का अनुभव करो' ऐसा शाप दे देते हैं। भयभीतमना मरीचि शिव की स्तुति

<sup>१</sup> वापु० ११२/३५-४१

करते हैं जिससे प्रसन्न हो शिव मरीचि से गयातीर्थ में शिला पर तप द्वारा शाप से मुक्त होने का वरदान देते हैं। शिवाज्ञा से मरीचि वहाँ कठोर तप करते हैं । प्रसन्न होकर विष्णु जब उनसे वरदान मांगने को कहते हैं तब वह वरदान मांगते हैं कि 'जिस शिला पर तप करने से मैं शिव—शाप से मुक्त हो गया हूँ वह शिला परम पुनीत हो जाय तथा पितरों की मुक्तिदायिनी बने ।' तदनन्तर 'ऐसा ही हो' कहकर भगवान् अपने धाम को प्रस्थान कर जाते हैं।

### आदि गदाधर 'विष्णु' का व्यक्त एवं अव्यक्त रूप<sup>१</sup> :

१०९ वें अध्याय में आगत आख्यान में यह वर्णित है कि किस प्रकार आदि गदाधर व्यक्त एवं अव्यक्त रूप में प्रकट हुए? उनकी गदा कैसे उत्पन्न हुई? और किस प्रकार गदालोल तीर्थ सभी पापों का नाशकर्ता हुआ? प्राचीन काल में वज्र से भी परम कठोर 'गद' नामक एक असुर था। ब्रह्मा के अनुरोध पर इन्होंने उन्हें अपनी हड्डियों को समर्पित कर दिया था तथा ब्रह्माज्ञा से विश्वकर्मा ने उन अस्थियों से एक अलौकिक गदा बनाकर स्वर्गलोक में स्थापित कर दी थी। एक बार स्वायम्भुव मन्वन्तर में 'हेति' नामक राक्षस के कठोर तप से प्रसन्न हो देवों ने उनसे वरदान मांगने को कहा तो उसने 'मैं समस्त देव, दैत्य, अस्त्र, शस्त्र, मनुष्य आदि किसी से भी न मारा जाऊँ तथा मेरे समान कोई दूसरा बलवान् न हो,' यह वरदान माँगा और इसे प्राप्त कर वह इन्द्र हो गया तथा मनमानी कर सबको सताने लगा। उसके कुकर्मों से सन्तप्त जब देवगण विष्णु से उसके संहार की प्रार्थना करते हैं तब विष्णु इसी गदा से उसका संहार कर देते हैं। हरि को आदि गदाधर इसलिए कहा जाता है क्योंकि इन्होंने ही सर्वप्रथम उस गदा को धारण कर गयासुर के सिर को स्थिर किया था। ब्रह्मा के

---

<sup>१</sup> वायु० १०९/३-२६

अनुरोध पर ही विष्णु फल्गु तीर्थ में अव्यक्त रूप में, विष्णुपद में व्यक्ताव्यक्त रूप में तथा मूर्तियों में व्यक्त रूप में स्थित हैं। यह आख्यान धार्मिक विश्वासों के आलोक में गढ़ा गया है।

### भगवान् मार्तण्ड तथा संज्ञा द्वारा बड़वा रूप धारण करना<sup>१</sup>

८४ वें अध्याय में ऋषियों द्वारा 'सूर्य को मार्तण्ड किसलिए कहा जाता है, किस कारण संज्ञा ने बड़वारूप धारण किया? किस प्रकार अपनी नासिका के छिद्रों से पुत्र को उत्पन्न किया? ऐसी जिज्ञासा किये जाने पर सूत जी ने निम्न आख्यान प्रस्तुत किया है—

प्राचीनकाल में सूर्य विश्वकर्मा द्वारा फोड़े गये एक अण्डे से उत्पन्न हुए थे और स्वयं उनके पिता ने इन्हें 'मार्तण्ड' (मरे हुए अण्डे से पुनः उत्पन्न) कहा था। इन्हीं मार्तण्ड की 'सुरेणु' नामकी पत्नी थी जो कि 'संज्ञा' नाम से भी विख्यात थी। इनसे इनकी तीन सन्तानें उत्पन्न हुई थी—मनु, यमराज, और यमी। एक बार इनके तेज को सहन करने में अपने को असमर्थ जानकर संज्ञा ने अपनी ही भॉति अपने एक प्रतिबिम्ब का निर्माण किया और उससे इस रहस्य को गुप्त रखने का निवेदन कर अपने पिता विश्वकर्मा के घर चली जाती है। संज्ञा को इस तरह अपने घर आया देख पिता उस पर क्रुद्ध होते हैं तथा तत्क्षण वापस चले जाने को कहते हैं, किन्तु वह वापस नहीं जाती, और एक सहस्र वर्ष तक वहीं रहती है। अन्त में अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाकर, बड़वा—रूप धारण कर उत्तर कुरु प्रदेश में तृणों द्वारा अपनी जीविका चलाने लगती है। उधर मृण्मयी संज्ञा में सूर्य ने असली संज्ञा की भावना से श्रुतश्रवा (सावर्णिमनु) और श्रुतकर्मा (शनैश्चर ग्रह) नामक दो अपने ही समान परम तेजस्वी और धर्मज्ञ पुत्रों को उत्पन्न किया। वह मृण्मयी संज्ञा जितना स्नेह अपने पुत्रों को करती थी उतना बड़ी सन्ततियों को नहीं। उनके इस मनोभाव को मनु तो किसी प्रकार सहन कर लेते

---

<sup>१</sup> वायु० ८४/२६-८६



थे पर यमराज नहीं। एक दिन उनके व्यवहार से क्षुब्ध होकर यमराज उन्हें ठोकर मार देते हैं जिससे रुष्ट होकर वह उनके इस पैर के गिरने का शाप दे देती हैं। दुःखी होकर वह सूर्य को सारी बातों से अवगत कराते हैं साथ ही माता के शाप से अपनी रक्षा की भी प्रार्थना करते हैं। सूर्य शाप को मिटाने में स्वयं को असमर्थ बताते हैं किन्तु इसे दूर करने का उपाय बता कर मृण्मयी संज्ञा से सच बयान कहने को कहते हैं। पहले तो वह मौन रहती है किन्तु जैसे ही सूर्य योगबल से सब जान जाते हैं और उन्हें शाप देने को तत्पर होते हैं वैसे ही वह सारी बातें यथातथ्य रूप में प्रकट कर देती है। वास्तविकता जानकर क्रुद्ध होकर सूर्य विश्वकर्मा के पास जाते हैं। विश्वकर्मा उन्हें शान्त कर संज्ञा का पता देते हैं, साथ ही रूप—परिवर्तन करने को भी कहते हैं। तदनन्तर सूर्य इसके लिए तैयार हो जाते हैं और विश्वकर्मा अपने चक्र से उनके तेज की प्रखरता को खराद देते हैं। परिणामतः जो सूर्य पहले मोहक नहीं लगते थे वही अब आकर्षक दिखाई देने लगते हैं। सूर्य अश्व का रूप धारण कर बडवारूपधारिणी संज्ञा के समक्ष उपस्थित होकर मुख में काम—भावना प्रकट करते हैं। वह परपुरुष की शंका से उनके वीर्य को नासिका के दोनों छिद्रों से बाहर गिरा देती है, जिससे 'नासत्य' और 'दस्र' नामक दो वैद्य अश्विनी कुमारों की उत्पत्ति होती है। यमुना इन्हीं दोनों की छोटी भगिनी थी। अन्त में सूर्य अपने मनोहर रूप को संज्ञा के समक्ष प्रकट कर देते हैं जिसे देखकर संज्ञा परम संतुष्ट होती है।

### राजा वेन और उनके पुत्र पृथु द्वारा पृथ्वी दोहन <sup>१</sup>:

राजा वेन अत्रि—वंशोत्पन्न 'अंग' प्रजापति का पुत्र था। इसकी माता मृत्यु—पुत्री 'सुनीथा' थी। नाना के दोषों के कारण वेन क्रूर प्रकृति वाला था। वह वेदशास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन कर अधर्म में रत हो गया था। उसने अपने राज्य में यह घोषणा कर रखी थी कि

---

<sup>१</sup> वायु०, अ० ६२/९४—१७८

उसके राज्य में न कोई यज्ञ करे, न दान दे और न कोई हवन ही करें । उसके इस प्रकार अधर्मी हो जाने पर लोगों ने उसे बहुत समझाया किन्तु उसने उनकी एक न सुनी, बल्कि धर्म—विरुद्ध कई कानून और बना दिये । दिन—प्रतिदिन बढ़ते अत्याचारों को देखकर मरीचि आदि महर्षियों ने उसे पुनः समझाया किन्तु दुर्बुद्धि वेन पर उनकी किसी भी बात का कोई असर नहीं हुआ। उसके दुष्कर्म जारी रहे । वह तो यहाँ तक कहने लगा कि “राज्य मेरा है । मैं अपनी इच्छा से चाहूँ तो जला दूँ अथवा अभिनव सृष्टि कर दूँ।” पुनः पुनः समझाने पर भी जब वह अधर्मी नहीं माना तो कुपित होकर महर्षियों ने उसके बायें हाथ का मन्थन किया। तत्क्षण एक अति अल्पकाय, कृष्णवर्ण एवं दीन—हीन चेष्टावाला पुरुष उत्पन्न हुआ। कालान्तर में यही निषाद वंश का कर्ता हुआ। तदनन्तर कुपित महर्षियों ने जब उसके दाहिने हाथ का मन्थन किया तो उससे अग्नि की तरह देदीप्यमान शरीरवाला ‘पृथु’ उत्पन्न हुआ जिसके प्रताप से ‘वेन’ नरक से बचकर स्वर्ग को प्राप्त हुआ । महर्षि ‘पृथु’ को राज्यपद पर अभिषिक्त करते हैं, जो प्रजा राजा वेन के दुर्व्यवहार से अप्रसन्न रहती थी, पृथु उन्हें अपने सद्व्यवहार से प्रसन्न करते हैं । इन्हीं के काल में ‘सूत’ और मागधों की उत्पत्ति हुई जिन्होंने ऋषियों और देवताओं के कथनानुसार ‘पृथु’ की स्तुति की । एक बार प्रजा द्वारा ‘तुम हम लोगों की जीविका का प्रबन्ध करो’ ऐसा कहे जाने पर प्रसन्न राजा ने धनुष—बाण लेकर वसुधा को अतिशय पीड़ित किया जिससे संत्रस्त होकर पृथ्वी गौ—रूप धारण कर भागने लगी। राजा भी उसके पीछे दौड़ने लगा। किन्तु तीनों लोकों में जब उसे अपने त्राण का कोई उपाय नजर न आया तो वह पृथु की शरण में आकर करबद्ध होकर स्त्री—वध का निषेध करती है.. वह कहती है कि मैं अन्न रूप में परिणत हो जाती हूँ । इसके लिए वह राजा से एक बछड़ा मांगती है और यह भी कहती है कि तुम मुझे चारों ओर से बराबर करो जिससे बहता हुआ मेरा क्षीर चारों ओर समरूप में प्रवाहित हो सके । तदनन्तर राजा उसके आदेशानुसार वैसा ही

करता है। परिणामतः पृथ्वीतल में सभी वस्तुएँ उत्पन्न होने लगती हैं। इस प्रकार पृथु ने वसुन्धरा का दोहन कर प्रजाजनों की जीविका चलायी।

### त्रिशंकु—आख्यान<sup>१</sup>

राजा सत्यव्रत, त्रय्यारुण' के पुत्र थे । इन्होंने अपनी इच्छा एवं बल से विदर्भ—नरेश की स्त्री को सप्तपदी होने के अवसर पर समस्त देवताओं को पराजित कर हरण कर लिया था, इससे रुष्ट होकर इनके पिता ने इन्हें घर से निकल जाने का आदेश देकर उनका परित्याग कर देने हैं। पिता के निरादरपूर्ण वचनों के साथ नगर से बाहर उन्हीं की आज्ञा से चाण्डालों की वस्ती के समीप रहने लगते हैं । उनके जाते समय महर्षि वसिष्ठ भी उन्हें रोकते नहीं हैं और चुप रहते हैं । सत्यव्रत उनके इस मौनालम्बन के रहस्य को नहीं समझ पाते हैं। इधर इनके पिता भी वन चले जाते हैं। पिता और पुत्र की अनुपस्थिति में अराजकता के भय से 'वसिष्ठ' पुरोहितों एवं उपाध्यायों के सहयोग से राज्य की रक्षा करते हैं। सत्यव्रत जहाँ पर निवास कर रहे थे उसी प्रान्त में विश्वामित्र अपनी स्त्री और पुत्रों को निराधार छोड़कर सागर — तटवर्ती प्रान्त में घोर तप कर रहे थे और उनकी पत्नी मँझले पुत्र को गले (इसी कारण इसका नाम 'गालव' पड़ा) में बाँधकर अन्य पुत्रों के भरण—पोषणार्थ सौ गायों के बदले बेचने के लिए घूम रही थी। सत्यव्रत उन्हें ऐसा करने से रोकते हैं तथा ऋषि को प्रसन्न करने के लिए स्वयं इनके परिवार की देख—रेख करते हैं। इस प्रकार उनके बारह वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। एक दिन मांस का अभाव हो जाने पर वह चाण्डालों के आचरणानुसार वसिष्ठ की कामधेनु का वध कर उसके माँस को स्वयं भी खाते हैं और ऋषि—पुत्रों को भी खिलाते हैं जिससे रुष्ट हो वसिष्ठ 'तुम्हें अब हम गिरा रहे हैं' ऐसा कहते हुए उनके तीन अपराधों का स्मरण कर उनका 'त्रिशंकु' (महापापरूप कील) नाम रख देते हैं। उधर तप से निवृत्त विश्वामित्र

<sup>१</sup> वायु० ८८/७७—११४

को जब यह ज्ञात होता है कि सत्यव्रत ने उनकी अनुपस्थिति में परिवार की देख-रेख की है तो प्रसन्न होकर उन्हें वरदान देते हैं। इसी बीच त्रिशंकु वसिष्ठ द्वारा दिये गये शाप का वृत्तान्त भी बता देते हैं। तदनन्तर विश्वामित्र सत्यव्रत को राज्यपद पर अभिषिक्त करते हैं और उन्हीं के द्वारा यज्ञादि कार्य सम्पन्न कराकर स्वर्ग में प्रतिष्ठित करते हैं। महर्षि वसिष्ठ उनके इस कार्य को देखकर हतप्रभ रह जाते हैं।

### राजा सगर और उनके पुत्रों का मुनि—शाप से भस्म होना<sup>1</sup>

प्राचीन काल में 'बाहु' नाम का एक बड़ा ही अधार्मिक प्रवृत्ति का राजा था। परम व्यसनी उस राजा के सम्पूर्ण राज्य को हैहय, तालजंघ एवं शकों के साथ-साथ यवन, पारद, कम्बोज और पल्हवों ने आक्रमण करके छीन लिया था। इससे दुःखी हो घर छोड़कर वह पत्नी के साथ वन जाकर तप करने लगते हैं। एकदिन वह जल लेने के लिए जा रहे थे कि वृद्धता एवं दुर्बलता के कारण बीच मार्ग में ही इनकी मृत्यु हो गई। इनकी पत्नी 'यादवी', जो कि उस समय गर्भवती थी, पति का अनुगमन करने के लिए प्रस्तुत होती है। इधर उनके गर्भ को मारने की नीयत से सपत्नी इन्हें, विष दे देती है। जैसे ही वह यादवी को पति की चिता पर बैठाकर आग लगाती है उसी क्षण और्व मुनि वहाँ आ जाते हैं और गर्भवती जानकर उन्हें ऐसा करने से रोकते हैं तथा अपने साथ आश्रम में ले आते हैं। वहीं आश्रम में ये विष के साथ पुत्र 'सगर' को उत्पन्न करती है। मुनिवर जातकर्मादि संस्कारोपरान्त सगर को अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा देते हैं जिसके बलबूते पर यह हैहयों का वध कर देते हैं तथा शक, यवनादि को भी जब ये निर्जीव करने का विचार करते हैं तो भयभीत होकर ये सब वसिष्ठ ऋषि की शरण में जाते हैं। ऋषि इन्हें अभयदान देते हैं तथा राजा को इस संहार-कार्य से निवारित करते हैं। राजा अपने प्रण को रखने के लिए तथा गुरु के आदेश का विचार कर

---

<sup>1</sup> वायु० : ८८/१२१-१६५

उन सब के धर्मों को नष्ट कर वेदाध्ययन, यज्ञ, हवनादि से वंचित कर देता है। इसी राजा सगर की दो पत्नियाँ थीं— केशिनी और सुमति । इनके तप से प्रसन्न होकर और्व मुनि ने इनमें से एक को वंशकर्ता एक पुत्र प्राप्ति का तथा दूसरी को साठ सहस्र पुत्र प्राप्ति का वरदान दिया था। वरदानानुसार बड़ी रानी केशिनी ने 'असमञ्ज' (काकुत्स्थ) को तथा सुमति ने अपने गर्भ से एक तुम्ब उत्पन्न किया जिसके बीच से साठ सहस्र पुत्र निकले जिन्हें देखकर राजा परम हर्षित हुए। कालान्तर में धर्मविजयी इस राजा ने 'अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया और भ्रमणार्थ छोड़े गये अश्व को जब पूर्व—दक्षिण समुद्र के तटवर्ती प्रान्त में अपहृत कर पृथ्वी के भीतर छिपा दिया गया तब राजा ने अश्व को खोजने के लिए अपने सभी पुत्रों द्वारा समुद्र को खनवा डाला । समुद्र को खनते समय उन्होंने विष्णु को कपिल मुनि के वेश में देखा और चोर समझकर जैसे उनके नेत्रों के पास आते हैं वैसे सब भस्म हो जाते हैं, केवल चार पुत्र बचते हैं जिनसे इनका वंश आगे बढ़ता है ।

### दक्ष—यज्ञ—विध्वंश<sup>1</sup> :

अध्येय पुराण में उपलब्ध दक्ष—यज्ञ—विध्वंस का वर्णन अन्यत्र उपलब्ध कथानक से किञ्चित् भिन्न है। प्रायः सर्वत्र मिलता है कि दक्ष यज्ञ में शिव का भाग न देकर शिव पत्नी सती योगाग्नि में जलकर आत्म बलिदान कर देती हैं। तदनन्तर वीरभद्र शिवाज्ञा से दक्ष के यज्ञ का विध्वंस करते हैं। किन्तु वायुपुराण में आख्यात है कि किसी समय सती दक्ष के घर गई पर जब वहाँ उनका सम्मान न हुआ तो वह आत्मघात कर लेती हैं। इससे क्रुद्ध शिव दक्ष को शाप देते हैं कि तुम अगले जन्म में वृक्ष—कन्या 'मारिषा' के गर्भ से उत्पन्न होंगे और तुम्हारा नाम दक्ष ही होगा । शिव के कथनानुसार ऐसा ही हुआ और उस जन्म में भी दक्ष ने एक यज्ञ का सम्पादन किया किन्तु महादेव को आमंत्रित नहीं किया । आकाशमार्ग से जाते

<sup>1</sup> वायु० ३०/३८—३२१; ६३/३५; ७१/२; १०१/२९६—३००

हुए देवताओं को देखकर पार्वती शिव से पूछती हैं । शिव उन्हें सारी वस्तुस्थिति से अवगत कराते हैं जिसे सनुकर वह रुष्ट होती हैं। शिव, उमा द्वारा प्रेरित होकर वीरभद्र द्वारा दक्ष के यज्ञ का विध्वंस करा देते हैं। उमा के क्रोध से उत्पन्न भद्रकाली इस कार्य में पूर्ण सहयोग देती है। तदनन्तर दक्ष शिव को शान्त करते हैं और आठ हजार नामों द्वारा उनका स्तवन करते हैं। इससे प्रसन्न होकर शिव उन्हें विविध यज्ञों का फल प्रदान करते हैं। इस प्रकार यह आख्यान दक्ष और रुद्र के बीच जन्मान्तरों के द्वेषभाव की कथा का वर्णन करता है, जो रामायण, शिव पुराण आदि से भिन्नता रखता है।

### अन्य आख्यान :

अध्येय पुराण में आगत अन्य आख्यानों में कल्कि अवतार(९८/१०४-१२६); कुबेर को धनादि की प्राप्ति; (४०/८, ४७/१, ७०/३८) जहनु द्वारा गंगा-पान (९१/५४-६०); दीर्घतमस्-आख्यान; (९९/३६-६२); दुष्यन्त-शकुन्तला (९९/१३३-१३९); देवशर्मा की तपस्या (१/६०-६६); खर, दूषण और त्रिशिरा-वध; (७०/४९-५०); विरोचन-आख्यान; (९७/८१-८४); शर्मिष्ठा-देवयानी(९३/१५-१६, १/१५५); हरिश्चन्द्र-आख्यान(८८/११८); हिमाचल-मैना (३०/२८, अ० ७२); राजा गय (११२/१-६); श्राद्ध द्वारा राजा विशाल को सन्तति-लाभ (११२/७-१५); प्रेत-मुक्ति (११२/१६-२०); सुद्युम्न की स्त्री- रूप में परिणति (तत्रैव, अ० ८५); प्राणरूप रुद्र एवं हरिहर का सामञ्जस्य ( अ० २४) आदि आख्यान विशेषरूप

में उल्लेखनीय हैं।

वायुपुराणागत उपर्युक्त आख्यानों में सत्य, न्याय, दया, सहयोग, लगन, प्रेम, वैराग्य, भक्ति, दान, एकता, कर्तव्यनिष्ठा आदि दैवी तत्त्व प्रतिष्ठित हैं, जिनके माध्यम से राष्ट्र को समुन्नत एवं दृढ़ बनाने , नैतिक मूल्यों की स्थापना तथा उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा संभव है।

ऋषियों—मुनियों, देवी—देवताओं की भव्य कथाएँ, सूर्य तथा चन्द्रवंशी चरितप्रधान नायकों के आख्यान एवं तीर्थ—माहात्म्य अन्ततः भगवत्प्राप्ति के आदर्श प्रस्तुत करते हैं । ये आख्यान, मात्र आख्यान नहीं है प्रत्युत इनमें भारतीय संस्कृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व निगूढ़ हैं। इन आख्यानों के रूप को परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल तथा सामान्य जन—वर्ग की प्रवृत्ति के अनुसार संवारा गया है। इन भक्तिरस—परिलुप्त, मंगलमयी, शोक—निवारणी, ज्ञान—प्रदायिनी दिव्य कथाओं के श्रवण—मनन, पठन—पाठन से जनसाधारण भी निश्चित ही भक्ति तत्त्व के अनुपम रहस्य को सहज ही जान सकेगा ।



‘एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतम्।  
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥’

पञ्चम—परिच्छेद  
‘सृष्टिक्रम, वंशवर्णन एवं भूगोल—खगोल’

- सृष्टि—प्रक्रिया
- वंश एवं वंशानुचरित
- वायुपुराणगत भूगोल
- खगोल—विद्या



### सृष्टि—वर्णन

पुराणपञ्चलक्षणों के अन्तर्गत सर्ग या सृष्टि—विद्या आद्य एवं मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। यह पुराण के सर्वप्राचीन लक्षण के अन्तर्गत परिगणित है। शंकराचार्य ने अपने बृहदारण्यक भाष्य में तथा आचार्य सायण ने वेदों में आगत पुराण शब्द को निरूपित करते हुए सृष्टि—प्रक्रिया—घटित वृत्तान्त को ही 'पुराण' कहा है।<sup>१</sup> सृष्टि के विषय में जितना स्पष्ट एवं विस्तृत विवरण पुराणों में मिलता है उतना अन्यत्र कहीं नहीं ।

साधारणतः चराचर जगत् की उत्पत्ति या सृष्टिक्रम ही सर्ग है। 'सर्ग' को परिभाषित करते हुए भागवतकार ने कहा है कि मूल प्रकृति में लीन त्रिगुण में क्षोभ से महत्तत्त्व और महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्राएँ, एकादश इन्द्रियों तथा पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति—क्रम सर्ग है।<sup>२</sup> वायुपुराण में गुणों की साम्यावस्था को प्रलय तथा गुण—वैषम्य को सृष्टि कहा गया है।<sup>३</sup>

पौराणिक सृष्टि—प्रक्रिया पर सांख्य का बहुत अधिक प्रभाव देखा जा सकता है। किन्तु उसे ज्यों—का—त्यों ग्रहण नहीं किया जा सकता है। यहाँ वर्णित सांख्य सेश्वर है। अतएव यहाँ निरीश्वर सांख्य से किञ्चित् भिन्नता दृष्टिगोचर होती है और इस प्रकार पौराणिक सृष्टि—रचना अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है।

वायुपुराण के अध्याय तीन—छः, नौ—दस, चौसठ—उनहत्तर, एक सौ दो—एक सौ तीन वें अध्यायों में मुख्यतः सृष्टि रचना का उल्लेख हुआ है। निष्क्रिय रूप से समभावेन अवस्थित प्रकृति और पुरुष में सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परमेश्वर का अनुप्रवेश होकर प्रकृति के त्रिगुण में

<sup>१</sup> मत्स्यपुराणम्, पूर्वभाग, प्राक्कथन, पृ० २

<sup>२</sup> अव्याकृतगुणक्षोभात् महत्स्त्रिवृतोऽहमः ।

भूतमात्रेन्द्रियार्थाज्ञेनां सम्भवः सर्ग उच्यते ॥ भागवत० १२/७/११

<sup>३</sup> गुणसाम्ये लयो ज्ञयो वैषम्ये सृष्टिरुच्यते । वायु० ५/९

क्षोभ होने पर सर्ग का आरम्भ बताया गया है। सर्ग के मुख्य तीन भेद प्राकृत, वैकृत और कौमार का यहाँ स्पष्ट निर्देश हुआ है। इसके अतिरिक्त भी काश्यपीय—प्रजासर्ग, पितृसर्ग आदि पर निरन्तर कई अध्याय दिये गये हैं।

वायुपुराण में विश्व के सृष्टितत्त्व और उसके विकास का वर्णन अध्याय ३—६ में देखने को मिलता है। उसके अनुसार सृष्टि के आदिकाल में अजन्मा, अनादि, अनन्त ब्रह्म, सृष्टि का समय आने पर त्रिगुणात्मक प्रकृति को क्षुब्ध करते हैं। तदनन्तर महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है, इससे सात्त्विक, राजस, तामस रूप त्रिविध अहंकार की तथा अहंकार से पंचतन्मात्राओं और इनसे पंचमहाभूतों का आविर्भाव होता है। राजस अहंकार से पञ्चकर्मेन्द्रियों और पञ्चज्ञानेन्द्रियों की तथा सात्त्विक अहंकार से मन की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व से लेकर विशेष पर्यन्त सभी महत्तत्त्व एक—दूसरे के आधार बनकर पुरुष के अधिष्ठान तथा अव्यक्त के अनुग्रह से अण्ड की उत्पत्ति करते हैं जिसमें से सत्स्वरूप क्षेत्रज्ञ, प्रथम शरीरी, पुरुष और भूतों के आदिकर्ता ब्रह्मा हुए। उन्होंने चराचर त्रैलोक्य को उत्पन्न किया। इस विषय में अध्याय १०३/३६—३८ में भी विवेचित है कि प्रकृति पुरुष के संयोग से ब्रह्मा का जन्म हुआ। वही समस्त उत्पन्न पदार्थों का पिता एवं महत् पद से विशिष्ट कहा जाता है। उस महत् से अहंकार का उद्भव होता है। उसकी आत्मा से भूतों की उत्पत्ति होती है। वे समस्त भूतचय एक ही साथ उत्पन्न होते हैं। वे ही इन्द्रियों के नाम से भी विख्यात हैं। उन भूत—समूहों से अन्यान्य भूत—भेदों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सृष्टि का प्रवर्तन होता है।

### नवसर्ग

प्रकृत पुराण में प्राकृत, वैकृत और प्राकृत—वैकृत इन मुख्य तीन भेदों के अन्तर्गत सर्ग के नव प्रकारों का उल्लेख हुआ है। प्राकृत के तीन उपभेद—ब्रह्म, भूत, वैकारिक और वैकृत के पाँच उपभेद—मुख्य, तिर्यक, देवसर्ग, मानुष और अनुग्रह तथा नवाँ कौमार सर्ग बतलाया

ग्या है<sup>१</sup> इनमें से जो प्राकृत सर्ग है उसकी उत्पत्ति बुद्धिपूर्वक कही गयी है।<sup>२</sup> इन समस्त सर्गों की आधारशिला अनन्त सत्ता अखण्ड चैतन्य और एकमात्र आनन्दस्वरूप 'ब्रह्म' को कहा गया है। संक्षेप में इन नवसर्गों का वर्णन इस प्रकार है—

### ब्रह्मसर्ग :

महान् ब्रह्मा की उत्पत्ति प्रथम या ब्रह्मसर्ग है। प्रथम होने के कारण इसको महत् सर्ग कहा गया है।<sup>३</sup> सांख्यमत में भी प्रकृति—पुरुष के संयोग का प्रथम परिणाम बुद्धि अथवा महत्तत्त्व ही कहा गया है।<sup>४</sup>

### भूतसर्ग :

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति को द्वितीय 'भूतसर्ग' कहा गया है।<sup>५</sup> सांख्य में इसी से 'पञ्चमहाभूतों' की उत्पत्ति कही गयी है और इसी को 'अविशेष' कहा गया है।<sup>६</sup>

### वैकारिक सर्ग :

इन्द्रिय सम्बन्धी सर्ग वैकारिक सर्ग है और इन्द्रियजनित होने के कारण इसे 'ऐन्द्रियक'

<sup>१</sup> (क) पञ्चैते वैकृताः सर्गाः प्राकृतास्तु त्रयः स्मृताः ।

प्राकृतो वैकृतश्चैव कौमारो नवमः स्मृतः ॥ वायु० ६/६४

(ख) इत्येते प्राकृताश्चैव वैकृताश्च नव स्मृताः ॥ तत्रैव ६/६८

<sup>२</sup> (क) इत्येष प्राकृतः सर्गः संभूतो बुद्धिपूर्वकः । तत्रैव, ६/६१

(ख) प्राकृतास्तु त्रयः सर्गाः कृतास्ते बुद्धिपूर्वकाः । तत्रैव ६/६५

उपर्युक्त श्लोक—पाठ में आगत 'बुद्धिपूर्वकः' के स्थान पर 'अबुद्धिपूर्वक' होना चाहिए जैसा कि अन्य पुराणों (मार्कण्डेय० अ० ४७, शिव०, वायवीय०, १/१२/१८) में उपलब्ध है। वास्तव में प्राकृत सर्ग अबुद्धिपूर्वक (नैसर्गिक) होता है जबकि वैकृत सर्ग बुद्धिपूर्वक । प्रकृत पुराण की कुछ पंक्तियाँ इस तथ्य पर अस्पष्ट रूप से किंचित् प्रकाश डालती हैं— (क) बुद्धिपूर्वं प्रवर्तन्ते षट्सर्गा ब्रह्मणस्तु ते ॥ तत्रैव, ६/६५

(ख) तस्याभिध्यायतः सर्गं सदा वै बुद्धिपूर्वकम् । तत्रैव, ६/३५

(ग) मुख्यादयस्तु षड्सर्गा वैकृता बुद्धिपूर्वकाः । तत्रैव, ९/११८

<sup>३</sup> प्रथमो महतः सर्गो विज्ञेयो महतस्तु सः ॥ तत्रैव, ६/५९

<sup>४</sup> प्रकृतेर्महास्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।

तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ सांख्यकारिका, कारिका २२

<sup>५</sup> तन्मात्राणां द्वितीयस्तु भूतसर्गः स उच्यते । वायु० ६/६०

<sup>६</sup> तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।

एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोरश्च मूढाश्च ॥ सांख्यकारिका, कारिका ३८

भी कहा जाता है।<sup>१</sup>

### मुख्य सर्ग :

भूमि, पर्वत, वृक्ष आदि मुख्य स्थावर हैं और इनकी उत्पत्ति विषयक चौथा 'मुख्यसर्ग' है।<sup>२</sup> ब्रह्मा ने लोकसृष्टि के अनन्तर प्रजासृष्टि की। जिस समय ध्यानावस्थित होकर उन्होंने बुद्धिपूर्वक सृष्टि की इच्छा की, उसी समय ध्यान के साथ ही तम, मोह, महामोह, तमिस्र तथा अन्धतामिस्र नामक पाँच प्रकार की (अविद्या पञ्चपर्वेषा) तमोमय सृष्टि हुई। वह सर्ग चारों ओर से अन्धकार से ढका ऐसा जान पड़ता था मानो घड़े से ढका दीपक हो। यह सर्ग बाहर—भीतर से प्रकाशमान, शुद्ध और निःसंज्ञ (अचेतन) था। उन पाँचों से बुद्धि और मुख्य करण (इन्द्रियाँ) ढँकी हुई थीं, अतएव वे संवृत्तात्मा 'नग' मुख्य सर्ग कहलाये।<sup>३</sup>

### तिर्यक्सर्ग :

तिर्यक् (पशु, पक्षी, सर्प आदि की उत्पत्ति) स्रोत वाले पाँचवे सर्ग को 'तिर्यक्योनि' कहा गया है।<sup>४</sup> ब्रह्मा जब अपने मुख्य सर्ग से विरक्त हो अन्य सृष्टि के लिए ध्यान करने लगे तब वहाँ तिर्यक् (तिरछा) स्रोत नामक सर्ग उत्पन्न हुआ। इसका 'तिर्यक्स्रोत' नामकरण इसलिये हुआ क्योंकि उस समय के पदार्थ तिर्यक् (उल्टा) व्यवहार और व्यापार करने वाले, तमोगुण की अधिकता के कारण अज्ञानी, विपरीत मार्ग पर चलने वाले, ध्यान और अध्यान पर कुछ भी विचार न करने वाले थे।<sup>५</sup>

### देवसर्ग :

देवताओं की उत्पत्तिविषयक ऊर्ध्वस्रोत वाले छठे सर्ग को 'देवसर्ग' कहा गया

<sup>१</sup> वैयाकारिकस्तृतीयस्तु सर्वे ऐन्द्रियकः स्मृतः ॥ वायु० ६/६०

<sup>२</sup> मुख्यसर्गश्चतुर्थस्तु मुख्या वै स्थावरः स्मृताः । तत्रैव ६/६१

<sup>३</sup> तत्रैव ६/३३-३९

<sup>४</sup> तिर्यक्स्रोताश्च यः सर्गस्तिर्यक्योनिः स पञ्चमः । तत्रैव ६/६२

<sup>५</sup> तत्रैव ६/४०-४५

है।<sup>१</sup>

तिर्यक्स्रोत वाली सृष्टि से अप्रसन्न होकर ईश्वर ने इसकी रचना की थी। उनके नित्य ध्यान से यह सात्त्विक सर्ग उत्पन्न हुआ था। यह ऊर्ध्व दिशा की ओर व्यवस्थित है और ऊपर की ओर ही गति या प्रवृत्ति है इसलिए इस सर्ग का नाम 'ऊर्ध्वस्रोत' पड़ा। इस सर्ग के जीव सुखी और प्रेमी थे। उनका अन्तः और बाह्य दोनों प्रकाशमान और समानरूप से व्यवस्थित था। इसी सर्ग के अन्तर्गत जीवों में प्राण संचार करने वाले वायु आदि सम्मिलित हैं। इस सृष्टि से ब्रह्मा अत्यन्त प्रसन्न हुए।<sup>२</sup>

### मानुषसर्ग :

मनुष्यों की उत्पत्तिरूप अर्वाक्स्रोत वाले सातवें सर्ग को 'मनुष्यसर्ग' कहा गया।<sup>३</sup> देवसर्ग के अनन्तर ब्रह्मा ने इच्छानुकूल इस सृष्टि करने का विचार किया और उनके चिन्तन—स्वरूप 'अर्वाक्स्रोत' नामक सर्ग उत्पन्न हुआ। इसे अर्वाक्स्रोत इसलिए कहा गया क्योंकि यह अर्वाक् (मध्यगत) प्रवृत्ति वाला था। इस सर्ग के जीव प्रकाश, सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुणों में यथेष्ट पूर्ण थे। इसलिए उनमें दुःख की बहुलता, सक्रिय, अन्तः—बाह्य सभी ओर से प्रकाशपूर्ण और सृष्टि में सहायक, तारकादि लक्षणों से आठ रूपों में स्थित एवं गन्धर्वों के वे सहधर्मी हुए। इस प्रकार यह सर्ग 'तैजस्' और अर्वाक्स्रोत कहा गया।<sup>४</sup>

### अनुग्रह सर्ग :

सात्त्विक और तामसिक के संमिश्रण से प्रादुर्भूत आठवें सर्ग को 'अनुग्रह सर्ग' कहा गया है।<sup>५</sup> इसके शक्ति, तुष्टि, सिद्धि तथा विपर्यय चार भेद बताये गये हैं और इन्हें क्रमशः

<sup>१</sup> तथोर्ध्वस्रोतसां षष्ठो देवसर्गस्तु स स्मृतः । वायु०, ६/६२

<sup>२</sup> तत्रैव, ६/४५—५०

<sup>३</sup> तथाऽर्वाक्स्रोतसां सर्गः सप्तमः स तु मानुषः । तत्रैव ६/६३

<sup>४</sup> तत्रैव, ६/५०—५५

<sup>५</sup> अष्टमोऽनुग्रहः सर्गः सात्त्विकस्तामसस्तु सः । तत्रैव ६/६३

तिर्यग्योनि, देवताओं, मनुष्यों तथा स्थावरों में निहित कहा गया है। इस सृष्टि के प्राणी ब्रह्म के विवृत्त रूप एवं उसके वर्तमान अर्थ को तात्त्विक रूप से जानते हैं।<sup>१</sup>

यहाँ भावों की सृष्टि अभीष्ट है। सांख्य में यह 'प्रत्यय सर्ग' कहा गया है जिसके चार भेद विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि तथा सिद्धि नाम से प्रख्यात हैं।<sup>२</sup> वायुपुराण की दृष्टि कुछ भिन्न ही है। समस्त प्राकृत सर्ग प्रकृति के अनुग्रह से जायमान होने के कारण ही अनुग्रह सर्ग कहलाता है। वायुपुराण का यह वर्णन बड़ा ही रोचक तथा साहित्यिक चमत्कार से मण्डित है।<sup>३</sup> यहाँ इस समस्त प्राकृत सर्ग को अनुग्रह सर्ग कहा गया है।

### कौमार सर्ग :

प्राकृत—वैकृत उभयात्मक नवाँ और अन्तिम सर्ग 'कौमार सर्ग' कहा गया है।<sup>४</sup>

उपर्युक्त समस्त सर्ग तीनों कालों में प्रवर्तित तथा विद्वानों द्वारा परस्पर एक दूसरे के कारण कहे गये हैं।<sup>५</sup>

प्राणिसृष्टि के अन्तर्गत प्राणियों में प्रमुख असुर, सुर, पितर और मनु (मनुष्य) की सृष्टि के विषय में यहाँ ( वायु० ९/१-५९) आख्यात है कि ब्रह्मा ने ध्यान करते हुए सृष्टि कार्य आरम्भ किया । सर्वप्रथम उनकी जंघाओं से 'असुर' (प्राण) उत्पन्न हुए। इस शरीर को ब्रह्मा ने

<sup>१</sup> वायु०, ६/५७, ६६-६८

<sup>२</sup> एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्धयाख्यः ।

गुणवैषम्य विमर्दात् तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत् ॥ सांख्यकारिका, कारिका, ४६

<sup>३</sup> अव्यक्तबीजप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः ।

बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियाङ्कुरकोटरः ॥

महाभूतप्रशाखश्च विशेषैः पत्रवांस्तथा ।

धर्माधर्मसुषुप्स्तु सुखदुःखफलोदयः ॥

आजीवः सर्वभूतानामयं वृक्षः सनातनः ।

एतद्ब्रह्मवर्णं चैव ब्रह्मवृक्षस्य तस्य ह ॥

अव्यक्तं कारणं यत्तु नित्यं सदसदात्मकम् ।

इत्येषोऽनुग्रहः सर्गो ब्रह्मणः प्राकृतस्तु यः । वायु० ९/११४-११७

<sup>४</sup> प्राकृतो वैकृतश्चैव कौमारो नवमः स्मृतः । तत्रैव ६/६४

<sup>५</sup> त्रैकाले समवर्तन्त ब्राह्मणस्तेऽभिमानिनः ।

सर्गाः परस्परस्याथ कारणं ते बुधैः स्मृताः । तत्रैव, ९/११८-११९

ज्यों ही छोड़ा त्यों ही वह शरीर 'रात्रि' रूप में परिणत हो गया । तमोबहुल होने के कारण रात्रि 'त्रियामा' कहलायी । यही कारण है कि समस्त प्रजा रात में तमोगुण से आवृत्त हो जाती है। तदनन्तर ब्रह्मा ने अव्यक्त और सत्त्वबहुल शरीर का आश्रय ग्रहण कर 'देवगण' को उत्पन्न किया। पुनः इस शरीर को छोड़कर सत्त्वमात्रात्मक नवीन शरीर धारण कर 'पितरों' का सृजन किया और उनका पूर्व परित्यक्त शरीर 'दिन' रूप में परिवर्तित हो गया । इसलिए कर्मानुष्ठान के लिए दिन में ही उपासना की जाती है। पुनश्च वह त्यक्त शरीर 'सन्ध्या' बन गया । तत्पश्चात् ब्रह्मा ने रजःप्रधान शरीर का आश्रयण किया और 'मानस' सन्तानों को उत्पन्न किया । उनके द्वारा त्यक्त यह शरीर 'ज्योत्स्ना' रूप में अर्थात् प्रभातकाल में प्रकट हो गया। इसलिए दिन देवों के लिए, रात्रि असुरों के लिए, सन्ध्या पितरों के लिए तथा ज्योत्स्ना मनु के लिए सुखदायक हुई अर्थात् इन कालों में इनकी बलवत्ता देखी जा सकती है। यहाँ इनके विषय में यह भी कथित है कि देव, असुर, पितर और मनु के साथ—साथ दिन, रात्रि, सन्ध्या और ज्योत्स्ना का प्रादुर्भाव भूत, भविष्य के सभी मन्वन्तरों में इसी प्रकार होता है।

इसके अनन्तर प्रजापति ब्रह्मा ने रजस्तमः प्रधान दूसरे शरीर का आश्रयण ग्रहण कर यक्ष, शिशाच, नर, किन्नर, अप्सरा, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी, पशु, मृग, उरग, अव्यय, व्यय, स्थावर, जंगम आदि समस्त पदार्थों को बनाया। इन जीवों का यह वैशिष्ट्य है कि प्राक्कल्प में उनका जैसा स्वभाव था, जैसी प्रवृत्ति थी, इस सृष्टि में भी हिंसा—अहिंसा, मृदुता—कठोरता, धर्म—अधर्म, सत्य—अनृत—ये सब अपनी पूर्व भावना के अनुसार ही उन्हें प्राप्त होते हैं तथा उन जीवों को वे अच्छे लगने भी लगते हैं।<sup>१</sup>

कर्मानुसार इनकी सृष्टि मानते हुए कहा गया है कि प्राणियों को कर्मफल के अवशेष होने पर ही देव, पितर, असुर, पशु, पक्षी, सरीसृप, वृक्ष, नारकीय कीट आदि रूपों में जन्म

<sup>१</sup> तायु० १/५७-५८, विष्णु० १/५/६०-६१, मनुस्मृति १/२९; द्रष्टव्य, पुराण—विमर्श, पृ० २८१

ग्रहण करना पड़ता है।<sup>१</sup> पुराण का यह तथ्य—कथन भारतीय दर्शन की सुचिन्तित परम्परा में अन्तर्भुक्त है जिसे नकारा नहीं जा सकता ।

### रुद्र—सृष्टि :

वायुपुराण के अध्याय २७ में ब्रह्मा से अष्ट रुद्रों की उत्पत्ति कही गयी है। इस विषय में उल्लिखित है कि कल्प के आदि में प्रभु ब्रह्मा ने आत्मतुल्य पुत्र का ध्यान करते समय उनकी गोद में नीललोहित कुमार प्रकट हुआ और रोने लगा तो उन्होंने उससे उसके रोने का कारण पूछा । इस पर उस कुमार ने कहा कि मेश नामकरण करिए। पितामह ने उसका 'रुद्र' नामकरण किया। इसके बाद वह पुनः पुनः सात बार और रोया और ब्रह्मा ने उनके क्रमशः ये सात और नाम रखे—भव, शिव, पशुपति, ईश, भीम, उग्र, महादेव। ब्रह्मा ने इनके रहने के लिए आठ स्थान या शरीर नियत किये—सूर्य, मही, जल, वह्नि, वायु, आकाश, दीक्षित ब्राह्मण (होता) और सोम । यहाँ इनकी आठ पत्नियों और उनसे उत्पन्न आठ पुत्रों का भी निर्देश हुआ है। उनकी आठ पत्नियाँ थीं— सुवर्चला, उषा, विकेशी, शिवा, स्वाहा, दिशाएँ, दीक्षा, रोहिणी। इनसे क्रमशः आठ पुत्र उत्पन्न हुये— शनैश्चर, उशना, अंगारक, मनोजव, स्कन्द, स्वर्ग, सन्तान, बुध।

पुराणों में ब्राह्मी, मानसी और रौद्री सृष्टि का स्पष्ट उल्लेख सृष्टि उत्पादन में त्रिदेवों के अपूर्व सहयोग का परिचायक है। वास्तव में सृष्टिकार्य ब्रह्मा का मुख्य कार्य है। किन्तु वह यह कार्य शिव ( वैष्णवपुराणों के अनुसार विष्णु) से प्रेरित होने पर करते हैं। पुराण के सृष्टि वर्णन में स्वाभाविकता का गुण विद्यमान है। यहाँ सूर्य, ग्रह, पर्वत, नदी आदि की उत्पत्ति का वर्णन प्राणि—रूप में किया गया है। कश्यपवंश वर्णन के अन्तर्गत कश्यप और उनकी

---

<sup>१</sup> वायु ०८/२०८—२०९



पत्नियाँ आदि मानव या अन्य जीवधारी न होकर प्रगति की विभिन्न अवस्थाएँ हैं, जिनसे क्रमशः पञ्चभौतिक जगत् तथा वनस्पति और प्राणियों का उद्भव होता है।

यहाँ वर्णित सृष्टि—प्रक्रिया पर किञ्चित् भिन्नता के साथ सांख्यदर्शन का विपुल प्रभाव देखा जा सकता है। जहाँ सांख्य प्रकृति पुरुष को मूलतत्त्व मानता है वहीं पुराणों में इन्हें परमतत्त्व से उद्भूत और प्रलयकाल में उसी में लीन कहा गया है।

पुराणों में सृष्टि प्रक्रिया को रूपकों और दृष्टान्तों द्वारा अल्प मेधावियों के लिये सरलतम बनाने का प्रयास किया गया है ताकि वे सृष्टि—विज्ञान के जटिल—से—जटिल तथ्यों को सरलता से हृदयंगम कर सकें। यहाँ वर्णित सृष्टि तत्त्व में सांख्य के द्वैतभाव तथा वेदान्त के अद्वैतभाव—दोनों का सम्मिश्रण है।

संक्षेप में, पुराणों में एक निराकार ब्रह्म से ब्रह्मा, विष्णु, महेश की तीन सृजन, पालन तथा संहार करने वाली शक्तियों का उद्भव बतलाकर देव, ऋषि, पितर एवं भूतगणों के वंशों की उत्पत्ति का वर्णन है। पौराणिक सृष्टि—प्रक्रिया सांख्य के सृष्टिवाद से बहुत अधिक प्रभावित होने के बाद भी अपनी मौलिकता से मण्डित है।

### वंश—वर्णन एवं वंशानुचरित

अतिप्राचीनकाल से वंशों एवं वंशानुचरितों का संकलन और संग्रह होता रहा है। श्रुत, श्रुति, स्मृति, अनुश्रुत, इति नः श्रुतम्, इति श्रुतम्, इति श्रुतिः इत्यादि शब्दों से इसकी अभिव्यक्ति की गयी है। प्राचीन आचार्यों ने वंश—विद्या के महत्त्व को ध्यान में रखकर ही इतिहास के साथ—साथ पुराण और वंशशास्त्रों को लिखना आरम्भ कर दिया था। वायुपुराण में इस विद्या के विशारदों का उल्लेख मिलता है।<sup>१</sup> श्रुत—परम्परा का विषय होने के

<sup>१</sup> (क) तस्माद् भागीरथी गंगा कथ्यते वंशवित्तमैः । वायु० ८८/१६९

(ख) एवं वंशपुराणज्ञाः गायन्तीति पश्चिन्तम्॥ तत्रैव, ८८/१७९

कारण समय—समय पर इन वंशशास्त्रों में परिवर्तन एवं परिवर्धन होता रहा है।

‘वंश’ पुराण—पञ्चलक्षणों में परिगणित है और इससे तात्पर्य राजवंश से माना जाता है किन्तु चूंकि सम्पूर्ण जगत् का प्रादुर्भाव ब्रह्मा से हुआ है, अतः ब्रह्मा के कुल—क्रम को वंश कहा जाता है। पुराणोक्त कथन के आधार पर ब्रह्मा द्वारा जितने भी राजाओं की सृष्टि हुई उनकी भूत, भविष्य और वर्तमानकालीन कुल—परम्परा या सन्तान—परम्परा को वंश कहा जाता है—

‘राज्ञां ब्रह्मप्रसूतानां वंशस्त्रैकालिकोऽन्वयः’

भागवत के अनुसार इसमें केवल प्राचीन राजाओं की विस्तृत वंशावलियों को ग्रहण किया गया है किन्तु वायुपुराण में राजवंशों के साथ—साथ देवताओं और ऋषियों के वंशों को भी समाहित किया गया है। इनके संरक्षण और संकलन का दायित्व सूतों का था।<sup>१</sup> ‘सूत’ देश के बहुसंख्यक राजवंशों, देवताओं, ऋषियों तथा महात्माओं के इतिवृत्तों का संग्रह और संरक्षण करते थे और पुराणकर्ता, सूतों द्वारा एकत्रित सामग्री का पुनः संकलन और संपादन कर वंशावलियों और वंशानुचरितों को पुराणरूप में प्रस्तुत किया करते थे। वायुपुराण में इन पुराणकर्ताओं की वंशावली मिलती है।<sup>२</sup> प्रत्येक द्वापर में हुए अट्ठाईस कृष्णद्वैपायनों की एक सूची भी यहाँ उपलब्ध है।<sup>३</sup>

<sup>१</sup> भागवत १२/७/१६

<sup>२</sup> स्वर्णम एष सूतस्य सद्भिर्दृष्टः पुरातनैः ।  
देवतानामृषीणां च राज्ञां चामिततेजसाम् ॥  
वंशाणां धारणं कार्यं श्रुतानां च महात्मनाम् ।  
इतिहासपुराणेषु दिष्टा ये ब्रह्मवादिभिः ।

न हि वेदेष्वधीकारः कश्चित् सूतस्य दृश्यते ॥ वायु १/३१-३२

<sup>३</sup> ब्रह्मा > मातरिश्वा > उशना > बृहस्पति > सविता > मृत्यु > इन्द्र > वसिष्ठ > सारस्वत > शरद्वत > त्रिधामा > त्रिविष्ट > अन्तरिक्ष > त्रय्यारुण > धनञ्जय > कृतञ्जय > तृणञ्जय > भरद्वाज > गौतम > निर्यन्तर > वाजश्रव > सोमशुष्मा > तृणविन्दु > दक्ष > शक्ति > पराशर > जातुकर्ण > द्वैपायन > रोमहर्षण > रोमहर्षणपुत्र । तत्रैव, १०३/५८-६६

<sup>४</sup> तत्रैव, २३/११५-२१८

यदि रामायण, महाभारत, पुराणों, रघुवंश आदि का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो इन वंशावलियों में द्वावा—पृथिवी का— सा अन्तर देखने को मिलता है जो अनेक प्रकार की आशंका और अविश्वास पैदा कर देता है। वास्तव में ये वंशानुक्रम न होकर तत्तत् वंश के प्रसिद्ध राजाओं की नामावली मात्र हैं और इन्हें वंशावली की संज्ञा देकर सूतों ने एक गम्भीर समस्या खड़ी कर दी है। पुराणोक्त वंशावलियों में अत्यल्प नाम, नामों की पुनरावृत्ति, लिंग—भेद, 'सहस्र' पद ऋषियों के अस्तित्व आदि विषय विशेष संशयात्मक हैं जिनके कारण इन्हें प्रामाणिक मानने में कठिनाई उपस्थित होती है। कतिपय समालोचकों ने अपने ग्रन्थों में इस समस्या का समाधान सरलतम रीति से करने का प्रयास किया है।<sup>१</sup>

किसी वंशावली में उपलब्ध छोटी—सी नामावली के विषय में वायुपुराण का निम्नलिखित श्लोक सिद्धान्त—निर्दर्शन समझना चाहिए—

एते इक्ष्वाकुदायादा राजानः प्रायशः स्मृताः ।

वंशे प्रधाना ये तेऽस्मिन् प्राधान्येन प्रकीर्तिताः ॥<sup>२</sup>

वस्तुतः वंशावली को ज्यों का त्यों उद्धृत करना असम्भव होने के कारण कहीं पीढ़ी—दर—पीढ़ी और कहीं अकिञ्चित्कर व्यक्तियों के नामों का उल्लेख अनावश्यक समझकर उन्हें छोड़कर तत्तद्वंशज प्रधान—प्रधान पुरुषों के नामों को लिपिबद्ध किया गया । इस प्रकार जिस वंश में प्रतापी राजा अधिक हुए उस वंश में अधिक नाम और जिसमें कम प्रतापी राजा हुए उसमें यह संख्या न्यून रही है।

पौराणिक अनुश्रुति में यत्र—तत्र ऐतिहासिक इतिवृत्तों, घटनाओं आदि में भी किञ्चित् अन्तर दिखाई देता है किन्तु राजवंशावलियों को सूतों ने बड़ी सावधानी से सुरक्षित रखने का

<sup>१</sup> द्रष्टव्य : पुराण—परिशीलन (गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ० २१८—२२१ ; पुराणतत्त्वमीमांसा (श्रीकृष्ण मणि त्रिपाठी), पृ० २९५—२९६; पुराण—दिग्दर्शन (माधवाचार्य), पृ० ३३७—३३९; पुराण—विमर्श (बलदेव उपाध्याय), पृ० ३५१—३५३

<sup>२</sup> वायु० ८८/२१३

प्रयास किया है। वंशावलियों में आगत एक ही नाम के अनेक राजाओं के नामों की अशुद्धि की सम्भवना को दूर करने के लिए उन्होंने यथासम्भव स्पष्ट संकेत किए हैं; जैसे—‘नल’ के विषय में वायुपुराण स्पष्ट कहता है कि—‘नल’ नामक दो राजा हुए, एक नैषध देश के राजा वीरसेन के पुत्र तथा दूसरे इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न—

नलौ द्वाविति विख्यातौ पुराणेषु दृढव्रतौ ।

वीरसेनात्मजश्चैव यश्चेक्ष्वाकुकुलोद्भवः ॥<sup>1</sup>

इसी प्रकार ‘मरुत’ के विषय में भी इसी पुराण में उल्लेख है—

करन्धमस्रिसानोस्तु मरुत्तस्य तु चाऽऽत्मजः ।

अन्यस्त्वाविक्षितो राजा मरुतः कपितः पुरा ॥<sup>2</sup>

अर्थात् ‘मरुत’ नामक दो राजा हुए प्रथम करन्धम के पुत्र तथा द्वितीय अविक्षित के पुत्र, इसकी गणना प्राचीन कालीन महान् नरेशों में होती थी और जिनके महाभिषेक का वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण की अष्टक पञ्चिका में किया गया है।

उपर्युक्त दोनों उद्धरण वायुपुराणकार के ऐतिहासिक ज्ञान के परिचायक हैं।

वंशक्रम को सुरक्षित रखने वाले ग्रन्थों में पुराणों का और पुराणों में भी वायुपुराण का अपना अद्वितीय स्थान है। श्री पार्जितर ने वायु एवं ब्राह्मण्ड पुराणों को वंशावलियों का प्रामाणिकतम स्रोत माना है।<sup>3</sup> एक स्थल पर वायुपुराण की यह घोषणा की कि उसमें भविष्यपुराण में वर्णित राजवंशावली ज्यों की त्यों उद्धृत की गयी है, बहुत कुछ सीमा तक सच जान पड़ता है...

<sup>1</sup> वायु० ८८/१७४-१७५

<sup>2</sup> तत्रैव, ९९/२

<sup>3</sup> *This account of the origin of the Purāṇas is supported by copious direct allusions to ancient tradition in the Purāṇas. These might be cited from many Purāṇas, but will be taken here chiefly from the Vāyu & Brahmāṇḍa, which have the oldest version in such traditional matters : Pargiter, Ancient Indian Historical Traditions, p. 24.*

“ तान् सर्वान् कीर्तयिष्यामि भविष्ये पठितान् नृपान् ।”<sup>१</sup>

वंशानुचरितों के अन्तर्गत वंश—वर्णन—प्रसंग में कभी—कभी किन्हीं महान् राजाओं के चरित्रों का गान संक्षेप में गाथाओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ये गाथाएँ राजा के व्यक्तित्व और चरित्र की सूक्ष्म परिचायक हैं साथ ही इनके माध्यम से हमें विभिन्न आदर्शों की शिक्षा मिलती है। अध्येय पुराण में मुख्य रूप से जिन वंशों का उल्लेख हुआ है, उनमें से कुछ का संकेतात्मक वर्णन इस प्रकार है<sup>२</sup>—

पुराणों में वंश का आरम्भ ‘मनु’ से हुआ है और ये मनु संख्या में चौदह हैं : स्वायंभुव, स्वरोचिष, औत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णिक, दक्षसावर्णि, धीमान्, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, रौच्य और भौत्य । वर्तमान में वैवस्वत मनु का काल प्रचलित है।

### स्वायंभुवमनुवंश

शतरूपा की उत्पत्ति एवं सन्तति (वायु० १०/७—२३) :

शतरूपा की उत्पत्ति के विषय में उल्लिखित है कि जब ब्रह्मा ने अपनी देह को दो भागों में विभक्त किया तो एक भाग पुरुष और दूसरा भाग स्त्री हो गया और वही स्त्री ‘शतरूपा’ नाम से विख्यात हुई । घोर तप के बाद इसने स्वायंभुव मनु को पतिरूप में वरण किया । ब्रह्मा ने विराट् का सृजन किया और विराट् से वैराज मनु की उत्पत्ति हुई। वैराज मनु से शतरूपा के ‘प्रियव्रत’ और ‘उत्तानपाद’ दो पुत्र तथा आकूति और प्रसूति नाम्नी दो कन्याएँ

<sup>१</sup> वायु० ९९/२६७

<sup>२</sup> यहाँ केवल वायुपुराण के आधार पर वंशावलियों को उद्धृत किया गया है जो अन्य पुराणों में दी गई वंशावलियों से किञ्चित् भिन्नता रखती है। परस्पर तुलनात्मक एवं विस्तृत अध्ययन के लिये अधोलिखित ग्रन्थ अवलोकनीय है—  
उपाध्याय, बल्देव : पुराण—विमर्श, पृ० ३५१—३९७; पाण्डे, वीणापाणि : हरिवंश पुराण का सांस्कृतिक विवेचन, पृ० १९२—२४५; पाण्डेय, राजबली : पुराण — विषयानुक्रमणी, प्रथम भाग (राजनीतिक); टण्डन, यशपाल : पुराण—विषय—समनुक्रमणिका, पृ० ८—२८; अवस्थी (डॉ०) अवधबिहारी लाल : गरुडपुराण (एक अध्ययन), पृ० ५१—७५.

उत्पन्न हुई । रुचि प्रजापति की आकृति से 'यज्ञ' और 'दक्षिणा' नामक मिथुन सन्तान की उत्पत्ति हुई। दक्षिणा के यज्ञ से बारह पुत्र ('याम' नाम से विख्यात) हुए। दक्ष से प्रसूति में चौबीस कन्याओं का जन्म हुआ।

#### उत्तानपाद—वंश ( ६२/७२—९५) :

उत्तानपाद> ध्रुव, कीर्तिमान्, अयस्मान्, वसु (पुत्र) तथा 'मनस्विनी' और 'स्वरा' नाम्नी (कन्याएँ) । ध्रुव > पुष्टि और भव्य (पुत्र) । पुष्टि>प्राचीनगर्भ, वृषक, वृक, वृकल, धृति । प्राचीनगर्भ>उदारधी>दिवज्जय >रिपु> चाक्षुष>मनु>दस पुत्रः उरु, पुरु, शतद्युम्न, तपस्वी, सत्यवाक्, कवि, अग्निष्टुत, अतिरात्र, सुद्युम्न, अभिमन्यु । उरु> अंग, सुमनस्, स्वाति, क्रतु, अंगिरस, शिव । अंग>वेन>पृथु ।

#### प्रियव्रत—वंश (३३/७—६०) :

प्रियव्रत के तीन कन्याएँ और कुक्षि आदि सौ पुत्र हुए। दस उनमें से कदाचित् ही शूरवीर थे : अग्नीध्र, वपुष्मान्, मेधा, मेधातिथि, विभु, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, हव्य, सवन और सर्व (सव्य) । अग्नीध्र> नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्य, हरिणमान्, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल। वपुष्मान्> श्वेत, हरित, जीमूत, रोहित, वैद्युत, मानस, सुप्रभ। मेधातिथि> शान्तमय, शिशिर, सुखोदय, आनन्द, ध्रुव, क्षेमक और शिव । ज्योतिष्मान्> उद्भिद्, वेणुमान्, स्वैरथ, लवण, धृति, प्रभाकर, कपिल । द्युतिमान्> कुशल, मनुग, उष्ण, पीवर, अन्धकारक, मुनि, दुन्दुभि। हव्य > जलद, कुमार, सुकुमार, मणीचक, वसुमोद, सुमोदक, महाद्रुम सवन—महावीर और धातकि । इस प्रकार यहाँ दस में से केवल छः के वंशों का उल्लेख प्राप्त होता है। नाभि > ऋषभ>भरत>सुमति>तैजस>इन्द्रद्युम्न (इनकी मृत्यु के बाद स्वयं परमात्मा उनके वंश

में 'प्रतिहार' नाम से उत्पन्न हुए) प्रतिहार>प्रतिहर्ता > उन्नेता> भुव> उद्गीथ > प्रतावि >विभु> पृथु> नक्त> गय > नर > विराट> महावीर्य>धीमान्> महान्> भौवन्> त्वष्टा> अरिज> रजस्> शतजित्> सौ पुत्र ।

### स्वांभुवमनुवंशीय राजाओं का चरित :

पूर्वोक्त स्वायंभुवमनुवंशीय राजाओं में से दक्षप्राचेतस् (६३/४६-५६), ध्रुव (६२/७५-८२), पुष्टि (६२/४६-५६), पृथु (६२/९५-१०८, १२७, १७८, ६३/१११), प्रचेतस् (६३/२६-३८) तथा वेन (६२/९४, १०९-१२१) आदि के चरितों का विशिष्ट संदर्भों के साथ उल्लेख हुआ है।

### वैवस्वतमनुपुत्रवंश (सूर्यवंश) (अ० ८५-८८)

वैवस्वतमनु> इक्ष्वाकु, नहुष, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, प्रांशु (नाभाग अरिष्ट), करुष, पृषध, नव । करुष> कारुष । नाभाग > अरिष्ट > भलन्दन > प्रांशु > प्रजानि> खनित्र> क्षुप > विंश > विविंश> खनिनेत्र > करन्धम > अविक्षित > मनुत्त । नरिष्यन्त> दम> राष्ट्रवर्धन > सुधृती > नर > केवल > बन्धुमान > वेगवान > बुध > तृणविन्दु > 'द्रविणा' (पुत्री)> विश्रवा > विशाल > हेमचन्द्र > सुचन्द्र > धूमाश्व> सृज्जय > सहदेव > कृशाश्व > सोमदत्त > जनमेजय > प्रमति । शर्याति> आनर्त> रेव> रैवत ( अपरनाम 'ककुची') इसके अतिरिक्त इनके सौ और भाई थे । धृष्ट> घर्ष्टक, क्षत्र, रणुधृष्ट । नभग> नाभाग> अम्बरीष> विरूप > पृषदश्व > रथीतर ।

### इक्ष्वाकु-वंश : (८८/८-२१२) :

इक्ष्वाकु > विकुक्षि, नेमि, दण्ड । विकुक्षि>ककुत्स्थ (विकुक्षि के शकुनि प्रभृति पाँच

सौ पुत्र हुए) > अनेना> पृथु> आन्ध्र> यवनाश्व> श्रावस्त> बृहदश्व> कुवलाश्व (धुन्धुमार)>  
 दृढाश्व, भद्राश्व, कपिलाश्व (कुवलाश्व के इक्कीस सहस्रपुत्रों में से यही तीन बचे थे) ।  
 दृढाश्व > हर्यश्व > निकुम्भ > संहताश्व > कृशाश्व > अक्षयाश्व । संहताश्व> प्रसेनजित्>  
 युवनाश्व> गैरिक । युवनाश्व> मान्धाता> पुरुकुत्स, अम्बरीष, मुचुकुन्द। अम्बरीष  
 > युवनाश्व > हरित > शूरि । पुरुकुत्स > त्रसदस्यु > संभूत > अनरण्य > त्रसदधु > हर्षश्व  
 > वसुमत > त्रिधन्वा > त्रय्यारुण > सत्यव्रत (त्रिशंकु) > हरिश्चन्द्र > रोहित > हरित > चञ्चु  
 > विजय, सुदेव । विजय > रुरुक > हतक > बाहु > सगर (ज्येष्ठ रानी केशिनी से)>  
 असमञ्ज और (सुमति के साथ सहस्र पुत्रों में से कपिल मुनि के शाप से भस्म पुत्रों में से चार  
 बचे) बर्हिंकेतु, सुकेतु, धर्मरत और पञ्चवन । असमञ्ज (काकुत्स्थ) > अंशुमान् > दिलीप>  
 भगीरथ > श्रुत > नाभाग > अम्बरीष> सिन्धुद्वीप> आयुतायु > ऋतुपर्ण> सर्वकाम > सुदास  
 (हंसमुख)> सौदस ( अपरनाम 'कल्माषपाद', 'मित्रसह') > अश्मक > उरकाम > मूलक  
 > शतरथ > चैडिविड > कृतशर्मा > विश्वमहत् > दिलीप > (अपरनाम 'खट्वाङ्गद')  
 > दीर्घबाहु > रघु> अज > दशरथ > राम, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न । भरत> तक्ष, पुष्कर ।  
 लक्ष्मण> अंगद, चन्द्रकेतु> दो पुत्र। शत्रुघ्न> सबाहु, शूरसेन। राम> लव, कुश> अतिथि  
 > निषध> नल> नभ> पुण्डरीक > क्षेमधन्वा > देवानीक > अहीनगु > पारिपात्र > दल >  
 बल> औङ्क> वज्रनाभ > शङ्खन > ध्युषिताश्व > विश्वसह > हिरण्यनाभ (कौशल्य)  
 > वशिष्ठ > पुष्य > ध्रुवसन्धि > सुदर्शन > अग्निवर्ण> शीघ्र> मनु > प्रसुश्रुत > सुसन्धि > मर्ष  
 (सहस्वान) > विश्रुतवान् > बृहद्वल ।



यहाँ यह भी स्मरणीय है कि वायुपुराण में इक्ष्वाकुवंश के अन्तर्गत राम, कुश, बृहद्रथ आदि के स्वतंत्र वंशों का तथा इक्ष्वाकु—पुत्र—वंश के अन्तर्गत कुशध्वज, दण्ड, नेमि, विकुक्षि के स्वतंत्र वंशों का संकेत है।

**नेमिवंश — मैथिलवंश (८९/४—२३) :**

इक्ष्वाकु के पुत्र विकुक्षि के अनुज नेमि के पुत्र मिथि हुए। इनका वंशक्रम इस प्रकार है—मिथि (जनक) > उदावसु > नन्दिवर्धन > सुकेतु > देवरात > बृहदुत्थ > महावीर्य > धृतिमान > सुधृति > धृष्टकेतु > हर्यश्व > मरु > प्रतित्वक > कीर्तिरथ > देवमीढ > विबुध > धृति > कीर्तिराज > महारोमा > स्वर्णरोमा > ह्रस्वरोमा > सीरध्वज > (इन्हीं के द्वारा पृथ्वी जोतते समय सीता का प्रादुर्भाव हुआ) > भानुमान् (मैथिल), कुशध्वज (काशी—नरेश)। भानुमान् > प्रद्युम्न > मुनि > ऊर्जवह > सुतद्वाज > शकुनि > स्वागत > सुवर्चा > श्रुत > सुश्रुत > जय > विजय > ऋत > सुनय > वीतहव्य > धृति > बहुलाश्व > कृति ।

**सोमवंश (चन्द्रवंश) (९०/१—१९, ९१/१—१०३)**

चन्द्रवंश का प्रादुर्भाव सूर्यवंश से ही हुआ। इस विषय में यहाँ उल्लेख मिलता है कि पुत्र की कामना से प्रजापति मनु ने पुत्रेष्टि यज्ञ किया। उस यज्ञभूमि में 'इला' (सुद्युम्न) की उत्पत्ति हुई। इस का विवाह चन्द्रपुत्र बुध से हुआ। इसीलिए यह वंश चन्द्रवंश के नाम से विख्यात हुआ। इस वंश का संस्थापक पुरुरवा था।<sup>१</sup>

सोमवंश के अन्तर्गत अंग, अनु, अनेनसु, अमावसु, क्षत्रवृद्ध, तुर्वसु, दुह्यु, नहुष, यदु (ककुर (अन्धक—वंश), क्रथ, क्रोष्टु, देवावृध, निघ्न, भजमान, महाभोज, वृष्णि (पृश्नि) शिनि, हैहय) इत्यादि वंशों का स्वतंत्र उल्लेख हुआ है।

<sup>१</sup> वायु० ८५/५—२८

अत्रि > चन्द्रमा > बुध > पुरुरवा (ऐल) > आयु, श्रीमान्, अमावसु, शतायु, गतायु ।  
 अमावसु > भीम > काञ्चनप्रभ > सुहोत्र > जहनु, सुहोत्र > अजक > बलाकाश्व > गय,  
 शील, कुश। कुश > कुशाश्व, कुशनाभ, अमूर्तरियश्, वसु । कुशस्तम्ब > गाधि ( अपरनाम  
 'कौशिक') > सत्यवती (कन्या, अपरनाम 'णिधृति', 'कौशिकी') > जमदग्नि > परशुराम,  
 शुनःशेष, शुनः पुच्छ । गाधि > विश्वामित्र ( अपरनाम 'विश्वरथ') > शुनःशेष मुनि (देवरात),  
 मधुच्छन्द, नय, कृत, देव, ध्रुव, अष्टक, (इनके जहनुगण) कच्छप और पूरण ।

### आयुवंश (९२/१—७३) :

आयु > नहुष, पुत्रधर्मा, धर्मवृद्ध, प्रभृति । धर्मवृद्ध > सुतहोत्र > काश > शल > एवं  
 गृत्समद । गृत्समद > शुनक > शौनक । शल > आर्षिषेण > चरन्त । काश > काशय, राष्ट्र,  
 दीर्घतपा । दीर्घतपा > धर्म > धन्वन्तरि > केतुमान् > भीमरथ (राजा दिवोदास) > प्रतर्दन > वत्स  
 और गर्ग । वत्स > अलर्क > सन्नति > सुनीथ > सुकेतु > धर्मकेतु > सत्यकेतु > विभ्रु  
 > सुविभ्रु > सुकुमार > धृष्टकेतु > वेणुहोत्र > गार्ग्य > गर्भभूमि। वत्स के वंशज 'वात्स्य'  
 कहलाए।

### नहुष—वंश (९३/११—१६) :

नहुष > यति, ययाति, संयाति, आयति, पञ्च (?) द्वय (?)। ययाति > यदु और तुर्वसु  
 (पत्नी देवयानी से) तथा द्रह्यु, अनु और पुरु (शर्मिष्ठा से) ।

### यदु—वंश (९४/१—५३) :

यदु > सहस्रजित्, क्रोष्टु, नील, जित, लघु । सहस्रजित् > शतजित् > हैहय, हय,  
 वेणुहय । हैहय > धर्मतन्त्र > कीर्ति > संज्ञेय > महिष्मान् > भद्रश्रेण्य (जो वास्तव में वाराणसी

का अधिपति था) > दुर्दम > कनक > कृतवीर्य, कार्तवीर्य, कृतवर्मा, कृत । कृतवीर्य अर्जुन (कार्तवीर्यार्जुन) > इनके सौ पुत्रों में पाँच महारथी थे : शूर, शूरसेन, वृष्ट्याद्य, वृष और जयध्वज । जयध्वज > तालजंघ > इनके सौ पुत्र हुए जो तालजंघगण के नाम से विख्यात हुए। हैहयवंश में पाँचगण विख्यात हुए— वीरहोत्रगण, भोजगण, आवर्तिगण, तुण्डिकेरगण, तालजंघ। वीरहोत्र > अनन्त > दुर्जय > अमित्रदर्शन ।

क्रोष्टु—वंश ( ९५/१४—४७, ९६/१—१९० ) :

यदु पुत्र— क्रोष्टु का वंश—वर्णन इस प्रकार है— क्रोष्टु > वृजिनीवान् > स्वाहि > रशादु > प्रसूत > चित्ररथ > शशविन्दु > छः पुत्र; पृथुश्रवा, पृथुयशा, पृथुधर्मा, पृथुञ्जय, पृथुकीर्ति और पृथुदाता । पृथुश्रवा > अन्तर (प्राचीन काल में यही यज्ञ के पुत्र थे तथा उशना नाम से इस पृथ्वी को प्राप्त किया) मरुत > वीरकम्बलवर्हि > रुक्मकवच > पाँच पुत्र; रुक्मेषु, पृथुरूक्म, ज्यामघ, परिधि और हरि। ज्यामघ > विदर्भ > क्रथ, कौशिक, लोमपाद । लोमपाद > वस्तु > आहति । कौशिक > चिदि (इनसे उत्पन्न राजा चैद्य कहलाये)। क्रथ > कुन्ति > धृष्टसुत > निर्वृति > दशार्ह > व्योमा > जीमूत > विकृति > भीमरथ > रथवर > नवरथ > दशरथ > एकादशरथ > शकुनि > करम्भ > देवरात > देवक्षत्र > देवन > मधु > मेधार्थसम्भव, मनु, मनुवंश, नन्दन, महानपुरुवश । पुरुवशा > पुरुद्वान > पुरुद्वह > सत्त्व, सात्त्वत > भजिन, भजमान्, राजा देवावृध, अन्धक, महाभोज, यदुनन्दु वृष्णि प्रभृति पुत्र हुए। भजमान् > वाह्य, उपरिवाह्य । वाह्यक > निमि, पणव; वृष्णि ( यह तीनों वाह्यक ने ज्येष्ठ रानी में उत्पन्न किये) तथा अयुतायुत > जित् > सहस्रजित् > शतजित् और वामक (कनिष्ठ रानी में उत्पन्न हुए)। राजा देवावृध > वभ्रु (सात्त्वत—वंश में एक मात्र महारथी ) । वृष्णि > सुमित्र मित्रनन्दन

(गान्धारी से), युधाजित, देवमीदुष, अनमित्र (माद्री से)। अनमित्र > निघ्न > प्रसेनजित्, शक्रजित् (इनके सूर्य प्राणवत् मित्र थे)। शक्रजित् (शत्रुजित्?) के सौ पुत्रों में से तीन विख्यात हुए ; भंगकार, व्रतपति, अपस्वान्त। भंगकार> बन्धुमान, शत्रुघ्न । अनमित्र> शिनि> सत्यक> सात्यकि (अपरनाम 'युयुधान') > भूति> युगन्धर । युधाजित् > पृथिन> स्वफल्क, चित्रक । स्वफल्क> अक्रूर, उपमंगु, मंगु, मृदुर, अरिमेजय, गिरिक्ष, यक्ष, शत्रुघ्न अथवा अरिमर्दन, धर्मभृत, शृष्टचय, वर्गमोच, आवाह तथा प्रतिवाह (पुत्र) और वसुदेवा, (कन्या) । अक्रूर > देव और अनुपदेव। चित्रक > पृथु, विपृथु, अश्वग्रीव, अश्वबाहु, सुपाशर्वक, गवेषण, अरिष्टनेमि, अश्व, सुवर्मा, चर्मभृत, वर्मभृत, अभूमि, बहुभूमि। श्रविष्ठा और श्रवणा नामक दो स्त्रियाँ। सत्यक> ककुद, भजमान, शमी, कम्बलवर्हिषौ। ककुद > वृष्टि > कपोतरोमा > रेवत > तुम्बुरुसखा (अपर नाम 'चन्दनोदक दुन्दुभि')> अभिजित> पुनर्वसु > आहुक तथा आहुकी (मिथुन संतानें थी)। आहुक > घृत । आहुकी (आहुकान्ध से) > देवक तथा उग्रसेन हुए। देवक > देवदेव, सुदेव और देवराजिता । उग्रसेन (कुक्कुरवंशीय) > कंस, न्यग्रोध, सुनामा, कद्वशंकु, भूमय, सुतनु, राष्ट्रपाल, युद्धानुष्ट, पुष्टिमान्। भजमान > विदूरथ > शूर, विदुर । शूर > वात, निवात, शोणित, श्वेतवाहन, शमी, गदवर्मा, निदात, शक्रजित्। शमी> प्रतिक्षिप्त> स्वयंभोज> हृदिक> कृतवर्मा, शतधन्वा, देवार्ह, वनार्ह, भिषक, द्वैतरथ, सुदान्त, धियान्त, नाकवान् और कनकोद्भव। देवार्ह > कम्बलर्हिष > असमौजा, सुसमौजा । इनमें असमौजा को कोई पुत्र नहीं था। कृष्ण ने उसे 'सुदेष्ट' और 'सुरूप' दो पुत्र दिये। शूर> देवमीदुष (अस्मकी पत्नी से), देवामाहुष (माषी? भाषी नाम्नी पत्नी से), वसुदेव (अपर नाम 'आनक दुन्दुभि'), वेदभाग, देवश्रवा, अनादृष्टि, कड, नन्दन, भृञ्जिन, श्याम, शमीक और

गण्डूष (पुत्र) तथा पृथा, श्रुतदेवा (श्रुतवेदा?), श्रुतकीर्ति, श्रुतश्रवा, राजाधिदेवी (पाँच कन्याएँ)। पृथा (कुन्ती से तीन संतानें उत्पन्न हुई) > धर्म के अंश से युधिष्ठिर, मारुत के अंश से वृकोदर (भीम) तथा इन्द्र के अंश से धनञ्जय (अर्जुन)। अश्विनीकुमारों के अंश से माद्रवती (माद्री) नकुल और सहदेव। श्रुतदेवा > दन्तवक्र (करुष देश के अधिपति) । श्रुतकीर्ति (केकय देश की राजमहिषी) > सन्तर्दन, चेकितान, बृहत्क्षत्र, विन्द और अनुविन्द (अवन्ति देश के अधिपति)। श्रुतश्रवा > शिशुपाल, (चेदिनरेश), पटुश्रवा (अनुज) और रुजकन्या (अनुजा) थीं। वसुदेव (रोहिणी से) > बलराम, सारण, निशव, दुर्दम, दमन, शुभ्र, पिण्डारक, कुशीतक (पुत्र) तथा चित्रा (कन्या)। बलराम > निशित, उत्सुक, पार्श्वी, पार्श्वनन्दी, शिशु, सत्यधृति, मन्दवाह्य, रामाण, गिरिक, गिर, शुल्कगुल्म, गुल्मदरिद्रान्तक । सारण (पाँच पुत्रियाँ) > अर्चिष्मती, सुनन्दा, सुरसा, सुवचा, शतबला। वसुदेव—पत्नी रोहिणी > भद्राश्व, भद्रगुप्ति, भद्रविद्य, भद्रबाहु, भद्ररथ, भद्रकल्प, सुपार्श्वक, कीर्तिमान्, रोहिताश्व, भद्रज, दुर्मद और अभिभूत । वसुदेव—पत्नी मदिरा > नन्द, उपनन्द, मित्र, कुक्षिमित्र, चल, पुष्टि, सुदेव (पुत्र) तथा चित्रा और उपचित्रा (कन्याएँ)। वसुदेव पत्नी भद्रा > उपबिम्ब, बिम्ब, सत्त्वदन्त, महौजा । वसुदेव—पत्नी वैशाखी > कौशिक । वसुदेव—पत्नी देवकी > सुषेण, कीर्तिमान्, तदय, भद्रसेन, यजुदाय, भद्रविद्, (इन्हें कंस ने मार डाला था), कृष्ण (भगवान् विष्णु) तथा सुभद्रा (अपर नाम 'कृष्णा') । सुभद्रा > अभिमन्यु । सहदेवा > मयासख । शाङ्गदेवा > तम्बु। शौरी > कुलोद्वाह। उपदेवा > उपसंग, वसु, देव, रक्षित, विजय, रोचन, वर्धमान (इन दसों को भी कंस ने मार डाला था)। वृकदेवी (अपर नाम आगाही, स्वसा, सुरूपा और शिशिरायणी) > स्वगाहवं। सैव्या > कौशिक । सुगन्धि और वनराजि > पुण्ड्र और कपिल । देवरात >

देवश्रवा। निवर्त> अनादृष्टि, श्राद्धदेव (निषधजाति के मूल पुरुष, निषादों द्वारा पोषित अतः अपर नाम एकलव्य), शक्रशत्रुघ्न । सन्तानहीन 'गण्डूष' को कृष्ण ने चारुदेष्ण और साम्ब पुत्र दिये । कनक—पुत्रों तन्तिज और तन्तिमाल को वसुदेव ने पुत्रहीन 'वास्तावलि' को समर्पित किया और सौति ने वीरपुत्र शौरि और कौशिक को उसे समर्पित किया। उसी वंश में तपा, क्रोधन, विरजा, श्याम (निःसंतान थे), सृज्जिम—ये चार पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके आगे के वंश का वर्णन वायु पुराण में नहीं मिलता ।

#### वासुदेव वंश (९६/२३६—२५८):

कृष्ण (रुक्मिणी से) > प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, सुदेष्ण, शरभ, चारु, चारुभद्र, भद्रचारु, चारुविन्ध्य (पुत्र) तथा चारुमही (कन्या) । सत्यभामा > सानु, भानु, अक्ष, रोहित, मन्त्रय, जरन्धक, ताम्रवक्षा, भौमरि, जरन्धम (पुत्र) तथा भानु, भौमरिका, ताम्रपर्णी और जरन्धमा (कन्याएँ)। जाम्बवती> भद्र, भद्रगुप्त, भद्रविन्दु, भद्रबाहु (पुत्र), भद्रावती (कन्या तथा अपर नाम 'सम्बोधनी')। सुदेवी > संग्रामजित्, शतजित्, सहस्रजित्। सत्या > वृक, वृकश्व, वृकजित्, वृजिनी, सुरांगना, मित्रबाहु और सुनीथ ।

इसी प्रकार वायुपुराणकार ने भगवान् वासुदेव (कृष्ण) के पुत्रों की संख्या सहस्रों अथवा लाखों होने का संकेत किया है।

शनिवंशीय राजा बृहदुक्थ—पुत्री बृहती > (अपर नाम 'नर्तकोन्नेयी') अंगद, कुमुद, श्वेत (पुत्र) तथा श्वेता (कन्या) । अवगाह, चित्र और शूर चित्रवर (वृष्णिवंशीय) । चित्रवर > चित्रसेन (पुत्र) चित्रवती (कन्या)। जनस्तम्ब > तुम्ब, तुम्बवान्, उपांग, वज्रार और क्षिप्र। गवेष > भूरीन्द्रसेन और भूरि। युधिष्ठिर—पुत्री—सुतनु > अश्वसुतवज्र > प्रतिबाहु > सुचारु । काश्मा > सुपाश्व । साम्बा > तरस्वी।

वायुपुराणकार के अनुसार यदुवंश (कृष्णवंश/वृष्णिवंश) विष्णुवंश में कुल तीन करोड़ सन्तानें उत्पन्न हुई तथा इनके ग्यारह कुल कहे गये। किन्तु जिस कुल में भगवान् विष्णु हुए उसी का अनुवर्तन शेष सभी वंशों वाले करते रहे। उन सभी वंशों में उत्पन्न होने वाले यदुवंशियों के एक मात्र प्रमाण स्वरूप एवं सर्वेसर्वा भगवान् विष्णु (कृष्ण) ही थे। संकर्षण, वासुदेव, प्रद्युम्न, साम्ब एवं अनिरुद्ध—ये पांच यदुवंश के प्रमुख वीर कहे गये हैं (९७/१-२)।

#### तुर्वसु—वंश (९९/१-६) :

ययाति—पुत्र 'तुर्वसु' > वह्निरु > गोभानु > त्रिसानु > करन्धम > मारुत > दुष्कृत  
( यह पुरुवंशीय था, ययाति के शापवश तुर्वसु का वंश नष्ट हो गया था और अन्त में पुरुवंश में मिल गया था) > शरूथ > जनापीड > पाण्ड्य, केरल, चोल और कुल्य ।

#### द्रुह्य — वंश (९९/७-११) :

ययाति—पुत्र 'द्रुह्य' > वभ्रु, सेतु । सेतु > अरुद्ध । बभ्रु > रिपु (इनकी मृत्यु युद्ध में यौवनाश्व द्वारा हुई थी)। अरुद्ध > गान्धार > धर्म > धृत > दुर्दम > प्रचेता > इसके सौ पुत्र हुए।

#### अनुवंश ( ९९/१२-२४) :

ययाति—पुत्र 'अनु' > सभानर, पक्ष और परपक्ष । सभानर > कालानल > सृञ्जय > पुरञ्जय > जनमेजय > महाशाल > महामना > उशीनर, तितिक्षु। उशीनर की पाँच पत्नियों मृगा, कृमी, नवा, दर्वा और दृष्टद्वती से क्रमशः मृग, कृमि, नव, सुव्रत और शिवि (औशीनर शिवि) पुत्र हुए। शिवि के वृषदर्भ, सुवीर, केकय और मद्रक चार पुत्र हुए ।

#### तितिक्षु—वंश ( ९९/२४-११८) :

तितिक्षु > उशद्रथ > हेम > बलि > अंग, बंग, सुह्य, पुण्ड्र, कलिंग (ये सब दीर्घतमा (गौतम)? या दीर्घतपस् ऋषि के संयोग से बलि की स्त्री सुदेष्णा में उत्पन्न हुए थे)। गौतम के पुत्र कक्षीवान् > सहस्रों पुत्र हुए जो गौतम गोत्रीय कहलाये । इस प्रकार बलि और दीर्घतमस् की संततियों का परस्पर समागम हुआ । अंगद > दधिवाहन (देवी सुदेष्णा के अपराध के कारण दीर्घतमा के शापानुसार उसे मलमार्ग नहीं था अतः अपर नाम 'अनपान' हुआ) > दिविरथ > धर्मरथ > चित्ररथ > दशरथ ( अपरनाम 'लोमपाद', जिनकी पुत्री 'शान्ता' थी, जिसे भ्रमवश भवभूति ने उत्तररामचरित में रामचन्द्रादि के पिता दशरथ की पुत्री कहा है) > चतुरंग > पृथुलाश्व > चम्प > हर्यग > भद्ररथ > बृहत्कर्मा > बृहद्रथ > बृहन्मना > जयद्रथ > दृढरथ > जनमेजय > कर्ण > सुरसेन > द्विज (ध्वज)। बृहद्भानु > बृहन्मना > जयद्रथ (यशोदेवी से) और विजय (सत्या से) > धृति > धृतवृत् > सत्यकर्मा > सूत 'अधिरथ' (इसी ने कर्ण का पालन—पोषण किया, जिसके कारण कर्ण को 'सूतपुत्र' माना गया)।

### पुरुवंश (९९/१—२५८)

पुरुवंश के अन्तर्गत अजमीढ (काण्वायना), गर्ग, द्विजमीढ (उग्रायुध), नर, नील, पुरु—जनमेजय, बृहत्क्षत्र, बृहदिषु (अजमीढ—संतति)—(नीप—वंश), महावीर्य, सुधनु, सुहोत्र — ये स्वतंत्र वंश चले, जिनका यहाँ स्पष्ट वर्णन है।

पुरु > जनमेजय > अविद्ध > प्रवीर > मनस्यु > जयद > धुन्धु > बहुगवी > सज्जाति > रौद्राश्व > ('घृताची' अप्सरा से) रजेयु, कृतेयु, कक्षेयु, स्थीडलेयु, धृतेयु, जलेयु, स्थलेयु, धर्मेयु, संनतेयु और वनेयु — ये दस पुत्र तथा दस कन्यायें थीं : रुद्रा, शूद्रा, मद्रा, शुभा, जामलजा, तला, खला, गोपजला, ताम्ररसा और रत्नकूटी (इनका स्वामी एकमात्र अत्रि वंशोत्पन्न 'प्रभाकर' था )। राजर्षि अनादृष्ट > रिवेयु > रन्ति > त्रसु, अप्रतिरथ और ध्रुव (पुत्र) तथा गौरी (कन्या)।



अप्रतिरथ> धुर्य > कण्ठ > मेधातिथि (जिससे 'काण्ठायन' द्विजातिवर्ग की उत्पत्ति हुई)। त्रसु  
 >मलिन > सुष्मन्त, दुष्यन्त, प्रवीर और अनघ। दुष्यन्त > भरत (इनके तीन पत्नियाँ थीं नव  
 पुत्र हुए किन्तु भरत द्वारा अपमानित होने पर इन्हें इनकी माताओं ने मार डाला। तदनन्तर मरुतों  
 ने बृहस्पतिपुत्र 'भरद्वाज' को भरत दे दिया और इस प्रकार मरुतों द्वारा भरद्वाज भरतवंश में  
 संक्रमित हुए)। भरद्वाज (अपर नाम वितथ, द्विमुख्यायन, द्विपितर) > भुवमन्यु> बृहत्क्षत्र,  
 महावीर्य, नर, गाग्र (गार्ग?) । नर > सांस्कृतिकगुरुवीर्य और त्रिदेव (सांस्कृत्य के नाम से विख्यात  
 हुए)। गार्ग के उत्तराधिकारी गाग्र्य कहे गये। महावीर्य > भीम> उपक्षय > विशाला (पुत्री) >  
 त्रय्यारुणि, पुष्करी, कपि । कपि के दामाद विशुद्ध क्षत्रिय तथा अन्ध दोनों तथा अन्य दोनों के  
 दामाद विशुद्ध महर्षि हुए। बृहत्क्षत्र > सुहोत्र> हस्ती (हस्तिनापुर निर्माणकर्ता) > अजमीढ,  
 द्विजामीढ और पुरुमीढ। अजमीढ > (पत्नी केशिनी से) कण्ठ > मेधातिथि (इनके वंशज  
 कांठायन द्विज कहलाये)। अजमीढ (पत्नी धूमिनी से) बृहद्वसु> बृहद्विष्णु > महाबल >  
 बृहत्कर्मा > बृहद्रथ > विश्वजित्> सेनजित् > रुचिराश्व, काव्य, दृढ़, धनुर्धारी  
 राम, वत्स (अवन्तिदेश अधिपति, इसी वत्स के नाम पर परिवत्सरो का प्रचलन हुआ)।  
 रुचिराश्व> पृथुषेण > पार > नीप > एक सौ पुत्र हुए और वे सब नीप—गण नाम से  
 विख्यात हुए।

इनके उद्धारक परम यशस्वी 'समर' नामक पुत्र था (जिसने काम्पिल्य से युद्ध में  
 विजय प्राप्त की) > पर, वार, सत्वदश्व। पार > वृषु > स्कृति >विभ्राज > अगुह (शुक का  
 जामाता एवं ऋची का पति) > ब्रह्मदत्त > योगसूनु > विश्वक्सेन > उदयक्सेन > भल्लाट >  
 जनमेजय (इसी के वैर के कारण उग्रायुध ने समस्त नीपवंशियों का विध्वंस कर डाला था)।

द्विमीढ (? द्विजामीढ) > यवीनर > धृतिमान् > सत्यधृति > दृढनेमि, > सुवर्मा > सार्वभौम > महत्पौरवनन्दन नामक राजा > रुक्मरथ > सुपार्श्व > सुमति > सन्नतिमान् > संनति > कृत > युग्रायुध > क्षेम > सुवीर > नृपञ्जय > वीररथ । इन सभी को पौरव कहा गया है। अजमीढ (पत्नी नीलिनी से) > नील > सुशान्ति > पुरुजानु > रिक्ष मुद्गल, श्रृञ्जय, बृहदिषु, यवीयान् और काम्पिल्य । इन पाँचों के जनपदों की कालान्तर में पञ्चाल नाम से ख्याति हुई। मुद्गल के वंशज क्षत्रियगुणधर्म से समन्वित द्विज हुए तथा वे सब कण्ठ और मुद्गल के वंशज आंगिरस गोत्र में सम्मिलित हुए। मुद्गल के ज्येष्ठ—पुत्र के संयोग से इन्द्रसेना ने 'वध्यश्व' को उत्पन्न किया तथा मेनका ने इसी से मिथुन संतानें (राजर्षि दिवोदास, अहल्या) उत्पन्न की । अहल्या (शारद्वात से) > शतानन्द > सत्यधृति > युगल सन्तानें (जिनका राजा शन्तनु द्वारा पालन—पोषण हुआ) कृपा—कृपी (अपर नाम 'गौतमी')। दिवोदास > मित्रयु > मैत्रेय (इस वंश में उत्पन्न सभी क्षत्रियगुणधर्म से समन्वित द्विजाति थे तथा इनका गोत्र 'भार्गव' कहलाया) > च्यवन > सुदासु > सहदेव > सोमक (वंश के विनाश समुपस्थित होने पर राजा अजमीढ ही सोमक के रूप में उत्पन्न हुये) > जन्तु (इनकी मृत्यु होने पर सोमकरूपधारी राजा अजमीढ के अन्य सौ पुत्र हुए, जिनमें सबसे छोटा पुत्र पृषत्) > पृषत् > द्रुपद > धृष्टद्युम्न > धृष्टकेतु । अजमीढ—पत्नी धूमिनी (कठोर तप के बाद ) > ऋक्ष, सित । ऋक्ष > सम्बरण > कुरु (इसने अपने चरणों से 'प्रयाग' को आक्रान्त कर नवीन तीर्थ 'कुरुक्षेत्र' का निर्माण किया) > सुधन्वा, जहनु, परीक्षित, पुत्रक और अरिमर्दन । सुधन्वा > सुहोत्र > च्यवन > कृत > विद्योपरिचर ('वसु' नाम से विख्यात) > सात पुत्र— बृहद्रथ, प्रत्याग्रह, कुश, मणिवाहन, प्रथैल्य, ललित्य

और मत्स्यकाल । बृहद्रथ> कुशाग्र> ऋषभ> पुष्पवान् > सत्यहित > सुधन्वा > ऊर्ज> नभस्  
> जरासंध> सहदेव> सोमाधि> श्रुतश्रवा।

परीक्षित > जनमेजय > सुरथ > भीमसेन । सुरथ > विदूरथ > सार्वभौम > जयत्सेन  
> आराधि > महासत्त्व > अयुतायु > अक्रोधन > देवातिथि > ऋक्ष > भीमसेन > राजा  
दिलीप> प्रतीप > देवापि, शन्तनु और वाहलीक > सप्तवाहलीश्व (यह सोमदत्त वाहलीक का  
पुत्र था) सोमदत्त भूरि, भूरिश्रवा, शल । देवापि > च्यवन, इष्टक । शन्तनु (अपरनाम  
'महाभिषक्')> देवव्रत (पत्नी 'जाह्नवी' से) यही भीष्म नाम से विख्यात हुए तथा समस्त  
पाण्डवों के पितामह हुए। शन्तनु (दूसरी पत्नी 'दासेयी' से)> विचित्रवीर्य (इनकी पत्नी से कृष्ण  
द्वैपायन ने) > धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र थे। पाण्डु (पृथा से) > युधिष्ठिर,  
वृकोदर (भीम), धनञ्जय (अर्जुन) तथा ('माद्री' पत्नी से) > नकुल और सहदेव । पाँच  
पाण्डवों के द्रौपदी से पाँच पुत्र थे जिनमें ज्येष्ठ थे 'प्रतिविन्ध्य' (अन्य पुत्रों के नाम  
उल्लिखित नहीं हैं) । भीमसेन ('हिडिम्बा' से) > घटोत्कच तथा ('कास्या' से) सर्ववृक ।  
सहदेव (मद्रदेश की राजकन्या 'विजया' से) > सुहोत्र । नकुल (चेदिनरेश की राजपुत्री  
'कर्मभारती' से) नरमित्र । पार्थ (सुभद्रा से) > अभिमन्यु > परीक्षित > जनमेजय > शतानीक  
> अश्वमेघदत्त > अधिसामकृष्ण (सम्प्रति राजा) ।

उपर्युक्त वंशावलियों के अतिरिक्त यहाँ देव-वंश (यक्ष-गन्धर्व-किन्नर-नाग-  
गुह्यक-असुर-रक्षस के वंश एवं देवयोनियों के उत्पत्ति-१,९ (१-३६); ३१; २, ५; ६; ८;

२४ (३३-५३), असुरराजवंश (दैत्य-दानव-राक्षस वंशों का -२,६-९; २२-७; ३५-७६) का स्वतंत्र एवं विस्तृत उल्लेख हुआ है।<sup>१</sup>

### कलियुगीय-राजवंश

महाभारतपूर्व वंशावली के साथ-साथ महाभारतोत्तर राजवंशों का प्रमाणिक आधार भी पुराण हैं। विद्वानों के अनुसार कलिजन्य अराजकता का वृत्तान्त हूणों द्वारा की गयी देश की तबाही का प्रतिबिम्ब है। पार्जितर ने कलिनृपों के वृत्तान्त का संकलन सर्वप्रथम भविष्यपुराण में तदनन्तर मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु, गरुड और भागवत में माना है। उनके मत में गरुड और भागवत में यह वर्णन मत्स्य, वायु और भविष्य पुराणों की अपेक्षा कुछ संक्षिप्त हैं।

प्रकृत पुराण में कलियुगीन निम्न भावी राजवंशों का, उनके शासनकाल-सीमा, गाथाओं, कृत्यकर्म आदि का विशिष्ट तथ्यों सहित वर्णन हुआ है :

#### पुरुवंशीय राजवंश (९९/२४९-२५९, २७०-२८०) :

वायुपुराण में अभिमन्यु से लेकर क्षेमक तक निम्नलिखित भविष्यकालीन पुरुवंशीय राजाओं का उल्लेख हुआ है— अधिसामकृष्ण > निर्वक्त्र > उष्ण > चित्ररथ > शुचिद्रथ > सुषेण > सुतीर्थ > रुच > त्रिचक्ष > सुखीबल > परिप्लुप > सुनय > मेधावी > दण्डपाणि > निरामित्र > क्षेमक । यहाँ कथित है कि “पञ्चविंशनृपा ह्येते भविष्याः पूर्ववंशजाः” अर्थात् ये पच्चीस नृपतिगण भविष्यत्काल में इस वंश में उत्पन्न होंगे किन्तु नाम-निर्देश इक्कीस का ही हुआ है, जो अपूर्ण विवरण की ओर संकेत करता है।

#### इक्ष्वाकूवंशीय राजवंश (९९/२८०-२९३) :

वायुपुराणकार के युग में अयोध्या का राजा दिवाकर था, उसके बाद की वंशावली इस

<sup>१</sup> द्रष्टव्य, पुराण-विषय-समनुक्रमणिका, पृ० २६- २७

प्रकार है— दिवाकर >सहदेव > बृहदश्व > भानुरथ > प्रतीताश्व > सुप्रतीत > सहदेव > सुनक्षत्र> > किन्नर > अन्तरिक्ष>सुपर्ण > अमित्रजित् > भरद्वाज > धर्मी > कृतञ्जय > ब्रात > रणञ्जय > सञ्जय > शाक्य > शुद्धोदन > राहुल > प्रसेनजित > क्षुद्रक > क्षुलिक > सुरथ > सुमित्र ।

बृहद्रथ राजवंश (९९/२९४—३०९) :

वायुपुराणकार के युग में मगध का राजा सेनजित् था। सेनजित् >श्रुतज्य (४०<sup>\*</sup>) >महाबल (३३) > शुचि (५८) > क्षेम (२८) > भुक्त (६४) > धर्मक्षेत्र (५) > नृपति (५८) > सुव्रत (४८) > दृढसेन (५८) > सुमति (३३) > सुचल (२२) > सुनेत्र (४०) > सत्यजित् (८३) > वीरजित् (४५) > अरिञ्जय (५०)।

वीतिहोत्रवंशीय— 'मुनिक' :

मगधदेशीय इस बृहद्रथ—वंश (जो कि जरासन्धपुत्र सहदेव का वंशज था) में प्रकृत पुराण के अनुसार ३२ राजाओं द्वारा लगभग १००० वर्षों तक शासन किया था—

द्वात्रिंशच्च नृपा ह्येते भवितारो बृहद्रथात् ॥

पूर्ण वर्षसहस्रं वै तेषां राज्यं भविष्यति ॥ (९९/३०८—९)

किन्तु यहाँ नाम केवल २२ राजाओं को ही दिये हैं। इतना ही नहीं शासन—काल १००० वर्ष है जबकि सेनजित् का शासन निर्दिष्ट नहीं है। इससे यहाँ संख्या ३२ सन्दिग्ध जान पड़ती है। सम्भवतः २२ ही सही है।

प्रद्योतवंशीय—राजवंश (९९/३०९—३१४) :

वीर्तिहोत्रीय वंशीय राजवंश में प्रद्योत पुत्र (?) > पालक (२४) > विशाखयूप (५०)>

\* कोष्टक के अन्तर्गत दी गई संख्या राजाओं के शासनकाल को निर्दिष्ट करती है।

अजक (२१) > वर्तिवर्धन (२०) ।

अध्येय पुराण के अनुसार इस वंश के पाँच राजा हुए जिन्होंने १३८ वर्ष तक राज्य किया । पुराणकार के अनुसार इस वंश का अन्तकर्ता शिशुनाक नामक राजा होगा।

शिशुनागवंशीय राजवंश (९९/३१४—३२५) :

शिशुनाक (४०) > शकवर्ण (३६) > क्षेमवर्मा (२०) > अजातशत्रु (२५) > क्षतौजा (४०) > विविसार (२८) > दर्शक (२५) > उदायी (३३) > नन्दिवर्धन (४२) > महानन्दी (४५)। शिशुनाग—वंश का अन्तिम राजा 'महापद्म' है जिसके विषय में यहाँ उल्लिखित है—

महानन्दिसुतश्चापि शूद्रायां कालसंवृतः । उत्पत्स्यते महापद्मः सर्वक्षत्रान्तरे नृपः ॥

ततः प्रभृति राजानो भविष्याः शूद्रयोऽनयः । एकराट् स महापद्म एकच्छत्रो भविष्यति ॥

(९९/३२६—७)

महापद्म के १०० पुत्रों में से १२ पुत्रों का राज्यकाल केवल ८ वर्ष का वायुपुराणकार ने बताया है और उनको कौटिल्य द्वारा निर्मूल कर देने की बात कही है किन्तु अगले ही क्षण महापद्मवंश का अन्तिम राजा जिसके नाम का उल्लेख नहीं है उसके द्वारा सौ वर्ष तक राज्य करने की चर्चा है। यह उल्लेख परस्पर विपरीत तथ्यों का उल्लेख करता है।

महापद्मवंश/नन्दवंश को कौटिल्य (चाणक्य) ने निर्मूल किया—

उद्धरिष्यति तान्सर्वान्कौटिल्यो वै द्विरष्टभिः ।

भुक्त्वा महीं वर्षशतं नन्देन्दुः स भविष्यति । (९९/३३०)

महापद्म के १०० पुत्रों में से १२ पुत्रों का राज्यकाल केवल ८ वर्ष का वायुपुराणकार ने बताया है और उनको कौटिल्य द्वारा निर्मूल कर देने की बात कही है किन्तु अगले ही क्षण महापद्मवंश का अन्तिम राजा जिसके नाम का उल्लेख नहीं है उसके द्वारा सौ वर्ष तक राज्य करने की चर्चा है। यह उल्लेख परस्पर विपरीत तथ्यों का उल्लेख करता है।

### मौर्यवंशीय—राजवंश (९९/३३१—३३६) :

चन्द्रगुप्त (२४) > भद्रसार (२५) > अशोक (२६) > कुनाल (८) > बन्धुपालित (८)  
> इन्द्रपालित (१०) > देववर्मा (७) > शतधर (८) > बृहदश्व (७) ।

यहाँ यह स्पष्टतः कथित है कि इन नन्दवंशीय नौ राजाओं का राज्य—काल कुल मिलाकर एक सौ सैंतीस वर्षों (उपर्युक्त गणना के आधार पर यह संख्या अधिक है) का होगा । तदनन्तर इनके हाथ से शासन शुंगों के हाथ में चला जायेगा। यह विवरण अनुचित है। चन्द्रगुप्त स्वयं नन्दवंशीय नहीं था।

### शुंगवंशीय—राजवंश (९९/३३७—३४३) :

पुष्पमित्र (६०) > ज्येष्ठ पुत्र (पुष्पमित्र का सबसे बड़ा पुत्र, ७) > वसुमित्र (१०) > अश्वक (२) > पुलिन्दक (३) > घोषसुत (३) > विक्रमित्र (३) > भागवत (३२) > क्षेमभूमि (१०)।

यहाँ कथित है कि उपर्युक्त दस शुंगवंशीय राजाओं का राज्य काल ११२ वर्षों का होगा । तदनन्तर शुंगवंशीय—सुदेव के हाथों में शासन—शक्ति आयेगी। इस प्रकार नामों में अन्तर अवश्य है किन्तु संख्या शुङ्ग राजाओं की दस ही स्वीकार की गयी है जो कि सर्वत्र मान्य है।

### शुंगवंशीय या कण्ववंशीय राजवंश (९९/३४३—३४७) :

सुदेव > देवभूमि (कण्ठायन—९) भूतिमित्र (२४) नारायण (१२) सुशर्मा (१०)। यहाँ कहा गया है कि ये उपर्युक्त कठोर कर्म करने वाले चार राजा कण्ठायन नाम से प्रसिद्ध होंगे, इनके राज्यकाल में सामन्तगण सर्वदा विनम्र रहेंगे, इनका शासनकाल कुल मिलाकर पैंतालीस वर्षों का होगा किन्तु उपर्युक्त शासनकाल का योग करने पर पचपन वर्ष आता है जो कि

असंगत है। अन्यत्र (मत्स्य० २७१/३१-३६) 'भूतिमित्र का शासनकाल १४ वर्ष निर्दिष्ट है जो कि संगत लगता है।

### आन्ध्रवंशीय राजवंश (९९/३४८-३५८) :

सिन्धुक (२३) > भात (१८) > शातकर्णि (५६) > आपादबद्ध (१०, २४, ६)  
 आपादबद्धो दश वै तस्य पुत्रो भविष्यति । चतुर्विंशन्तु वर्षाणि षट् समा वै भविष्यति ॥>  
 नेमिकृष्ण (२५) > हाल (१) > पुत्रिकषेण (३१) > सातकर्णि (१वर्ष, ६ मास) > शिवस्वामी  
 (२८) > गौतमीपुत्र (२१) > सातकर्णि 'यज्ञश्री' (१९) > विजय (६) > सातकर्णि 'दण्डश्री'  
 (३) > पुलोवा (७) । वायुपुराण के अनुसार इसके अतिरिक्त अन्यान्य राजाओं का भी पृथ्वी  
 पर राज्य होगा । इस प्रकार आन्ध्रवंशीय २३ राजा होंगे (किन्तु नाम सभी का उपलब्ध न  
 होने से आन्ध्र राजाओं का विवरण अपूर्ण है) और उनका राज्यकाल कुल मिलाकर ४११ वर्ष  
 होता है। आन्ध्रवंशीय राजा लोग ३०० वर्ष तक राज्य करेंगे, ऐसा भी यहाँ (९९/३६)  
 उल्लिखित है। पुराणों में सातवाहनों को आन्ध्र अथवा आन्ध्रजातीय कहा गया है। किन्तु कहीं  
 भी सातवाहन नृप अपने आन्ध्र अभिलेखों में अपने को 'आन्ध्र' नहीं कहते ।<sup>१</sup>

कलियुगीन—राजवंश—वर्णन—प्रसंग में वायुपुराणकार ने स्थानीय—राजवंश  
 (२/३७/३५३-६०), वैदेशिक—राजवंश (२/३७/३६१-७), क्राइस्टतृतीयशताब्दीय—राजवंश  
 (२/३७/३६८-७६) तथा क्राइस्टचतुर्थशताब्दीय—राजवंश (२/३७/३७७-८१) का भी स्पष्ट  
 निर्देश किया है<sup>२</sup> जिसका विस्तारभय से संकेत मात्र किया गया है।

गुप्तों के मूलस्थान या प्रारम्भिक शासन—क्षेत्र के विषय में यहाँ एक श्लोक निर्दिष्ट

<sup>१</sup> द्रष्टव्य : पुराण—विमर्श, पृ० ३९४

<sup>२</sup> द्रष्टव्य : पुराण—विषय—समनुक्रमणिका, पृ० २४



है—

अनुगङ्गां प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा ।

एताञ्जनपदान्सर्वान्भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः ॥ (९९/३८३)

गुप्त—साम्राज्य की यह स्थिति सम्भवतः चन्द्रगुप्त प्रथम के समय में थी । इसके बाद के गुप्तों का विवरण पुराणों में उपलब्ध नहीं। पूर्वगुप्तों के समकालीन कुछ राजवंश जैसे चम्पावती के नाग, मथुरा के नाग, मणिधान्य के राजा (जिनके आधिपत्य में नैषध, यदुक, शैशीत, कालतोपक थे) देवरक्षित ( जो कोशल, आभीर और पौण्ड्र का स्वामी था) ताम्रलिप्त, गुह, कलिंग, महिष, सौराष्ट्र, अवन्ती आदि के राजवंशों की भी चर्चा है। इससे समुद्रगुप्त के दिग्विजय—पूर्व की राजनीतिक स्थिति का अच्छा परिचय मिलता है। इन सभी राजाओं के प्रति पुराणकारों की आस्था नहीं थी अतः इन्हें अधार्मिक कहा गया है।<sup>१</sup> इसके बाद कलि के दोषों का वर्णन करके<sup>२</sup> पुराण में राजवंशावली का विवरण समाप्त कर दिया गया है।

निष्कर्षतः ऐतिहासिक सामग्री के परिचायक वंश एवं वंशानुचरित का यहाँ स्पष्ट एवं विस्तृत उल्लेख प्राप्त है। यद्यपि विभिन्न पुराणों की वंशावली की परस्पर तुलना करने पर उनमें नामभेद एवं क्रमभेद में अस्पष्टता एवं संदिग्धता दिखाई देती है तथापि यह वर्णन एकदम अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता, क्योंकि सम्पूर्ण वंशावली को क्रमशः लिपिबद्ध कर देना असम्भव नहीं तो कठिन कार्य अवश्य था। अनेक शाखा—प्रशाखाओं में विभक्त इन विस्तृत वंश—परम्पराओं को संक्षिप्त किन्तु सुस्पष्ट रीति से लेखबद्ध कर देना व्यास की ही लेखनी का कार्य था । यह वर्णन आधुनिक इतिहासज्ञों के लिए बहुत सहायक सिद्ध हो रहे हैं। पुराणों की ऐतिहासिक उपादेयता को विद्वानों ने सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया है।

<sup>१</sup> वायु० ९९/३८७—३८८, द्रष्टव्य : पुराण—विमर्श, पृ० ३९६—३९७

<sup>२</sup> तत्रैव, ९९/३८८—४१२, द्रष्टव्य : तदैव

अध्येय पुराण में आगत वंशावलियों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि प्रमुख—प्रमुख राजाओं का और उनमें से भी कुछ विशिष्ट आदर्श राजचरित्रों का ही यहाँ अंकन हुआ है। यद्यपि यहाँ अनेक वंशों का (वायुपुराण की भूमिका भाग के अनुसार ८२ पीढ़ियों का) उल्लेख है तथापि यहाँ प्रमुखता दो वंशों (सूर्य और चन्द्र) को ही दी गई है। चन्द्रवंशीय राजा ययाति के पुत्रों और उनके वंशजों पुरु, यदु, द्रुह्य, अनु, तुर्वसु का वंशक्रम विस्तार से वर्णित है। इतना ही नहीं इसमें अतीतकालीन राजाओं के अतिरिक्त वर्तमान एवं भविष्यत्कालीन (कलियुगीन) राजाओं का लम्बा वंश—क्रम भी मिलता है। इसमें महाभारत तक के प्राचीन वंशों तथा महाभारतोत्तर आन्ध्रों एवं गुप्तों के अभ्युदय तक के वंश का उल्लेख है तथा बाद के यवनों, शूद्रों और राजा—विहीन प्रजाओं (कदाचित् आज के प्रजातन्त्रात्मक शासन) का भी संकेतात्मक वर्णन है जो कल्कि—अवतार होने तक का संक्षिप्त राजनीतिक इतिहास प्रस्तुत करता है। संक्षेप में, समीक्ष्य पुराण को ऐतिहासिक सामग्री से सम्पन्न पुराण कहा जा सकता है।

### वायुपराणगत भूगोल

पञ्चविषयों के अतिरिक्त भूगोल एवं खगोल विषय भी पुराणों के अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय हैं । सर्ग—प्रसंग—वर्णन में पृथ्वी, ग्रहों, उपग्रहों, नक्षत्रों और ब्रह्माण्ड के क्रम का विवेकपूर्ण विवरण मिलता है। सप्तद्वीपा और सप्तसमुद्रा पृथ्वी के सप्त वर्षों एवं सप्त नदियों का स्पष्ट एवं विस्तृत उल्लेख भौगोलिक चित्रण की यथार्थता के व्यापक प्रमाण हैं। ऐसे वर्णन भुवन—विन्यास प्रकरण के अन्तर्गत विशेषरूप से द्रष्टव्य हैं। अनेकों पाश्चात्य विद्वानों ने इनके माध्यम से अनेक नदी, पर्वतादि को खोजकर तद्विषयक ज्ञान प्राप्त किया है।<sup>१</sup> अध्येय पुराण में अन्य देश—देशान्तरों की अपेक्षा भारतवर्ष और उसके समीपवर्ती देशों का कुछ विस्तृत उल्लेख हुआ है।

#### द्वीप :

द्वीप को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि दोनों ओर जल बहने के कारण और चारों ओर जल से घिरे रहने के कारण द्वीपों की 'द्वीप' संज्ञा हुई।<sup>२</sup> यहाँ चतुर्द्वीपा पृथ्वी तथा सप्तद्वीपा पृथ्वी के द्विविध विवरणों की प्रस्तुति अवलोकनीय है। पृथ्वी के विषय में सर्वप्राचीन मत चतुर्द्वीपा वसुमती की कल्पना का स्पष्ट निर्देश हुआ है।<sup>३</sup> साथ ही मेरु से महाद्वीपों की स्थिति का सांकेतिक उल्लेख हुआ है।<sup>४</sup> यहाँ पर चारों महाद्वीपों के एक—एक

<sup>१</sup> ऐसे उद्धरणों के लिए दृष्टव्य : पुराण—विमर्श, पृ० ३१७

<sup>२</sup> वायु० ४९/१३२

<sup>३</sup> पद्माकार समुत्पन्ना पृथ्वी सवनदुमा ।

तदस्य लोकपद्मस्य विस्तरेण प्रकाशितम् ।

महाद्वीपास्तु विख्याताश्चत्वारः पत्रसंस्थिताः ।

ततः कर्णिकसंस्थानो मेरुर्नाम महाबलः ॥ वायु०, ३४/४४—४६

<sup>४</sup> स तु मेरुः परिवृतो भुवनैर्भूतभावनैः ।

चत्वारो यस्य देशा वै नानापार्श्वेष्वधिष्ठिताः ॥

भद्राश्वो भरतश्चैव केतुमालश्च पश्चिमः ।

उत्तर कुरवश्चैव कृतपुण्यप्रतिश्रयाः । । तत्रैव, ३४/५६—५७

विशिष्ट पर्वत, नदी, वृक्षकुञ्ज, झील, वृक्ष, आराध्य विशिष्ट इष्टदेव का भी स्पष्ट संकेत मिलता है<sup>१</sup> जिसे संक्षेप में निम्न चार्ट द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

### चतुष्पत्री भुवनपद्म<sup>२</sup>

१. उत्तरकुरु		
२. श्रृंगी पर्वत		
३. सोमा नदी		
४. सवितृ वन		
५. महाभद्र सरस्		
६. मत्स्य भगवान्		
७. वटवृक्ष		
१. केतुमाल		१. भद्राश्व
२. ऋषभ, परियात्रपर्वत		२. जष्टर देवकूट पर्वत
३. चक्षु नदी		३. सीता नदी
४. वैभ्राज्य वन		४. चैत्ररथ वन
५. शीतोद सरस्		५. अरुणोदय सरस्
६. वराह भगवान्		६. हयग्रीव भगवान्
७. अश्ववत्थ वृक्ष		७. भद्रकदम्ब वृक्ष
	मेरु इलावृत्त वर्ष	
	१. भारतवर्ष	
	२. कैलास—हिमवान् पर्वत	
	३. अलखनन्दा	
	४. नन्दन वन	
	५. मानस सरस्	
	६. कच्छप भगवान्	
	७. जम्बू वृक्ष	

भुवन—विन्यास प्रकरण के अन्तर्गत उपर्युक्त सर्वप्राचीन चतुर्द्वीपा पृथ्वी के सिद्धान्त के साथ—साथ सप्तद्वीपा पृथ्वी का भी स्पष्ट संकेत हुआ है।<sup>३</sup> इसके अनुसार पृथ्वी सात द्वीपों (जम्बूद्वीप, प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्करद्वीपों) से परिवेष्टित है। इनमें पूर्व—पूर्व से उत्तरोत्तर द्वीप दुगुने बड़े हैं और ये क्रमशः लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दधि, क्षीर तथा स्वादु जल के समुद्र से घिरे हुए हैं साथ ही ये द्वीप इन समुद्रों द्वारा पृथक्—पृथक् विभक्त हैं।

<sup>१</sup> वायु०, अ० ३४—४१ (इसके अन्तर्गत नाना वर्ण—प्रमाण, वर्णबल, भक्ष्य, अन्न, पान, आच्छादन, भूषण और विविध भाँति के निवासी प्रजाजनों से युक्त चार महाद्वीपों, अन्तरद्वीप, शैल, वन, कानन, से संयुक्त पृथ्वी का वर्णन हुआ है।)

<sup>२</sup> पुराण—विमर्श, पृ० ३२२—साभार ग्रहीत ।

<sup>३</sup> वायु० ३५/११, ४९/१८१, ५०/५८, ७२, ७९ इत्यादि स्थलों पर मेदिनी को स्पष्ट रूप से सप्तद्वीपा कहा गया है।

प्रत्येक द्वीप में अधिष्ठित राजा, महावृक्ष, देवता, राजा के सात पुत्र और उनके नाम पर सात वर्ष या देशों के साथ—साथ उन द्वीपों के सात पर्वत, सप्तगंगा तथा जनजीवन आदि का यहाँ सुस्पष्ट उल्लेख हुआ है।<sup>१</sup>

### मेरु :

पुराणों में भू—वृत्त के अन्तर्गत मेरु पर्वत का अपना विशिष्ट स्थान है। प्रकृत पुराण के भुवन—विन्यास—प्रसंग में इसका विस्तृत विवेचन हुआ है। यहाँ इसे जम्बूद्वीप के केन्द्रीयवर्ष इलावृत्त के मध्य में स्थित कहा है, वहाँ चारों ओर स्थित चार पर्वतों को सहारे देने वाले चार खम्भे कहा गया है। इसकी स्थिति कमल—कर्णिका में मानी गयी है। इसे प्लुताकृति, चौकोर, बहुत ऊँचा, चातुर्वर्ण्यमय, सुवर्णमण्डित इत्यादि कहा गया है। पुराणों में इसे ही देवों की निवासस्थली देवलोक भी कहा गया है। चूँकि, यहीं से पर्वत श्रेणियाँ निकल चरों दिशाओं में विस्तीर्ण होती हैं, संभवतः इसीलिए विद्वानों ने इसे पामीर पर्वत का प्रतिनिधि माना है। किन्तु बलदेव उपाध्याय इस सम्बन्ध में डॉ० हर्षे के मत को उद्धृत करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मेरु पर्वत हिमालय के उत्तर में स्थित है और बहुत सम्भव है कि वह पश्चिमी साइबेरिया में वर्तमान आलताई पहाड़ ही हो।<sup>२</sup>

### भारतवर्ष :

समीक्ष्य पुराण में भारतवर्ष को जम्बूद्वीप का मध्यस्थान बताया गया है और यह जम्बूद्वीप सम्भवतः एशिया का प्राचीन नाम है। भुवनविन्यास—वर्णन प्रसंग में इसके सप्तकुलपर्वतों, नदियों, जनपदों, वहाँ के निवासियों का नामतः उल्लेख तथा संक्षिप्त परिचय

<sup>१</sup> वायु०, अ० ३३—४९

<sup>२</sup> द्रष्टव्य : पुराण—विमर्श, पृ० ३१९—३२०, डॉ० आर०जी० हर्षे के मत विशेष के लिए द्रष्टव्य: 'मेरु होमलैण्ड आव दी आर्यन्स' नामक लेख । विश्वेश्वरानन्द—भारतभारती लेखमाला, पृ० १०९, पंजाब, १९६४ ।

उपलब्ध है। हिमालय स्थित वनों, उपवनों तथा गिरि—गह्वरों एवं सरोवरों का भी वर्णन है।

भारतवर्ष की सीमा पर स्थित देशों के प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन को पुराणकार ने सूत के माध्यम से बड़ी सुन्दरता के साथ प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही प्राकृतिक असुविधाओं से वंचित जनवासियों के छिन्न—भिन्न स्वरूप को देखकर क्षुब्ध हुए सूत की मनःस्थिति को पुराणकार ने उपस्थित किया है किन्तु पूर्व से पश्चिम तक लम्बायमान हिमालय पर्वत के दक्षिण स्थित भारतवर्ष के वर्णन—प्रसंग में सूत का हृदय देश—प्रेम एवं देशाभिमान से भर उठा है।<sup>1</sup> इन उद्धरणों की पृष्ठभूमि भारतवर्ष का वह स्वर्णिमयुग रही है जब उसे सोने की चिड़िया कहा जाता था, दूर—दूर तक उसकी कीर्ति फैली थी, इसी से इसका दूसरा नाम 'कर्मभूमि' प्रसिद्ध हो गया था। देवता भी यहाँ जन्म लेने के लिए लालायित रहते थे।

भारतवर्ष इस नाम से पूर्व हैमवतवर्ष नाम से इसकी ख्याति थी।<sup>2</sup> भारतवर्ष के निर्वचन में विलक्षणता दर्शनीय है, चूँकि यहाँ भारती प्रजा रहती है, ऐसी प्रजा का भरण—पोषण करने के कारण मनु, 'भरत' तथा उनकी निवासभूमि भारत या भारतवर्ष कहलायी।<sup>3</sup> किन्तु वायुपुराण में एक स्थान (९९/१३४) पर तो स्पष्ट रूप से 'शकुन्तलायां भरतो यस्य नाम्ना तु भारतम्' कहा गया है जिससे शकुन्तला के पुत्र 'भरत' के नाम पर भारतवर्ष हुआ किन्तु एक

<sup>1</sup> यदिदं भारतं वर्षं यस्मिन्स्वायंभुवादयः ।  
चतुर्दशैते मनवः प्रजासर्गे भवन्त्युत ॥  
ततः सर्गश्च मोक्षश्च मध्यश्चान्तश्च गम्यते ।  
न खल्वन्यत्र मर्त्यानां भूमौ कर्म विधीयते ॥  
चत्वारि भारते वर्षे युगानि कवयो विदुः ।  
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुष्टयम् ॥ वायु० ४५/६९, ७७, १३७  
<sup>2</sup> इदं हैमवतं वर्षं भारतं नाम विश्रुतम् । तत्रैव, ३४/२८  
<sup>3</sup> पुण्यतीर्थे हिमवतो दक्षिणस्यातलस्य हि ।  
पूर्वपश्चायतस्यास्य दक्षिणेन द्विजोत्तमाः ॥  
तथा जनपदानां च निस्तरं श्रोतुमर्हथ ।  
अत्र वो वर्णयिष्यामि वर्षेऽस्मिन्भारते प्रजाः ॥  
इदं तु मध्यमं चित्रं शुभाशुभफलोदयम् ।  
उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमवदक्षिणं च यत् ॥  
वर्षं यद्भारतं नाम यत्रेयं भारती प्रजा ।  
भरणाच्च प्रजानां वै मनुर्भरत उच्यते ॥  
निरुक्तवचनाच्चैव वर्षं तद्भारतं स्मृतम् ॥ तत्रैव, ४५/७३—७६

अन्य स्थल पर नाभि के पौत्र और ऋषभ के पुत्र 'भरत' से इसका भारतवर्ष नाम हुआ।<sup>१</sup> यह स्पष्ट उल्लिखित है कि उक्त तीनों कथन परस्पर विरुद्ध होने के कारण वास्तविकता जानने में कठिनाई उपस्थित करते हैं। किन्तु, यतः 'मनु' इन सभी में प्राचीनतम थे। अतः उनके नाम से ही भारत का नाम पड़ा, यह तथ्य स्वीकार करना उचित होगा।

इसमें भारतवर्ष का नवखण्डात्मक विभाजन देखने को मिलता है। इन्द्रद्वीप, कसेरु, ताम्रवर्णी (ताम्रपर्णी), गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वारुण और भारतवर्ष (कुमारीद्वीप)—इन नवद्वीपों को समुद्र से परिवेष्टित एवं परस्पर अगम्य कहा गया है।<sup>२</sup> नवम् द्वीप भारतवर्ष कुमारी से लेकर हिमालय तक तिर्यग् भाव से उत्तर की ओर नौ हजार योजन विस्तीर्ण है। फलतः दक्षिण से उत्तर तक फैलने वाले देश का दक्षिण बिन्दु कुमारी या कन्याकुमारी था और इसीलिए यह भारत की कुमारीद्वीप यह संज्ञा प्रसिद्ध हुई।<sup>३</sup> राजशेखर ने काव्यमीमांसा (अ०१७) में तथा वामनपुराण (१३/५९) और स्कन्दपुराण के कुमारी—खण्ड के अन्तर्गत भी भारत के लिए कुमारीद्वीप कहा गया है।<sup>४</sup>

भारतवर्ष की नदियों, पर्वतों और प्रान्तों अथवा जनपदों का स्पष्ट वर्णन भारतवर्ष की भौगोलिक एवं सांस्कृतिक ऐक्य का परिचायक है। सप्तकुलपर्वतों, जैसे— महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य, और पारियात्र तथा इनके समीप स्थित हजारों पर्वतों का यहाँ स्पष्ट उल्लेख है। हिमालयादि सप्तकुल पर्वतों के पाददेश से प्रवाहित होनेवाली नदियों की यहाँ तालिका दी गयी है।<sup>५</sup> इन सभी नदियों को पवित्र, संसार के पाप को नष्ट करने वाली

<sup>१</sup> वायु०, ३३/५०—५२

<sup>२</sup> तत्रैव, ४५/७८—८०

<sup>३</sup> द्रष्टव्य : पुराण—विमर्श, पृ० ३३९

<sup>४</sup> द्रष्टव्य : मार्कण्डेय पुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन, अग्रवाल, वासुदेवशरण, पृ० १४३

<sup>५</sup> वायु०, ४५/९४—१०७ :

#### ऋक्ष पर्वत

शोणो महानदश्चैव नर्मदा सुमहाद्रुमा ।

~और संसार की माता स्वरूपा कहा गया है तथा समुद्र में इन सभी का विलयन कहा गया है।<sup>१</sup> इन नदियों के भौगोलिक चित्रण के साथ — साथ कतिपय आख्यानो की ओर भी संकेत किया गया है। सह्यपर्वत के उत्तरार्द्ध में जहाँ गोदावरी नदी बहती है, उस प्रदेश की मनोहरता एवं पौराणिक आख्यान को उल्लिखित करते हुए कहा गया है। कि यह प्रदेश समग्र पृथ्वी पर मनोहर है। यहाँ इन्द्र ने गोवर्द्धन नामक स्वर्गपुर का निर्माण किया था। भारद्वाज मुनि ने

मन्दाकिनी दशार्णा च चित्रकूट तथैव च ॥  
तमसा पिप्पला श्रोणी करतोया पिशाचिका ।  
नीलोत्पला विपाशा च जम्बुला बालुवाहिनी ॥  
सितेरजा शुक्तिमती मरुणा त्रिदिवा क्रमात् ।  
ऋक्षपादात्प्रसूताश्च नद्यो मणिनिभोदकाः ॥

विन्ध्याचल :

तापी पयोष्णी निर्बन्ध्या मद्रा च निषधा नदी ।  
वेन्वा वैतरणी चैव शितिवाहुः कुमुद्वती ॥  
तोया चैव महागौरी दुर्गा चान्तशिला तथा ।  
विन्ध्यपादप्रसूताश्च नद्यः पुण्यजलाः शुभाः ॥

सह्य पर्वत :

गोदावरी भीमरथी कृष्णा वैण्यथ वञ्जुला ।  
तुङ्गभद्रा सुप्रयोगा कावेरी च तथाऽऽपगा ॥  
दक्षिणापथनद्यस्तु सह्यपादाद्विनिःसृताः ॥

मलयाचल :

कृतमाला ताम्रवर्णी पुण्यजात्युत्पलावती ।  
मलयाभिजातास्ता नद्यः सर्वाः शीतजलाः शुभाः ॥

महेन्द्र पर्वत :

त्रिसामा ऋतुकूल्या च इक्षुला त्रिदिवा च या ।  
लाङ्गूलिनी वशधरा महेन्द्रतनयाः स्मृताः ॥

शुक्तिमान पर्वत :

ऋषीका सुकुमारी च मन्दगा मन्दवाहिनी ।  
कूपा पलानिशी चैव शुक्तिमत्प्रभवाः स्मृताः ॥

हिमालय :

पीयन्ते यैरिमा नद्यो गङ्गा सिन्धुसरस्वती ।  
शतद्रुश्चन्द्रभागा च यमुना सरयूस्तथा ॥  
इरावती वितस्ता च विपाशा देविका कुहूः ।  
गोमती धुतपापा च बाहुदा च दूषद्वती ।  
कौशिकी च तृतीया तु निश्चीर गण्डकी तथा ।  
इक्षुर्लोहित इत्येता हिमवत्पादनिःसृता ॥

परियात्रपर्वत :

वेदस्मृतिर्वेदवती वृत्रघ्नी सिन्धुरेव च ।  
वर्णाशा चन्दना चैव सतीरा महती तथा ॥  
पर चर्मण्वती चैव विदिशा वेत्रवत्यपि ।  
शिप्रा ह्यवन्ती च तथा पारियात्राश्रयाः स्मृताः ॥

<sup>१</sup> वायु० ४५/१०८



रामचन्द्र की प्रिय कामना से वहाँ वृक्ष और औषधियों को उगाया था। वह वन रामचन्द्र के अन्तःपुर के उद्देश्य से बनाया गया है, अतः यह मनोहर वन है ।<sup>१</sup>

प्रकृत पुराण में देश को मध्यदेशीय, उदीच्य, प्राच्य, दक्षिणापथ, अपरान्तक, विन्ध्यपृष्ठाश्रित तथा पर्वताश्रित इन सात भागों में विभक्त करते हुए जनपदों या प्रान्तों की एक सूची दी गयी है।<sup>२</sup> इस सूची में आगत १६१ जनपदों के नामों में से कुछ उसी रूप में प्रसिद्ध

<sup>१</sup> वायु० ४५/११२-११४ :

<sup>२</sup> तत्रैव, ४५/१०९-१३६ :

#### मध्यदेशीय :

तस्त्वमे कुरुपञ्चालाः शाल्वाश्चैव सजाङ्गलाः ।  
शूरसेना भद्रकार बोधाः शतपथेश्वराः ।  
वत्सा किसिष्णाः कुलयश्च कुन्तलाः काशिकोशलाः ॥  
अर्थपाश्च तिलङ्गाश्च मगधाश्च वृकैः सह ।

#### उत्तरापथीय (उदीच्य) :

बाह्लीका वाटधानाश्च आभीराः कालतोयकाः ।  
अपरीताश्च शूद्राश्च पहलवाश्चर्मखण्डिकाः ॥  
गान्धारा यवनाश्चैव सिन्धुसौवीरभद्रकाः ।  
शका ह्दाः कुलिन्दाश्च परिता हारपूरिकाः ॥  
रमटा रद्धकटका केकया दशमानिकाः ।  
क्षत्रियोपनिवेशाश्च वैश्यशूद्रकुलानि च ॥  
काम्बोजा दरदाश्चैव बर्बराः प्रियलौकिकाः ।  
चीनाश्चैव तुषाराश्च पहलवा बाह्यतोदराः ॥  
आत्रेयाश्च भरद्वाजाः प्रस्थलाश्च कसेरुकाः ।  
लम्पकाः स्तनपाश्चैव पीडिका जुहुडैः सह ।  
अपगाश्चालिमद्राश्च किरतानां च जातयः ।  
तोमरा हंसमार्गाश्च काश्मीरास्तङ्गणास्तथा ॥  
चूलिकाश्चाहुकाश्चैव पूर्णदवास्तथैव च ।

#### प्राच्य :

अम्बवाकाः सुजरका अन्तर्गिरिबहिर्गिराः ।  
तथा प्रवङ्गवङ्गेयामालदा मालवर्तिनः ॥  
ब्रह्मोत्तराः प्रविजया भर्गवा गेयमर्थकाः ॥  
प्रागज्योतिषाश्च मुण्डाश्च विदेहास्ताम्रलिप्तकाः ।  
माला मगधगोविन्दाः प्राच्यां जनपदां स्मृताः ।

#### दक्षिणापथीय :

पाण्ड्याश्च केरलाश्चैव चौल्याः कुल्यास्तथैव च ॥  
सेतुका मूषिकाश्चैव कुमना वनवासिकाः ।  
महाराष्ट्रा माहिषकाः कलिङ्गाश्चैव सर्वशः ।  
अ (आ) भीराः सहचैषीका आटव्याश्च वराश्च ये ।  
पुलिन्दा विन्ध्यमूलीका वैदर्भा दण्डकैः सह ॥  
पौनिका मौनिकाश्चैव अष्मका भोगवर्धनाः ।  
नैर्णिकाः कुन्तला अम्बा उद्भिद्रा नलकालिकाः ॥

हैं तो कुछ के नाम राजनीतिक उथल—पुथल अथवा अन्य किसी कारणवश परिवर्तित हो गये हैं। ब्रह्माण्डपुराण (पूर्व अनुषङ्गपाद, अ० १६) में वायुपुराणोक्त यह नामावली स्वल्प—नाम—भेद से उद्धृत है।

वायुपुराण में उद्धृत जनपदों की नामावली को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि पुराणकाल में या उसके पूर्व भारत छोटे—छोटे जनपदों में विभक्त था जिनका विभाग, प्राकृतिक सीमाओं, बोलियों या जाति—विशेष (खस, पुलिन्द) के आधार पर किया जाता था। उस समय बृहत्तर भारत का विस्तार पूर्व में प्राग्ज्योतिष (आसाम) से लेकर पश्चिम में ईरान तक और दक्षिण में कन्याकुमारी से लेकर उत्तर में रूसी तुर्किस्तान तक था। इतने विशाल भू—भाग में भारतीय संस्कृति का प्रचार—प्रसार था। पुराण के अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि वैदिक काल में सप्तसिन्धु और गङ्गा—यमुना को जो महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था पौराणिक युग में गोदावरी को भी वही स्थान प्राप्त था। जनमानस उसके प्राकृतिक सौन्दर्य पर मुग्ध था।

#### अपरान्त :

सूर्पाकारः कोलवना दुर्गाः कालीतकैः सह ॥  
पुलेयाश्च सुरलाश्च रूपसास्तापसैः सह ।  
तथा सुरसिताश्चैव सर्वे चैव परक्षरः ॥  
नासिक्याद्याश्च ये चान्ये ये वै चान्तरनर्मदाः ।  
भानुकच्छाः समाहेयाः सहसा शाश्वतैरपि ॥  
कच्छीयाश्च सुरष्टाश्च आनर्ताश्चाबुदै सह ।  
इत्येते संपरीताश्च शृणुध्वं विन्ध्यवासिनः ।

#### विन्ध्याचल :

मालवाश्च करुषाश्च सेकलाश्चोत्कलैः सह ।  
उत्तमार्गा दशार्गाश्च भोजाः किष्किन्धकैः सह ॥  
तोसलाः कोसलाश्चैव त्रैपुरा वैदिकास्तथा ॥  
तुमुगस्तुम्बुराश्चैव षट्सुरा निषधैः सह ॥  
अनुपास्तुण्डिकेशश्च वीतिहोत्रा ह्यवन्तयः ।

#### पार्वताश्रयी :

निर्गङ्गा हंसमार्गाः क्षुपणास्तङ्गणाः खसाः ॥  
कुशप्रावरणाश्चैव हूणा दर्वाः सहदकाः ।  
त्रिगर्ता मालवाश्चैव किरतास्तामसैः सह ॥

### खगोल—विद्या

पुराण—ग्रन्थों में भूगोल के साथ—साथ खगोल विद्या का भी सांकेतिक एवं विवरणात्मक दोनों ही रूपों में विवेचन हुआ है। पुराणों में ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र मण्डल, राशिचक्र, शिंशुमार चक्र, ध्रुवतारा आदि की उत्पत्ति, परिवर्तन, गति, विगति, परिमाण, पृथ्वी से इनकी दूरी तथा प्रभाव आदि रहस्यों का निरूपण लौकिकी भाषा में सरल एवं सुस्पष्ट रीति से हुआ है। खगोल—वेत्ता विविध प्रमाणों के आधार पर इनकी सत्यता को प्रतिपादित करने में एकजुट है और शनैः शनैः आधुनिक मत पुराणवर्णित खगोल के निकट आते जा रहे हैं। कूर्मपुराण, भविष्यपुराण और श्रीमद्भागवत पुराण में खगोल—विद्या का पर्याप्त विवेचन हुआ है। प्रकृत पुराण भी इस वर्णन से अछूता नहीं है। ज्योतिष्रचार—प्रकरण के अन्तर्गत विशेष रूप से इन्हीं तत्वों का कथन हुआ है। संक्षेप में इनका वर्णन इस प्रकार है—

#### सूर्य :

सूर्य आदिग्रह,<sup>१</sup> ग्रहराज<sup>२</sup> दीप्तिमान् सुन्दर ग्रह हैं<sup>३</sup>। देवता, असुर और मनुष्यों से पूर्ण सम्पूर्ण जगत् इन्हीं का है।<sup>४</sup> यही सबके सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता हैं।<sup>५</sup> क्षण, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, संवत्सर, ऋतु, वर्ष और युग आदि सब इन्हीं से उत्पन्न होकर अन्त में इन्हीं में विलीन हो जाते हैं।<sup>६</sup> रुद्र, इन्द्र, उपेन्द्र और चन्द्रादि देवों में इन्हीं का तेज विद्यमान है।<sup>७</sup> सूर्य ही रात—दिन व्यवस्थापक है।<sup>८</sup> इनके उदय—अस्त से ही पूर्व तथा पश्चिम दिशाओं

<sup>१</sup> वायु० ५३/१०४, १११

<sup>२</sup> तत्रैव ५३/२९

<sup>३</sup> तत्रैव, ५३/३७

<sup>४</sup> तत्रैव, ५३/३४

<sup>५</sup> तत्रैव, ५३/३६, ५२/४१

<sup>६</sup> तत्रैव, ५३/३८

<sup>७</sup> तत्रैव, ५३/३५

<sup>८</sup> तत्रैव, ५०/११८

का ज्ञान होता है।<sup>१</sup> इन्हीं से उत्तरायण एवं दक्षिणायन का विभाग होता है। सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन होने पर रात और दिन घटते—बढ़ते हैं। इसी से कभी दिन रात को तो कभी रात दिन को ग्रस लेती है। शरद् और वसन्तकाल के मध्य में सूर्य विषुवत् रेखा पर चले जाते हैं। उस समय विषुव अर्थात् दिन—रात बराबर होते हैं।<sup>२</sup> उत्तरायण होने पर किरणें कुछ घट जाती हैं और दक्षिणायन होने पर ये बढ़ जाती हैं।<sup>३</sup> सूर्य के अजवीथी (दक्षिणगली) और नागवीथी (उत्तरगली) गमन के दोनों मार्गों के विषय में कहा गया है कि मूल, पूर्वाषाढ़ और उत्तराषाढ़ नामक तीनों नक्षत्रों में जब सूर्य उदित होते हैं तब उनका नाम अजवीथी और अभिजित से लेकर तीन नक्षत्रों में जब उदय होते हैं तब उनका नाम नागवीथी रहता है।<sup>४</sup> सूर्य के अस्त हो जाने पर इनकी किरणों का एक भाग अग्नि में प्रवेश कर जाता है। इसी से अग्नि रात को बहुत दूर से दिखाई देती है और जब सूर्य का उदय होता है तब उनके अस्तकालीन तेज के साथ अग्नि का तेज भी सूर्य में मिल जाता है। इसी से सूर्य दिन में अधिक तपते हैं। सूर्य का प्रकाशमान तेज और अग्नि का उष्ण तेज परस्पर मिलकर सम्पूर्ण लोगों को दिन—रात सन्तुष्ट करते हैं।<sup>५</sup>

सूर्य का विस्तार नौ हजार योजन तथा मण्डल की विशालता इससे तिगुनी बताई गई है।<sup>६</sup> सूर्य प्रति मुहूर्त में इक्कतीस लाख पचास हजार योजन चला करते हैं।<sup>७</sup> दक्षिण दिशा में ये दिन—रात में नौ करोड़ एक लाख पैंतीस हजार योजन चला करते हैं।<sup>८</sup> जब सूर्य विषुवत्

<sup>१</sup> वायु०, ५०/१०६

<sup>२</sup> तत्रैव, ५०/१७६—१७७

<sup>३</sup> तत्रैव, ५१/७२—७३

<sup>४</sup> तत्रैव, ५०/१३०

<sup>५</sup> तत्रैव, ५०/११२—११४

<sup>६</sup> तत्रैव, ५०/६३

<sup>७</sup> तत्रैव, ८४/१२०—१२१

<sup>८</sup> तत्रैव, ५०/१२३—१२४

रेखा पर स्थित होते हैं तो इस विषुवत् का विस्तार तीन करोड़ इक्यासी लाख योजन होता है।<sup>१</sup> अध्याय ५१-५३ में इनके रथ, घोड़े एवं किरणों का भी विस्तृत विवेचन हुआ है। भगवान् भुवन-भास्कर ऋतुकाल के अनुसार किरणों को बदल-बदल कर देवता, पितर और मनुष्यों को तृप्त करते हैं।<sup>२</sup> सूर्य-सम्बन्धी अन्य विशिष्ट तथ्यों के लिए अध्याय ५०-५३ अवलोकनीय है।

### चन्द्र :

चन्द्र को नक्षत्रपति<sup>३</sup>, गंगा नदी का आधार,<sup>४</sup> शीत-प्रदाता,<sup>५</sup> कहा गया है। इनकी उत्पत्ति कृत्तिका नक्षत्र में कही गयी है।<sup>६</sup> चन्द्रमा की शुक्ल पक्ष एवं कृष्ण पक्ष में होने वाली वृद्धि एवं हास का सुस्पष्ट विवेचन हुआ है। चन्द्र की इस वृद्धि और क्षय का कारण सूर्य कहे गये हैं।<sup>७</sup> क्षीण हुए चन्द्रमा को सूर्य की सुषुम्ना नामक किरणें पुनः समृद्ध करती हैं।<sup>८</sup> चन्द्रमण्डल को जल-प्रधान है।<sup>९</sup> इसे सूर्य की किरणों से प्रकाशित सौम्य स्थान कहा गया है।<sup>१०</sup> विस्तार में यह सूर्य से दूने कहे गये हैं।<sup>११</sup> सहस्र किरण वाले चन्द्र स्थान शुक्लवर्ण और जलमय बताया गया है।<sup>१२</sup> चन्द्रमा के रथ एवं घोड़ों के विषय में कहा गया है कि इनके रथ में एक सौ अरायें, तीन चक्के और उज्ज्वल वर्ण के दस दिव्य अश्व हैं, जो कल्पादि में एक बार जोते गये हैं और युगान्त पर्यन्त रथ का वहन करते हैं।<sup>१३</sup>

<sup>१</sup> वायु०, ५०/१२६-१२७

<sup>२</sup> तत्रैव, ५२/३६

<sup>३</sup> तत्रैव, ५३/२९

<sup>४</sup> तत्रैव, ५१/२१

<sup>५</sup> तत्रैव, ५१/२०

<sup>६</sup> तत्रैव, ५३/१०५

<sup>७</sup> तत्रैव, ५२/५६-७१

<sup>८</sup> तत्रैव, ५३/४६

<sup>९</sup> तत्रैव, ५३/५७

<sup>१०</sup> तत्रैव, ५३/५९

<sup>११</sup> तत्रैव, ५३/६२ । यह उल्लेख आज के विज्ञानसम्मत तथ्य से विपरीत है।

<sup>१२</sup> तत्रैव, ५३/८५

<sup>१३</sup> तत्रैव, ५२/५०-५५

बुध :

सोम—पुत्र 'बुध' के शुभ्रवर्ण और जलीय तेज से युक्त रथ में वायु की तरह वेगवान् पिशंगवर्ण के आठ घोड़े जुते हुए हैं।<sup>१</sup> सूर्य की विश्वकर्मा किरण दक्षिण ओर रहकर इन्हें परिपुष्ट करती है।<sup>२</sup> पञ्च किरणों वाले बुध का स्थान जलमय और कृष्णवर्ण कहा गया है।<sup>३</sup> शनैश्चर और मंगल से बुध का विस्तार परिमाण में एक चरण कम तथा स्थूलाकार तारा नक्षत्रादि का विस्तार मण्डल प्रायः इन्हीं के समान कहा गया है।<sup>४</sup>

शुक्र :

भार्गव—पुत्र शुक्र असुरों के पुरोहित,<sup>५</sup> सोलह किरणों वाले,<sup>६</sup> प्रतापवान्,<sup>७</sup> शौक्र स्थान में रहने वाले<sup>८</sup> तथा ताराग्रहों में आदि ग्रह कहे गए हैं।<sup>९</sup> सूर्य की पश्चाद्भाग में रहने वाली विश्वश्रवा किरण इनका उद्भव स्थान के रूप में निरूपित है।<sup>१०</sup> यह चन्द्रमा का सोलहवाँ भाग कहा गया है।<sup>११</sup> इनका स्थान जलमय है।<sup>१२</sup> इनकी उत्पत्ति पुष्य 'नक्षत्र' में कही गयी है।<sup>१३</sup> इनके रथ को तेज में सूर्य के समान तथा नाना वर्ण के दस वेगशाली अश्वों से युक्त कहा गया है।<sup>१४</sup> शुक्र प्रमुख ये तारा ग्रह आदि जन्मकालिक नक्षत्र के वश यदि विगुण या दुष्ट हो जाते हैं, तब वे उसी दोष के कारण क्लेश पहुँचाने लगते हैं। किन्तु वह पीड़ा उनकी उपासना

<sup>१</sup> वायु०, ५२/७३-७४

<sup>२</sup> तत्रैव, ५३/४७

<sup>३</sup> तत्रैव, ५३/८५

<sup>४</sup> तत्रैव, ५३/६७-६८

<sup>५</sup> तत्रैव, ५३/८०

<sup>६</sup> तत्रैव, ५३/८६, ६०

<sup>७</sup> तत्रैव, ५३/६०

<sup>८</sup> तत्रैव, ५३/६०

<sup>९</sup> तत्रैव, ५३/१०६, १११

<sup>१०</sup> तत्रैव, ५३/४८

<sup>११</sup> तत्रैव, ५३/६६

<sup>१२</sup> तत्रैव, ५३/८६

<sup>१३</sup> तत्रैव, ५३/१०६

<sup>१४</sup> तत्रैव, ५२/७५-७६

करने से शान्त हो जाती है।<sup>१</sup>

मंगल :

मंगल का स्वर्ण निर्मित, शोभासम्पन्न रथ; अग्नि से उत्पन्न बेजोड़ लोहित वर्ण के आठ घोड़ों से युक्त है। मंगल इन्हीं पर आरोहण कर सीधी और टेढ़ी गति से राशिचक्र का भ्रमण करते हैं।<sup>२</sup> 'संयद्वसु' सूर्य—किरणें इनको उत्पन्न करने वाली कही गयी है।<sup>३</sup> ये लोहित स्थान में प्रवेश करने वाले जिससे इनका लोहित वर्ण प्रकट होता है।<sup>४</sup> इनकी उत्पत्ति 'पूर्वाषाढ़' नक्षत्र में कही गयी है।<sup>५</sup> नौ किरणों वाले मंगल का स्थान लोहितवर्ण एवं जलमय कहा गया है।<sup>६</sup>

वृहस्पति :

अंगिरातनय,<sup>७</sup> देवों के पुरोहित, महातेजस्वी,<sup>८</sup> एवं देवाचार्य विद्वान्<sup>९</sup> बारह किरणों वाले,<sup>१०</sup> वृहस्पति 'फल्गुनी' नक्षत्र में उत्पन्न कहे गये हैं।<sup>११</sup> इनका स्थान वृहत् और हरिद्वर्ण कहा गया है।<sup>१२</sup> सूर्य की छठी किरण 'अर्वाग्वसु' से ये उत्पन्न कहे गये हैं।<sup>१३</sup> ये शुक्र से एक चौथाई छोटा और विस्तार मण्डल में एक योजन बड़े कहे गये हैं।<sup>१४</sup> स्वर्णनिर्मित इनका रथ; दिव्य, लाल रंग के, वायु की तरह वेगशाली आठ अश्वों से युक्त है।<sup>१५</sup>

<sup>१</sup> वायु०, ५३/११०

<sup>२</sup> तत्रैव, ५२/७७

<sup>३</sup> तत्रैव, ५३/४८

<sup>४</sup> तत्रैव, ५३/६०

<sup>५</sup> तत्रैव, ५३/१०८

<sup>६</sup> तत्रैव, ५३/८६

<sup>७</sup> तत्रैव, ५२/७८, ८१

<sup>८</sup> तत्रैव, ५३/८१

<sup>९</sup> तत्रैव, ५२/७८

<sup>१०</sup> तत्रैव, ५३/८७

<sup>११</sup> तत्रैव, ५३/१०७

<sup>१२</sup> तत्रैव, ५३/८७

<sup>१३</sup> तत्रैव, ५३/४९

<sup>१४</sup> तत्रैव, ५३/६७ यह वर्णन आधुनिक विज्ञानसम्मत नहीं है। वृहस्पति सभी ग्रहों में सबसे बड़े आकार का ग्रह है।

<sup>१५</sup> तत्रैव, ५२/७८—७९ वृहस्पति के ये आठ अश्व कदाचित् आठ उपग्रह ही हैं।

### शनि :

आठ किरण वाले शनि का स्थान जलमय और कृष्णवर्ण कहा गया है।<sup>१</sup> ये 'रेवती' नक्षत्र में उत्पन्न,<sup>२</sup> बृहस्पति से एक चरण (चतुर्थांश) कम,<sup>३</sup> सूर्य की 'स्वराट्' किरण से तृप्त कहे गये हैं।<sup>४</sup> इन्हें शनैश्चर स्थान में प्रवेश करने वाला कहा गया है।<sup>५</sup> इनका रथ काले लोहे से बना तथा आकाश से उत्पन्न चितकबरे घोड़ों से युक्त कहा गया है। ये अपने रथ पर आरूढ़ होकर धीरे-धीरे चलने वाले कहे गये हैं।<sup>६</sup>

### स्वर्भानु (राहु) :

स्वर्भानु या राहु पर्व (पूर्णिमा) के दिन सूर्य मण्डल से निकलकर चन्द्रमण्डल में प्रवेश करते हैं और पुनः पर्व में ही चन्द्रमण्डल से निकलकर सूर्यमण्डल में प्रवेश किया करते हैं।<sup>७</sup> यह सूर्य और चन्द्र के नीचे-नीचे चलने वाला कहा गया है। मण्डलाकार राहु पृथ्वी की छाया से निर्मित कहा गया है। इसका अन्धकारमय बृहत् स्थान है। अपनी किरणों को प्रेरित करने के कारण यह 'स्वर्भानु' कहलाता है।<sup>८</sup> इनका स्थान जीव-जन्तुओं को पीड़ा पहुँचाने वाला और तमोमय कहा गया है।<sup>९</sup> यह सिंहिका-पुत्र है।<sup>१०</sup> इसे सूर्य-चन्द्र को पीड़ा पहुँचाने वाला तथा 'रेवती' नक्षत्र में उत्पन्न कहा गया है।<sup>११</sup> इनके तमोमय कृष्णवर्ण के रथ को मन की भँति वेगवान तथा कृष्णवर्ण आठ अश्वों से संयुक्त कहा गया है।<sup>१२</sup>

---

<sup>१</sup> वायु०, ५३/८७

<sup>२</sup> तत्रैव, ५३/१०९

<sup>३</sup> तत्रैव, ५३/६७

<sup>४</sup> तत्रैव, ५३/४९

<sup>५</sup> तत्रैव, ५३/६०

<sup>६</sup> तत्रैव, ५२/७९-८०

<sup>७</sup> तत्रैव, ५२/८२

<sup>८</sup> तत्रैव, ५३/६३-६५

<sup>९</sup> तत्रैव, ५३/८८

<sup>१०</sup> तत्रैव, ५३/८२-८३

<sup>११</sup> तत्रैव, ५३/१०९

<sup>१२</sup> तत्रैव, ५२/८१



केतु :

राहु की भाँति केतु भी सूर्य—चन्द्र को पीड़ा पहुँचाने वाला तथा 'रेवती' नक्षत्र में उत्पन्न कहा गया है।<sup>१</sup> इसे केतुग्रहों में आदि कहा है।<sup>२</sup> इनके रथ को वायु की तरह वेगशाली और गधे की तरह धूसरवर्णा, चितकबरे तथा धान के भूसे के धुएँ की तरह चौंसठ अश्वों से संयुक्त कहा गया है।<sup>३</sup>

देवताओं से इन ग्रहों का सामञ्जस्य प्रदर्शित करते हुए पुराणकार ने देवसेनापति कार्तिकेय को मंगल ग्रह, नारायण को बुध, रुद्र को वैवस्वत् और मन्दगामी महाग्रह शनैश्चर कहा है।<sup>४</sup> देवगुरु 'बृहस्पति' तथा असुरगुरु 'शुक्र' को प्रकाशवान् महाग्रह, प्रजापति के पुत्र तथा इनके प्रभाव से दैत्यपति और सुरपति को प्रतापवान् कहा गया है।<sup>५</sup> शनि, गुरु और मंगल ग्रहों को अन्य ग्रहों के ऊपर धीरे—धीरे दूर तक विचरण करने वाला तथा इनकी गति वक्र कही गयी है तथा इनके नीचे सूर्य, सोम, बुध और शुक्र चार को महाग्रह एवं शीघ्रगामी कहा गया है।<sup>६</sup> जब सूर्य दक्षिण दिशा में गमन करते हैं तब वे सब ग्रहों के नीचे से चलते हैं। उस समय सूर्य → चन्द्रमा → नक्षत्रमण्डल → बुध → बृहस्पति → शनि → सप्तर्षिमण्डल → ध्रुव अवस्थित रहते हैं। ताराग्रहों का अन्तर ऊपर की ओर यथाक्रम से दो लाख योजनों का है। ये दिव्य तेज से आकाश में नियतक्रम से नित्य संयुक्त और पृथक् कहे गये हैं। ये समागमकाल में या निम्न—उच्च स्थिति के समय में मृदुभाव धारण कर लेते हैं, जिससे सब कोई उन्हें एक बार देख लेते हैं। यदि परस्पर इनका संयोग भी होता है तो ये तिल—तण्डुल की तरह पृथक् ही

<sup>१</sup> वायु० ५३/१०९

<sup>२</sup> तत्रैव, ५३/१११

<sup>३</sup> तत्रैव, ५२/८३

<sup>४</sup> तत्रैव, ५३/३१—३२

<sup>५</sup> तत्रैव, ५३/३३

<sup>६</sup> तत्रैव, ५३/७१—७२

रहते हैं।<sup>१</sup>

ध्रुव :

चारों दिशाओं में विभक्त ग्रहों के बीच कीलस्वरूप ध्रुव (उत्तानपाद—पुत्र) को श्रेष्ठ<sup>२</sup> एवं सूर्य का आधार कहा गया है।<sup>३</sup> इसे आकाश में स्थित सौरमण्डल के पुच्छ भाग में मेधिस्तम्भ के रूप में वर्तमान कहा गया है।<sup>४</sup> ये स्वयं घूमते हुए ग्रहों के साथ—साथ चन्द्र—सूर्य को भी घुमाने वाले कहे गये हैं। घूमते हुए ध्रुव का नक्षत्र—समूह चक्र की भाँति अनुसरण करता है। वायु—समूह के बन्धन द्वारा यह नक्षत्र—मण्डल ध्रुव में बँधा हुआ है। नक्षत्रों का योग, भेद, कालाचार, अस्त, उदय, उत्पात, दक्षिणोत्तर अयन, विषुव और ग्रहवर्ण इसी से उत्पन्न कहे गये हैं। वर्षा, घाम, हिम, रात, दिन और सन्ध्या तथा प्रजाजन का शुभाशुभ व्यापार सभी कुछ ध्रुव से ही उत्पन्न होते हैं। सभी नक्षत्रादि इन्हीं के अधिकार में हैं। सूर्य केवल इन्हें आवृत करते हैं। वही प्रदीप्तकिरण ध्रुव कालाग्नि और दिवाकर है। परिवर्तनक्रम से सूर्य वायुयुक्त किरण द्वारा दिशाओं को आलोकमय कर सम्पूर्ण जगत् का जल शोषण करते हैं।<sup>५</sup> ध्रुव से आवेष्टित सूर्य और वायु ही वृष्टि करने वाले तथा उसे रोकने वाले कहे गये हैं।<sup>६</sup> यहाँ ज्योतिश्चक्र का शिंशुमार के रूप में वर्णन हुआ है। इस विषय में यहाँ उक्त है कि ध्रुव से मिलकर ज्योतिःसमूह चला करता है। एक अकेला ध्रुव ही मेरु पर्वत के मस्तक पर अधोमुख होकर मेरु को देखते हुए भ्रमण करते हैं और साथ ही साथ सदा ज्योतिर्मण्डल का भी आकर्षण करते रहते हैं।<sup>७</sup> ध्रुव, शिंशुमार (ज्योतिर्मण्डल) की तरह आकाश में प्रतिष्ठित है।

<sup>१</sup> वायु०, ५३/९५—१०१

<sup>२</sup> तत्रैव, ५२/११२

<sup>३</sup> तत्रैव, अध्याय ५१—५३

<sup>४</sup> तत्रैव, ५३/९८

<sup>५</sup> तत्रैव, ५१/६—१३

<sup>६</sup> तत्रैव, ५१/५१

<sup>७</sup> तत्रैव, ५२/९०—१००

इनकी महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि रात में ध्रुव को देखने से दिनभर का किया हुआ पाप नष्ट हो जाता है। आकाश में जितने तारे उस ज्योतिर्मण्डल में हैं, उतने बरसों तक ध्रुव को देखने वाला जीवित रहता है।

### शिंशुमार चक्र :

शिंशुमार सब काल में रहने वाला नित्य है। उत्तानपाद इसकी निचली तुड्डी, यज्ञ अधर, धर्म मस्तक, नारायण हृदय, अश्विनीकुमार पूर्व के दो पाद, वरुण और अर्यमा पश्चिम के दो पाद, मित्र गुह्यदेश और पूँछ अग्नि, महेन्द्र, मरीचि, कश्यप तथा ध्रुव हैं। इस संवत्सरात्मक शिंशुमार का अस्तोदय नहीं होता है।

लौकिक व्यवहार को सुव्यवस्थित करने के लिए ईश्वर ने इस प्रकार के ज्योतिश्चक्र का निर्माण किया है और वायुपुराणकार ने अर्थानुसंधान करके इसका विवरण प्रस्तुत किया है। ये ज्योतिश्चक्र अन्त तक सभी दिशाओं में वृत्ताकार में विस्तीर्ण हैं, ये 'श्रवणा' से उत्पन्न हुए हैं और ध्रुव से संलग्न हैं। ये ज्योतिश्चक्र विश्वरूपात्मिका प्रकृति का एक अद्भुत विपरिणाम हैं।<sup>१</sup>

उपर्युक्त विवेचन से वायुपुराणगत खगोल—विद्या का स्वरूप यत्किञ्चित् स्पष्ट होता है। वर्तमान खगोल विषयक ज्ञान से प्रेरित होकर इस दिशा में महत्त्वपूर्ण शोध प्रस्तुत किये हैं, जिनसे एतद्विषयक अनेक पौराणिक मान्यताएँ पूर्ण तथा कुछ आंशिक रूप में सत्य सिद्ध हुई हैं।

---

<sup>१</sup> वायु०, ५३/११८—१२०



नित्यशुद्धं निराभासं निराकारं निरञ्जनम्।  
नित्यबोधं चिदानन्दं सद्गुरुं तं नमाम्यहम्॥

षष्ठ-परिच्छेद  
'धर्म, दर्शन एवं संस्कृति'  
{खण्ड-क}  
' धर्म '

- धर्म : व्युत्पत्ति एवं लक्षण।
- पौराणिक धर्म : शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर।
- अन्य देवता : इन्द्र, मरुत्, वरुण, अग्नि, वृहस्पति, सोम, अश्विन, गन्धर्व, ब्रह्मा, त्रिदेव-समन्वय।
- नास्तिक सम्प्रदाय : बौद्ध एवं जैन धर्म।
- यज्ञ एवं याज्ञिक क्रियाएँ।
- स्तुति-सम्पदा ।
- तीर्थ-संग्रह ।

## धर्म

धर्म उत्कृष्ट मंगल है । अहिंसा, संयम और तप उसके मुख्य अंग है। उत्तम क्षमा, मृदुता, सरलता, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य व ब्रह्मचर्य— ये दश धर्म के लक्षण हैं। क्षमा, संतोष, सरलता और नम्रता धर्म के द्वार हैं । धर्म की धुरा को खींचने के लिए धन की नहीं बल्कि सदाचार की आवश्यकता है। धर्म को सदाचार का मूल कहा गया है।<sup>१</sup> जन्म और मृत्युरूपी जलप्रवाह में वेग से बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही द्वीप, प्रतिष्ठान, गति और उत्तम कारण है। व्यक्ति की देह में रोग, शैथिल्य एवं कुल का विनाश धर्म परित्याग का हेतु है।<sup>२</sup> मानव को अपने उत्कर्ष—साधन के लिए समाज की अपेक्षा है और धर्म में ही समाज की प्रतिष्ठा है; केवल मानव समाज की ही नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण जगत् की प्रतिष्ठा धर्म में ही है। इस विषय में श्रुति वाक्य है—

‘धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा’

अर्थात् धर्म ही अविरल विश्व का आश्रयभूत है। अन्ततः धर्म की ही जय होती है।  
जैसा कि महाभारत में कहा गया है—

धर्मो जयति नाधर्मः सत्यं जयति नानृतम् ।

क्षमा जयति न क्रोधः क्षमावान् ब्रह्मणो भवेत् ॥

### धर्म शब्द की व्युत्पत्ति एवं लक्षण :

धर्म शब्द ‘धृ’ धातु (धृञ् धारणे) से निष्पन्न हुआ है, जिसका आशय है धारण करना, आलम्बन देना, पालन करना । वायुपुराण में भी धर्म का यही व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ प्राप्त

<sup>१</sup> धर्मोऽस्य मूलं धनमस्य शाखा । पुष्पं च कामः फलमस्य मोक्षः । वामन०, १४/१९

<sup>२</sup> स्वानि वर्णाश्रमोक्तानि धर्माणीह न हापयेत् । यो हापयति तस्यासौ परिकुप्यति भास्करः ॥

कुपितः कुलनाशस्य देहयोगविवृद्धये। भानुर्वै यतते तस्य नरस्य क्षणदाचर ॥ तत्रैव, १४/१२१—१२२

होता है।<sup>१</sup> ऋग्वेद में यह शब्द धार्मिक विधियों या धार्मिक क्रिया —संस्कारों के रूप में प्रयुक्त हुआ है।<sup>२</sup> 'धारणाद् धर्म इत्याहुः'<sup>३</sup> के अनुसार धर्म जीवन का मूलधार है। इसी से मनुष्य को प्रेरणा और प्रकाश उपलब्ध होता है। यही धर्म जीवन की गतिविधि और प्रगति में सहायक होता है। वास्तव में धर्म संकुचित नहीं अपितु विशद महान्, और उदात्त भावना से प्रकाशमान होता है।

धर्म का लक्षण देते हुए कहा गया है कि 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'<sup>४</sup> अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् की प्राप्ति हो वह धर्म है। श्रुति द्वारा जो कर्म विधिरूप से विहित होते हैं, वे धर्म और जो कर्म निषिद्ध होते हैं वे अधर्म कहलाते हैं। धर्माधर्म की व्यवस्था में वेद का ही परम प्रामाण्य है।<sup>५</sup> चूँकि धर्म भगवत्प्रणीत है, इसलिए धर्म का ज्ञाता और बोद्धा मानो स्वयं भगवान् ही हैं।

### पौराणिक धर्मः

पौराणिक वाङ्मय के अध्ययनानुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि वहाँ धर्म के विविध रूप और सिद्धान्त प्रचलित थे और उनका एक ही लक्ष्य था—परम श्रेय को सुलभ कराना । वास्तव में जप, तप, ध्यान, कर्म, तीर्थ, व्रत, आचार, अर्चन, स्तुति आदि धार्मिक क्रियाओं और मोक्ष साधनों का समाहार ही धर्म है।

पुराण—धर्म विशेषतः भक्ति पर आधारित है। जो रोगग्रस्त संसार को कल्याणपद दिलाने वाली परमौषधि के समान है। पुराणों के विभिन्न आख्यानो का यही उद्देश्य है कि सभी प्राणियों में सत्पथगामिनी सद्बुद्धि का विकास हो तथा वासनापरक पशुबुद्धि का हास हो।

<sup>१</sup> धारणा धृतिरित्यर्थाद्धातोर्धर्मः प्रकीर्तितः । वायु० ६९/२८

<sup>२</sup> ऋग्वे० १/२२/१८, ५/२६/६, ७/४३/२४, ९/६४/१ आदि ।

<sup>३</sup> धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः । यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ महा०शान्ति० १०८/११

<sup>४</sup> वैशेषिक सूत्र, १

<sup>५</sup> वेदप्रणिहितो धर्म इत्यर्थस्तद्विपर्ययः ।

वेदो नारायणः साक्षात् स्वयंभूरिति शुश्रुमः ॥ श्रीमद्भागवत० ६/१/४०

आज का भारतीय धर्म पूर्णतः पौराणिक है। भारतीय धर्म के संग्रहग्रन्थ होने के कारण पुराण भारतीय संस्कृति के प्रतीक हैं। वस्तुतः हमारे प्राचीन हिन्दू धर्म के विस्तृत विकास, भारत तथा भारतेतर प्रदेशों में उसका व्यापक प्रसार तथा लोकप्रियता का रहस्य पुराणों के गम्भीर सर्वांगीण धार्मिक विवेचन पर आश्रित है।

यद्यपि अध्येय पुराण शिव और शिव—माहात्म्य से ओत—प्रोत पुराण है तथापि इसमें वैष्णव, शाक्त, जैन तथा बौद्ध आदि से सम्बन्धित विभिन्न धार्मिक—क्रिया कलाओं का भी उल्लेख हुआ है। वास्तव में पुराण किसी विशिष्ट देवता के पूजानुष्ठान को लक्ष्य कर निर्मित हुए हैं और ऐसी स्थिति में अन्य देवों के साथ संघर्ष की संभावना हो सकती है पर ऐसे स्थल यहाँ अत्यल्प हैं। पुराणों के कारण ही धार्मिक सहिष्णुता का साम्राज्य भारतवर्ष के धार्मिक क्षेत्रों में प्रतिष्ठित हुआ है। वस्तुतः पुराण धार्मिक एवं सामाजिक सहिष्णुता एवं सौमनस्य के प्रतीक हैं।

### शिव और शैव धर्म

अध्येय पुराण के मुख्य आराध्य देव शिव हैं। अतः यह शैवधर्म की महिमा से आद्यन्त मण्डित है। वायुपुराणकार ने सृष्टिकर्ता, पालक एवं उसके विनाशकर्ता एकमात्र शिव को ही माना है।<sup>1</sup> प्रथम अध्याय की अन्तिम पंक्तियों में स्पष्ट कहा गया है कि “यह समस्त पुराण महेश्वर है। सर्गकाल में यही सृष्टि करते हैं और संहार काल में ही यही प्रलय करते हैं।”<sup>2</sup> शिव से ही सप्तर्षि, देवता तथा सभी मानवी सृष्टि की उत्पत्ति बतायी गयी है तथा पर्वत, समुद्र आदि स्थावर सृष्टि के भी वही जनक कहे गये हैं।<sup>3</sup> इनमें ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य,

<sup>1</sup> अहं जनो जनयिता वः कालः कालप्रवर्तकः । युगकर्ता तथा चैव परं परंपरयणः ॥

पुनःपुनः संहरते सृजते च पुनःपुनः । वायु० ३२/२३, ३४

<sup>2</sup> (क) तस्यापि जगतः सृष्टुः स्रष्टा देवो महेश्वरः ॥ अतश्च संक्षेपमिमं शृणुष्व महेश्वरः सर्वमिदं पुराणम् ॥

स सर्गकाले च करोति सर्गं संहारकाले पुनरुददीत ॥ तत्रैव, १/२०४, २०५

(ख) स सृष्टा सर्वभूतानां कल्पादिषु पुनःपुनः । व्यक्ताव्यक्तो महादेवस्तस्य सर्वमिदं जगत् ॥ तत्रैव, ७/७८

<sup>3</sup> तत्रैव, ३/१, २४/९६—१००; ३२/४—५; ५५/३७; ७/७८ इत्यादि ।

तप, सत्य, क्षमा, धृति, स्रष्टृत्व, आत्म—संबोधत्व, अधिष्ठातृत्व—ये दस गुण सदा वर्तमान रहते हैं। देवताओं, असुरों और ऋषियों के तेज से सम्पन्न होने के कारण इन्हें महादेव कहा जाता है। वे ऐश्वर्य में देवों से, बल में असुरों से, ज्ञान में मुनियों से और योग में सभी भूतों से बढ़कर कहे गये हैं।<sup>१</sup> देव, पितृ, दानव आदि इनकी इसलिए पूजा करते हैं क्योंकि वे काल स्वरूप हैं।<sup>२</sup> इस प्रकार भगवान् शिव गुण, क्रिया और शक्ति में सर्वश्रेष्ठ कहे गये हैं।

### परमात्म—रूप :

वायुपुराणकर्ता ने शिव को परमतत्त्व एवं परमब्रह्म के रूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ शिव सगुण और निर्गुण दोनों ही रूपों में निरूपित हैं। प्रथम अध्याय के तृतीय श्लोक में इन्हें ही ईशान, शाश्वत, ध्रुव, अव्यय, महादेव तथा जगत्पति कहा गया है।<sup>३</sup> शिव—स्तोत्रों में ब्रह्मा, विष्णु आदि द्वारा इन्हें सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्तुत किया गया है। यद्यपि कुछ स्थलों पर विष्णु की उत्कृष्टता का वर्णन है, तथापि वे अपनी इस महानता का श्रेय शिव को देते नजर आते हैं। इतना ही नहीं विष्णु ने शिव को जीवों का स्रष्टा, काल और काल का भी स्रष्टा कहा है।<sup>४</sup> स्वयं शिव ने ब्रह्मा और विष्णु को अपने से उत्पन्न मानते हुए, तथा ब्रह्मा को अपना दाहिना हाथ और विष्णु को वाम हाथ कहा है।<sup>५</sup> यहाँ यह भी स्पष्ट रूप से निरूपित है कि शिव ने ही इस चराचर जगत् की सृष्टि की है, विष्णु और ब्रह्मा तो उनके सहायक मात्र हैं।<sup>६</sup> 'शार्वस्तव' के अन्तर्गत विष्णु ने ब्रह्मा के समक्ष शिव का परमात्म रूप प्रस्तुत किया है।<sup>७</sup> इसके अतिरिक्त ब्रह्मा द्वारा कालकूट विष को ग्रहण करने की सामर्थ्य शिव में ही बताकर

<sup>१</sup> वायु०, १०/६५—६७, ५/४१,

<sup>२</sup> तत्रैव, ३२/३५

<sup>३</sup> तत्रैव, १/३

<sup>४</sup> तत्रैव, ५५/९

<sup>५</sup> तत्रैव, ५५/५७—५८

<sup>६</sup> तत्रैव, ५५/६२

<sup>७</sup> तत्रैव, २४/६०, ६४—६६; ७० इत्यादि।



इनकी उत्कृष्टता को व्यक्त किया गया है।<sup>१</sup> एक अन्य स्थल पर ब्रह्मा शिव से उन्हीं के समान पुत्र की याचना करते हैं फलस्वरूप कालान्तर में रुद्र रूप में भगवान् शिव ब्रह्मा से प्रकट होते हैं।<sup>२</sup> यह पंक्ति भी शिव की उत्कृष्टता की द्योतक है।

### अन्य देवों से ऐक्य :

शिव—स्तुति प्रसंग में विष्णु द्वारा उन्हें 'अग्नि' कहा गया है।<sup>३</sup> एक अन्य स्थल पर आदिदेव शिव को रुद्र, ब्रह्मा, इन्द्र, लोकपालगण, ऋषिवृन्द, दानव, नारायण आदि कहकर इन सबसे इनकी एकता प्रतिपादित की गई है।<sup>४</sup>

### शिव और लिंग :

अध्येय पुराण के ५५ वें अध्याय में 'लिङ्गोद्भव—स्तव' के अन्तर्गत लिङ्गोद्भव और लिंग—पूजा सम्बन्धी माहात्म्य विस्तार से वर्णित है। इसके उद्भव और विकास के विषय में यहाँ आख्यात है कि एक बार जब ब्रह्मा और विष्णु परस्पर गुण, कर्म और प्रभाव में श्रेष्ठता का निर्णय कर रहे थे उस समय उन्होंने ज्वालामाला—रूप अस्पष्ट शिव—लिङ्ग को देखा था जिसका ओर—छोर अज्ञात था।<sup>५</sup> तब उन दोनों ने अग्नि—स्तम्भ, जिसमें वह छोटा लिंग भी स्थित था, उसकी स्तुति कर शिव को प्रसन्न कर वरदान प्राप्त किया।<sup>६</sup> प्रथम अध्याय की विषयानुक्रमणी के अन्तर्गत लिंगोत्पत्ति कथा को पापों का विनाश करने वाली कहा गया है।<sup>७</sup> 'शार्वस्तव' के अन्तर्गत भी इसका संकेत मिलता है।<sup>८</sup> शुक्राचार्य द्वारा भगवान् शिव की

<sup>१</sup> वायु०, ५४/६४

<sup>२</sup> तत्रैव, ५५/६०

<sup>३</sup> तत्रैव, २४/१६२

<sup>४</sup> तत्रैव, ६६/१२२

<sup>५</sup> तत्रैव, ५५/२०

<sup>६</sup> तत्रैव, अध्याय—५५

<sup>७</sup> तत्रैव, १/१०५

<sup>८</sup> तत्रैव, २४/७२—३, २४/५५—६०, २४/९१—२

स्तुति में भी इसका उल्लेख हुआ है।<sup>१</sup>

### शिव—अवतार :

अध्येय पुराण के २३वें अध्याय में, भविष्य में प्रत्येक द्वापर में होने वाले शिव के अवतारों एवं पुत्र अथवा शिष्यों की विस्तृत व्याख्या के साथ एक सूची उपलब्ध है<sup>२</sup> जो इस प्रकार है :

<u>अवतारों के नाम</u>	<u>शिष्य अथवा पुत्रों के नाम</u>
१. श्वेत	श्वेत, श्वेतशिखर, श्वेताश्व, श्वेतलोहित ।
२. सुतार	दुन्दुभि, शतरूप, ऋचीक, केतुमान् ।
३. दमन	विशोक, विकेश, विशाप, शापनाशन ।
४. सुहोत्री	सुमुख, दुर्मुख, दुर्दम, दुरतिक्रम ।
५. कङ्क	सनक, सनन्दन, ऋतु, सनत्कुमार ।
६. लोकाक्षि	सुधामा, विरजा, शंखपाद, रव ।
७. जैगीषव्य	सारस्वत, सुमेध, वसुवाह, सुवाहन ।
८. वसिष्ठ	कपिल, आसुरि, पञ्चशिख, वाग्वलि ।
९. ऋषभ	पराशर, गार्ग्य, भार्गव, अङ्गिरा ।
१०. त्रिधामा	बलबन्धु, निरामित्र, केतुशृङ्ग, तपोधन ।
११. उग्र	लम्बोदर, लम्ब, लम्बाक्ष, लम्बकेश ।
१२. अत्रि	सर्वज्ञ, समबुद्धि, साव्य, सर्व ।
१३. बालि	सुधामा, काश्यप, वसिष्ठ, विरजा ।
१४. गौतम	अत्रि, उग्रतपा, श्रवण, श्रविष्टक ।
१५. वेदशिरा	कुणि, कुणिबाहु, कुशरीर, कुनेत्रक ।
१६. गोकर्ण	काश्यप, उशाना, च्यवन, बृहस्पति ।
१७. गुहावासी	उतथ्य, वामदेव, महाकाल, महालय ।
१८. शिखण्डी	वाचस्रवा, ऋत्ती(ची)क, शावास, दृढव्रत ।

<sup>१</sup> वायु०, १७/२००—२२

<sup>२</sup> तत्रैव, २३/११५—२२४

१९.	जटामाली	हिरण्य, कौशिल्य, काक्षीव, कुथुमि ।
२०.	अट्टहास	सुमन्तु, बर्वरि, सुबन्धु, कुशिकन्धर ।
२१.	दारुक	प्लक्ष, दाक्षायणि, केतुमाली, वक ।
२२.	लाङ्गुली	सुधार्मिक, तुल्यार्चि, मधुपिङ्गाक्ष, देवल, कवि ।
२३.	श्वेत (द्वितीय)	ऊसिज, बृहदुक्थ्य, देवल, कवि ।
२४.	शूली	शालिहोत्र, आग्निवेश्य, युवनाश्व, शरद्वसु
२५.	दण्डी	छगल, कुम्भकर्णशिव, कुम्भ, प्रबाहुक ।
२६.	सहिष्णु	उलूक, वैद्युत, शर्वक, आश्वलायन ।
२७.	सोमशर्मा	अक्षपाद, कणाद, उलूक, वत्स ।
२८.	नकुली	कुशिक, गार्ग्य, मित्रक, रुष्ट ।

साधारणतः शिव के पुत्रों अथवा शिष्यों के विषय में यहाँ आख्यात है कि वे सबके सब ब्रह्मभूयिष्ठ ब्राह्मण, शिवध्यानानुरक्त, रुद्रलोकगामी, योगात्मा, महात्मा, वेदपारंगत होंगे ।  
वैदिक साहित्य में भी प्रायः ये सभी पुत्र अथवा शिष्य ब्राह्मण के रूप में वर्णित हैं।

### शिव और यज्ञ :

दक्ष—यज्ञ—विध्वंस कथानक के अन्तर्गत दक्ष शिव को शाप देते हैं कि ब्राह्मण यज्ञ में अन्य देवों के साथ तुम्हारी पूजा नहीं करेंगे तथा युग के अन्त होने तक तुम धरती पर ही बने रहोगे।<sup>१</sup> दक्ष द्वारा शिव—स्तुति में इनके लिए ‘सत्रघाताय’ विशेषण इनको यज्ञ का अनधिकारी बताता है।<sup>२</sup> लेकिन अन्यत्र आख्यात है कि शिव ने ब्रह्मा के आदेश से सौ रुद्रों को उत्पन्न किया जिनका अन्य देवताओं के साथ यज्ञीय भाग पर अधिकार था।<sup>३</sup>

### शिव के नाम :

अध्येय पुराण में शिव के विविध नामों का सकारण उल्लेख हुआ है। दक्ष — प्रजापति

<sup>१</sup> वायु० ३०/६२-६४

<sup>२</sup> तत्रैव, ३०/१९५

<sup>३</sup> तत्रैव, १०/५९-६०

ने तो आठ हजार नामों द्वारा इनकी स्तुति की है। इसके अतिरिक्त विभिन्न शिव-स्तोत्रों में इनके बहुत से नामों का उल्लेख हुआ। कुछ प्रमुख नाम इस प्रकार हैं : महेश्वर<sup>१</sup>, शंकर<sup>२</sup>, महादेव<sup>३</sup>, हर,<sup>४</sup> रुद्र<sup>५</sup>, शर्व<sup>६</sup>, भव<sup>७</sup>, शम्भू<sup>८</sup>, ईशान<sup>९</sup>, वामदेव<sup>१०</sup>, पशुपति<sup>११</sup>, भूतपति<sup>१२</sup>, वृषध्वज,<sup>१३</sup> नीलकण्ठ,<sup>१४</sup> शितिकण्ठ,<sup>१५</sup> कपर्दी,<sup>१६</sup> त्रिपुरारि,<sup>१७</sup> त्रिनेत्र,<sup>१८</sup> त्र्यम्बक,<sup>१९</sup> शूलपाणि,<sup>२०</sup> सहस्राक्ष<sup>२१</sup> इत्यादि। इस पुराण में आगत एक आख्यान के अन्तर्गत शिव के आठ नाम मिलते हैं जो कि ब्रह्मा द्वारा रखे गये हैं— रुद्र, भव, शिव, पशुपति, ईश, भीम, उग्र और महादेव।<sup>२२</sup>

### शिवोपासना :

शिव को सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वदेव मानते हुए इनकी पूजा से सबकी पूजा तथा इनके संतुष्ट होने पर सभी देवों के संतुष्ट होने का अनेकत्र उल्लेख हुआ है। दक्ष-यज्ञ में दधीचि द्वारा इनके निमंत्रण मात्र से सबका निमंत्रण कहकर यही तथ्य स्पष्ट किया गया है।<sup>२३</sup> रुद्रदेव

<sup>१</sup> वायु०, ३४/३८-९; ५५/५५-५; ५५/६५-६८

<sup>२</sup> तत्रैव, ३९/४२; ५५/६५-८

<sup>३</sup> तत्रैव, ४०/२०-६; ३४/३८-९; ६९/४४

<sup>४</sup> तत्रैव, ३०/३०७

<sup>५</sup> तत्रैव, २१/७१; १०/७०

<sup>६</sup> तत्रैव, ४७/२७; ९७/१६६-७१; १/१५२

<sup>७</sup> तत्रैव, ४७/२९-३१; ९२/२९-३७

<sup>८</sup> तत्रैव, ३०/२११-२

<sup>९</sup> तत्रैव, ९७/१८२-९०

<sup>१०</sup> तत्रैव, २३/६९-७१

<sup>११</sup> तत्रैव, १६-३०/८९; २४/१०-७, ९७/१९१-२०२

<sup>१२</sup> तत्रैव, ५०/३०...; ४०/२०६; ९९/४२

<sup>१३</sup> तत्रैव, ७०/७-८

<sup>१४</sup> तत्रैव, ५४/९४

<sup>१५</sup> तत्रैव, १०/४९

<sup>१६</sup> तत्रैव, ९७/१६२-५; २४/१२९; ५४/७०३५

<sup>१७</sup> तत्रैव, ५४/७१

<sup>१८</sup> तत्रैव, ९७/१७२-८१

<sup>१९</sup> तत्रैव, ६९/१७३; ९७/८२, ५२; २४/१२०

<sup>२०</sup> तत्रैव, २५/८९

<sup>२१</sup> तत्रैव, १०/५१; ३०/१८२

<sup>२२</sup> तत्रैव, २७/४-५६

<sup>२३</sup> तत्रैव, ३०/१०६

को नमस्कार करने से मनुष्य के सभी पापों का विनाश तथा सभी धार्मिक क्रियाओं का फल निश्चित रूप से प्राप्त हो जाता है, अन्य देवों के नमस्कार से ऐसा सम्भव नहीं।<sup>१</sup> कलियुग प्रसंग में स्वयं शिव देवों और ऋषियों से कहते हैं कि— “ मैं चारों युगों में पूजा जाता हूँ X X X काल के भय से प्रत्येक मन्वन्तर में मैं देवता, ऋषि, पितृ तथा दानवों आदि द्वारा पूजा जाता हूँ।”<sup>२</sup> अन्यत्र भी शिवोपासना का तथा उसे प्राप्त नाना प्रकार की सिद्धियों एवं शक्तियों का उल्लेख हुआ है।<sup>३</sup>

### शिव के रौद्र एवं सौम्य रूपों का समन्वयात्मक चित्रण :

उपलब्ध विभिन्न शिव—स्तोत्रों में इनके रौद्र एवं सौम्य दोनों ही रूपों की झलक देखी जा सकती है। जहाँ अतिभैरव,<sup>४</sup> उग्ररूपधर,<sup>५</sup> क्रोधागार,<sup>६</sup> क्रूर,<sup>७</sup> बीभत्स,<sup>८</sup> भीम,<sup>९</sup> उग्र,<sup>१०</sup> इत्यादि विशेषण इनके रौद्र रूप के परिचायक हैं, वहीं सौम्य, पुण्य, शुभ<sup>११</sup>, प्रिय, वरद,<sup>१२</sup> कामद, शम्भु, शिव, शंकर<sup>१३</sup> इत्यादि विशेषण इनके सौम्य रूप की झाँकी प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार यहाँ शिव के सौम्य तथा रौद्र दोनों रूपों का समन्वयात्मक चित्रण हुआ है।

### शिव—आख्यान :

शिव सम्बन्धी अनेकविध आख्यान यहाँ आये हैं, जिनमें चार बहुत प्रसिद्ध हैं; (यहाँ

<sup>१</sup> वायु०, २०/३३-३५

<sup>२</sup> तत्रैव, ३२/२१, २४-२५, ३५

<sup>३</sup> तत्रैव, २४/६६, ७०, १२५, १३६, १६६, १०४, ३०/१६६, २१९, २५५, २६०, २३२, २२२, २६४, २७१, ३२/३६-३७, ४९/१६९-१७१, ५४/७५, ५५/३२-३३, ६१, ९७/१६२ .. इत्यादि।

<sup>४</sup> तत्रैव, २४/५६

<sup>५</sup> तत्रैव, २४/१४३

<sup>६</sup> तत्रैव, २४/१६२

<sup>७</sup> तत्रैव, ९७/१७८

<sup>८</sup> तत्रैव, ९७/१७८

<sup>९</sup> तत्रैव, २४/१४३; २७/१४

<sup>१०</sup> तत्रैव, २४/१४३; २७/१५

<sup>११</sup> तत्रैव, ९७/१७८-१७९

<sup>१२</sup> तत्रैव, २४/१४९

<sup>१३</sup> तत्रैव, २४/७० आदि।

पर केवल उनके नाम ही उद्धृत कर रहे हैं विस्तार के लिए इस प्रबन्ध का चतुर्थ अध्याय दृष्टव्य है) जैसे—दक्ष—यज्ञ विध्वंश,<sup>१</sup> नीलकण्ठस्तव,<sup>२</sup> लिंगोद्भवस्तव<sup>३</sup> और शिव द्वारा वाराणसी का अविमुक्त नामकरण।<sup>४</sup>

### शिव के गण अथवा अनुचर :

भूत, असुर, राक्षस, पिशाच, यक्ष, गन्धर्व, प्रेत, अप्सरा, किन्नर, दैत्य आदि का शिव के गणों अथवा अनुचरों के रूप में अनेकत्र उल्लेख हुआ है। शिव को इनका अधिपति कहा गया है। इन गणों द्वारा शिव की भूमि को क्रीडामय, आनन्दमय बताया गया है। ये सब आनन्दमग्न होकर शिव की पूजा, सेवा आदि करते हैं।<sup>५</sup>

### आठ—रुद्र एवं एकादश—रुद्र :

रुद्र पद का निर्वचनपरक अर्थ करते हुए कहा गया है कि 'रोदन' तथा 'द्रवण' के कारण इनका 'रुद्र' नाम पड़ा।<sup>६</sup> यहाँ रुद्रों की संख्या आठ और एकादश दोनों ही उल्लिखित हैं। अध्याय २७ में स्पष्टतः एवं विस्तार से आठ रुद्रों रुद्र, भव, शिव, पशुपति, ईश, भीम, उग्र और महादेव का वर्णन प्राप्त होता है।<sup>७</sup> परन्तु संभवतः कालान्तर में इनकी संख्या आठ से ग्यारह हो गयी। अतः जहाँ हमें आठ रुद्रों का उल्लेख मिलता है वहीं ग्यारह रुद्रों का भी वर्णन प्राप्त होता है।<sup>८</sup> शिव को एकादश रुद्रों का उत्पत्तिकर्ता कहा गया है।<sup>९</sup> एक स्थल पर 'शतरुद्र' का भी उल्लेख हुआ है।<sup>१०</sup>

<sup>१</sup> वायु०, अध्याय ३०

<sup>२</sup> तत्रैव, अध्याय ५४

<sup>३</sup> तत्रैव, अध्याय ५५

<sup>४</sup> तत्रैव, ९२/२४-५८

<sup>५</sup> तत्रैव, ४१/३२-६; ४०/२४-२५; ४०/२१-३; ३०/८९; ६९/२४२; ५६/७०/७-८; २४/१०९; ३०/३१७; ५५/६५-८; ६९/१७५; ६९/१७३; ९२/६८; २१/७१; ४१/१-८; ३०/३११; ४०/२६, आदि।

<sup>६</sup> तत्रैव, ९/८०; १०/५३

<sup>७</sup> तत्रैव, २७/४-१७

<sup>८</sup> तत्रैव, ९/७५-८२

<sup>९</sup> तत्रैव, ५५/४०

<sup>१०</sup> तत्रैव, १०/५९

### शिव, तपस् और योग :

भगवान् शिव के तप एवं योग तथा ध्यानी योगियों द्वारा रुद्र—लोक गमन का उल्लेख अनगिनत स्थलों पर देखने को मिलता है।<sup>१</sup> संक्षेप में योगियों के आश्रयदाता, आराध्य देव शिव ही हैं। योगी इन्हीं की कृपा से रुद्रलोक में गमन करता है; परब्रह्म को प्राप्त करता है, सिद्धि को प्राप्त करता है क्योंकि शिव ऐश्वर्य और योग—प्रभाव से सर्वान्तर्यामी हैं, योगबल से ही स्थावर, जंगम और समस्तभूतों की सृष्टि करते हैं। बड़े—बड़े ऋषि—मुनियों ने इन्हें अपने कठोर तप से प्रसन्न किया है। उमा ने भी कठोर तपोबल से इन्हें पतिरूप में वरण किया था। अध्याय दस से पन्द्रह में माहेश्वर—योग (पाशुपत योग) तथा उसके पञ्चधर्मों—प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारण और स्मरण का सविस्तार वर्णन है। स्वयं शिव द्वारा दुर्गम तप किये जाने का भी उल्लेख है। इसके अतिरिक्त यहाँ शिव—वाहन नन्दीश्वर का भी स्पष्ट संकेत मिलता है।<sup>२</sup>

निष्कर्षतः उपर्युक्त समस्त उद्धरण शिव और शैव धर्म की अतिशय महत्ता को प्रतिपादित करते हैं।

### विष्णु और वैष्णव—धर्म

प्रकृत पुराण में विष्णु को शिव के बाद दूसरा सर्वाधिक प्रतिष्ठित देवता माना गया है। यद्यपि यह पुराण मुख्यरूप से शिव—माहात्म्यपरक ग्रन्थ है तथापि यहाँ ऐसे अनेक अंश मिलते हैं जो विष्णु को प्रधान देवता की कोटि में प्रतिष्ठित करते हैं। पुराण का आरम्भ ही

<sup>१</sup> वायु० २३/९५—७; २३/६६—७; २४/६५—६, ३०/२५६, २४/११५, १७/८१, ७७/१०२; ७७/२०, ९७/१६२....., ३०/२२४; ३०/२९३—५; ९७/१०५....., ४१/३१, ७२/७—११, २३/१६३—४; २३/१५९—६१, २३/१६९—७०, ४७/३६; २४/१५१; २३/१४०—२; २३/२०९—१३; २२; २३/१५५—७, ६६/१४५, २४/३९; ५/१०—१२; २३/११—३, ३४/४१—४; २३/९८—९; १/७; १२/३८; २३/७०; ३०/२९३—५; १२/३२; १०/७०—६ इत्यादि।

<sup>२</sup> तत्रैव, ३०/९१, ६६/७६, ९७/५१, १०१—२७८

नारायण—स्तवन से हुआ है।<sup>१</sup> अन्यत्र त्रिभुवनपति नारायण विष्णु को एकमात्र साधनीय कहकर इनकी श्रेष्ठता को व्यक्त किया गया है।<sup>२</sup> गया—माहात्म्य सम्बन्धी अध्याय (१०५—११२) तो विष्णु की महत्ता से ही परिपूर्ण हैं। दक्ष—यज्ञ में बहुत वाद—विवाद के उपरान्त दक्ष विष्णु को ही सर्वोत्कृष्ट मानते हुए यज्ञ के आराध्य देवरूप में पूजा करते हैं।<sup>३</sup> अनेकत्र स्वतंत्र रूप में उपलब्ध उनकी स्तुतियाँ<sup>४</sup> उनकी श्रेष्ठता की ही परिचायक हैं।

### विष्णु, वासुदेवकृष्ण तथा नारायण का तादात्म्य

यहाँ विष्णु, वासुदेव कृष्ण तथा नारायण के बीच भी तादात्म्य प्रस्तुत किया गया है। सब में प्रविष्ट होने के कारण यह 'विष्णु'<sup>५</sup> तथा नरों का अयन होने से 'नारायण'<sup>६</sup> कहे गये हैं। विष्णु द्वारा वासुदेव कृष्ण रूप में अवतरित होने के विषय में उल्लिखित है कि भगवान् विष्णु ने कृष्ण रूप में सातवीं बार अवतार लिया था<sup>७</sup> तथा भगवान् नारायण मर्त्यलोक में विहार करने के लिए मनुष्य योनि में वासुदेव की तपस्या के फलस्वरूप देवकी के गर्भ से कृष्ण रूप में अवतरित हुए थे। वे अव्यक्तात्मा एवं समस्त चराचर सृष्टि के विधायक हैं। उन्हें नारायण रूप में सर्वशक्तिमान हरि, प्रजापति ब्रह्मा के सृष्टिकर्ता, यादवनन्दन कृष्ण, अदिति—पुत्र रूप में विष्णु एवं इन्द्र का अनुज 'उपेन्द्र' भी कहा गया है।<sup>८</sup>

<sup>१</sup> वायु०, १/१

<sup>२</sup> तत्रैव, २३/१०३

<sup>३</sup> एतन्मश्वेशाय सुवर्णपात्रे हविः समस्तं विधिमन्त्रपूतम्।  
विष्णोर्नयाम्यप्रतिमस्य सर्वं प्रभोर्विभेदाहवनीयनित्यम्॥ तत्रैव, ३०/१०७

<sup>४</sup> तत्रैव, १०६/१०—११, १०८/८८—९०; १०९/२७—३१ आदि।

<sup>५</sup> तत्रैव, ५/३६, ६६/१३७

<sup>६</sup> तत्रैव, ५/३०

नारायण सम्बन्धी विशिष्ट तथ्यों के सूचक स्थल : ९८/७१, ७/६९, ६/५, ७/६५, १/२०४, ७०/६, ६९/४३, ४१/६३, २४/२१, ६/३, ७/६३, ६९, ७१ इत्यादि। कतिपय स्थलों पर नारायण और ब्रह्मा के बीच ऐक्य भाव को प्रदर्शित किया गया है : २४/२१, ६/३, ७/६३, ६९, ७१।

<sup>७</sup> तत्रैव, ९६/१७४

<sup>८</sup> तत्रैव, ९६/१९२—१९६



### विष्णु और शिव का पारस्परिक सम्बन्ध

शिव—स्तुति में शिव के लिए उक्त विष्णु<sup>१</sup> नर—नारायण<sup>२</sup> तथा प्रलयकाल में सबके रक्षक<sup>३</sup> विशेषण विष्णु और शिव की अभिन्नता को प्रकट करते हैं। रुद्र और विष्णु की परस्पर प्रीति का कारण मेघवाहन नामक कल्प बताया गया है जिसमें विष्णु ने मेघ के रूप में चर्मवसनधारी महेश्वर को दिव्य सहस्र वर्ष तक धारण किया था।<sup>४</sup> जब विष्णु शिव से वरदान में भक्ति माँगते हैं तो इससे तुष्ट होकर शिव कहते हैं कि, “व्यक्त, अव्यक्त, स्थावर, जंगम यह जो कुछ भी परिदृश्यमान् जगत् है वह सारा का सारा रुद्र—नारायण में है। x x x आपको जप से संतुष्ट कर आपकी प्रीति से भक्तजन मेरे अन्दर प्रवेश करते हैं। x x x आपका श्रीवत्सलांछन वाम पार्श्व में हूँ और मेरे श्यामल दक्षिणार्ध आप हैं, इसी से लोग मुझे नील लोहित कहते हैं”<sup>५</sup> इत्यादि अंश दोनों के तादात्म्य या अविभाज्य सम्बन्धों तथा परस्पर प्रीति के सूचक हैं।

### आदित्य और विष्णु :

जब लोक—पितामह विभिन्न देवों को आधिपत्य पद पर प्रतिष्ठित कर रहे थे उस समय विष्णु को आदित्यों के राज्यपद पर अभिषिक्त किया गया था।<sup>६</sup> ‘देव दिवाकर’ ही विश्वेश, लोककर्ता, सहस्रांशु, प्रजापति, सम्पूर्ण लोकों के धारणकर्ता, प्रभु और विष्णु हैं”<sup>७</sup> यह पंक्ति इन दोनों के घनिष्ठ सम्बन्ध की द्योतक है।

<sup>१</sup> वायु०, ५४/६८

<sup>२</sup> तत्रैव ५४/७५

<sup>३</sup> तत्रैव, ५४/९८

<sup>४</sup> तत्रैव, २१/५०—५१

<sup>५</sup> तत्रैव, २५/२१—२६

<sup>६</sup> तत्रैव, ७०/५

<sup>७</sup> तत्रैव, ५१/५८

### परमपद :

सप्तर्षि मण्डल के ऊपर ध्रुव तक विष्णु पद कहा गया है। इस विष्णु पद के विषय में विवेचित है कि यह आकाश में दिव्य, और प्रकाशमान तीसरा पदार्थ है। यहाँ जाने पर किसी को कोई चिन्ता नहीं सताती। लोक—साधक ध्रुव आदि इसी विष्णु पद के सहारे टिके हुए हैं।<sup>१</sup> यहाँ वैदिक परम्परा का प्रभाव अवलोकनीय है। इसके अतिरिक्त विष्णु के त्रिपद या तीन पगों का भी यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है।<sup>२</sup>

### शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी विष्णु :

एकाग्रव में (जल में) शयनकर्ता विष्णु को इन चिह्नों से युक्त कहा गया है।<sup>३</sup> निषध के उत्तर में जातुधि नामक देवपर्वत पर निवासित सौ सिरों वाले 'चण्ड' नामक भयंकर नागपति के मस्तक को विष्णु चक्र से चिह्नित बताया गया है।<sup>४</sup> विष्णु के चक्र का निर्माण सूर्य के खरादे हुए तेजोमय रूप से कहा गया है।<sup>५</sup>

### विष्णु—भक्त :

विष्णुवंश—वर्णन तथा गया—माहात्म्य के अन्तर्गत विष्णु—भक्तों, उनसे संबद्ध तीर्थ—स्थलों, वहाँ किये गये दान, स्नानादि से प्राप्त लाभ इत्यादि का वर्णन प्राप्त होता है। पृथुलाश्व—पुत्र 'चम्प' की नगरी के जनवासियों को विष्णु भक्त कहा गया है।<sup>६</sup> पश्चिमाचल निषध के मध्य शिखर पर विष्णु का देदीप्यमान मन्दिर बताया गया है जो सिद्ध ऋषियों से सेवित और यक्ष, अप्सरा, गन्धर्व आदि से व्याप्त हैं।<sup>७</sup>

<sup>१</sup> वायु०, ५०/२२३

<sup>२</sup> तत्रैव, ६६/१३५—१३६, ९७/१४, ७७

<sup>३</sup> तत्रैव, २४/९; ५५/१२

<sup>४</sup> तत्रैव, ४१/७३

<sup>५</sup> तत्रैव, ८४/८३

<sup>६</sup> तत्रैव, ९९/१०५—७

<sup>७</sup> तत्रैव, ४१/४८—४९

### अवतार—विवेचन :

पृथ्वी पर धर्म की व्यवस्था एवं असुरों के विनाशार्थ भगवान् विष्णु मनुष्य योनि में अवतरित हुए थे।<sup>१</sup> जब युगधर्म या यज्ञादि का ह्रास होने लगता है, उसके प्रभाव शिथिल हो जाते हैं उस समय भृगु के शापवशात् ('यतः धर्म की महत्ता को भलीभाँति जानते हुएभी तुमने एक अबला की हत्या की, अतः तुम सात बार<sup>२</sup> मनुष्य लोक में जन्म धारण कर वहाँ निवास करोगे।')<sup>३</sup> देवासुरों के संघर्ष की शान्ति एवं धर्म की व्यवस्था के लिए तथा अधर्म के नाश के लिए भगवान् विष्णु मृत्युलोक में मानव योनि में अवतीर्ण होते हैं।<sup>४</sup> वाराहकल्प में (देवासुर—संग्राम की घटना घटित होने पर) बारह युद्धों<sup>५</sup> का यहाँ नामपूर्वक उल्लेख हुआ है; जैसे—

<u>युद्ध नाम</u>	<u>विवरण</u>
१. नरसिंह	: हिरण्यकशिपु की मृत्यु ।
२. वामन	: बलि को बाँधा गया, हिरण्याक्ष का निधन ।
३. वराह	: पृथ्वी का उद्धार ।
४. अमृतमंथन	: देवराज इन्द्र द्वारा दैत्यराज प्रह्लाद की पराजय ।
५. तारकामय	: इन्द्र द्वारा विरोचन का संहार ।
६. आडीवक	: इन्द्र के शरीर में प्रविष्ट विष्णु द्वारा विरोचन का वध ।
७. त्रिपुरदहन	: त्र्यम्बक शिव द्वारा त्रिपुर विध्वंस एवं दानवों का संहार ।
८. अन्धकार	: विष्णु की सहायता से शिव द्वारा अन्धकार स्वरूप दानवों, असुरों एवं राक्षसों का नाश।

<sup>१</sup> वायु०, ९६/२३२

<sup>२</sup> तत्रैव, ६६/१३६, ९७/१४१; ९८/८७ (सात बार) ९७/६४ (सप्त सप्तति—७७ अवतार कहे गये हैं) ।

<sup>३</sup> तत्रैव, ९७/१४१

<sup>४</sup> तत्रैव ९७/६५—६६; ९८/६८—६९

<sup>५</sup> तत्रैव, ९७/७१—८६

९. ध्वज : महेन्द्र द्वारा विप्रचित्ति के रथ के ध्वज का क्षय तथा दानवों, असुरों, राक्षसों का संहार ।
१०. वार्त : —
११. हालाहल : —
१२. कोलाहल : रजि द्वारा असुरों की पराजय ।

इस प्रकार प्राचीन काल में बारह घोर युद्ध हुए थे जिनमें देवताओं ने भिन्न-भिन्न उपायों से प्रमुख —प्रमुख दैत्यों का संहार किया था।<sup>१</sup> इन समरों में देवताओं, असुरों तथा प्रजावर्ग का पर्याप्त अमंगल हुआ था।<sup>२</sup> भगवान् विष्णु द्वारा गृहीत विशिष्ट अवतारों की यहाँ एक तालिका मिलती है, जो कि इस प्रकार है—

### अवतार

### विवरण

- |                                   |  |
|-----------------------------------|--|
| १. नारायण (९८/७०—७३)              | असुरों के विनाश एवं धर्म—रक्षार्थ (चाक्षुष मन्वन्तर) ।   |
| २. नरसिंह (९८/७३)                 | दैत्यराज हिरण्यकशिपु के वधार्थ ।   |
| ३. वामन (९८/७४—८६)                | दैत्यराज बलि के बन्धनार्थ (सातवें त्रेतायुग में) ।   |
| ४. दत्तात्रेय (९८/८८)             | क्षीण धर्म का पुनरुत्थान (दसवें त्रेतायुग में, मार्कण्डेय के साथ दत्तात्रेय के रूप में उत्पन्न हुए थे) । |
| ५. मान्धाता (९८/८९)               | पन्द्रहवें त्रेतायुग में चक्रवर्ती सम्राट् मान्धाता के शासनकाल में तथ्य समेत अवतरित हुए ।                |
| ६. जामदग्न्य (परशुराम)<br>(९८/९०) | क्षत्रियकुल संहारक (१९वें त्रेतायुग में, विश्वामित्र के साथ अवतरित हुए ।                                 |
| ७. रामचन्द्र (९८/९१)              | २४ वें त्रेतायुग में वसिष्ठ के साथ, रावण के विनाशार्थ अवतरण हुआ ।  |
| ८. वेदव्यास (९८/९२)               | २८वें द्वापरयुग में जातूकर्ण के साथ, वेद—विस्तारार्थ अवतरित हुए ।  |

<sup>१</sup> वायु० ९७/१०४

<sup>२</sup> तत्रैव, ९७/८७

९. कृष्ण (वासुदेव) कंसवधार्थ, ब्रह्मा और गार्ग्य के साथ अवतरण हुआ।  
(९८/९३-१०३)

१०. कल्कि म्लेच्छ और दस्युओं के विनाशार्थ अवतरित।  
(९८/१०३-१०९, ११७)

उपर्युक्त अवतारों में से प्रथम तीन सम्भूतियों को कल्याणदायिनी एवं देवयोनि में तथा शेष सात को मनुष्य योनि में सम्भूत कहा गया है।<sup>१</sup> इन दसों अवतारों तथा इनसे सम्बन्धित कथानक का यत्र-तत्र भी संकेत मिलता है।<sup>२</sup> जिस समय, शरीर तथा कारण से भगवान् ने अवतार लिया वे सब यह स्पष्ट करते हैं कि भगवान् विष्णु ने उन-उन योनियों में अंशावतार रूप में जन्म धारण किया था।<sup>३</sup> भगवान् विष्णु के पूर्व जन्म में परम बलशाली प्रमिति के रूप में वर्तमान रहने तथा देवांशभूत होकर मनुष्य योनि में जन्म धारण करने का भी स्पष्ट संकेत मिलता है।<sup>४</sup> यहीं पर प्रमिति को विष्णु के अंश से उत्पन्न कहा गया है।<sup>५</sup> इसके अतिरिक्त ब्रह्मा के 'वाराहवतार' का भी यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है, जिसमें उन्होंने 'वाराह' (सूकर) का रूप धारण कर पृथ्वी का उद्धार किया था।<sup>६</sup> यह उल्लेख परम्परा के विपरीत है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि यहाँ पर विष्णु का जो चित्र मिलता है वह विष्णु की वैदिक स्थिति में परिवर्तन का द्योतक है। वैसे विष्णु से सम्बन्धित वैदिक उद्धरण यहाँ अल्प नहीं है। ऋग्वेद में जो विष्णु गौण देव की कोटि में रखे गये, वही यहाँ (कुछ स्थलों को छोड़कर) प्रधान देवता की कोटि में विराजमान है। केवल शिव ही इनके समकक्ष रखे गये हैं।

<sup>१</sup> वायु० ९८/८७

<sup>२</sup> तत्रैव, नरसिंह—९७/१७, ७३, ७७; वामन—५५/३; ९७/१४, ७३, ७७; ६६/१३६; ९९/२६; दत्तात्रेय—७०/७७; कृष्ण ९६/२३२, १/१४८—५०; ९७/१, ८; कल्कि ९९/३९६ इत्यादि।

<sup>३</sup> तत्रैव, ९८/११२

<sup>४</sup> तत्रैव, ९८/११०

<sup>५</sup> तत्रैव, ९७/७६

<sup>६</sup> तत्रैव, १/५६, ६/७—२४, ८/५—७, ४८/४०, ९७/१६, ७४, ७९

इतना ही नहीं, नारायण और कृष्ण से इनका तादात्म्य स्थापित कर वैष्णव धर्म को उन्नततर करने का प्रयास भी किया गया है।

### शक्ति तथा शाक्त धर्म

पौराणिक वाङ्मय में विद्यमान शाक्त—धर्म सम्बन्धी विचारधारा द्वारा शक्ति—उपासना की प्राचीनता एवं महत्ता परिलक्षित होती है। इनकी प्राचीनता के सन्दर्भ में वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध अदिति, उषा, सरस्वती, पृथिवी और वाक् के मंत्रों से तथा हड़प्पा, मोहनजोदड़ो और तत्कालीन अन्य संस्कृतियों को भी उद्धृत किया जा सकता है जहाँ मातृदेवी की पूजा का साक्ष्य मिलता है। अध्येय पुराण में शैव, वैष्णव आदि धर्मों के साथ उपलब्ध शक्ति के विविध नाम, रूप, प्रादुर्भाव सम्बन्धी उद्धरण शाक्त—धर्म के प्रति अपनी आस्था को व्यक्त करते हैं। शक्ति की पौराणिक महत्ता भद्रकाली—स्तव के अन्त में वर्णित है। वहाँ कहा गया है कि “जो व्यक्ति इस स्तव को पढ़ते हैं उनका कभी पराभव नहीं होता। यह रक्षा—कवच है जो विभिन्न आपत् कालों में सभी की रक्षा करता है।”<sup>१</sup>

### आविर्भाव :

शक्ति के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में यहाँ कई तथ्य मिलते हैं। एक स्थान उल्लिखित है कि कंस ने जिसे कन्या समझकर छोड़ दिया था, वस्तुतः वह ही एकादशा शक्ति थी और इसका आविर्भाव कृष्ण की रक्षा के लिए हुआ था। अन्यत्र ब्रह्मा के दक्षिणार्द्ध से शुक्लवर्णा और वामार्ध से कृष्णवर्णा शंकरार्द्ध शरीरिणी एक महाभागा देवी के प्रादुर्भाव का उल्लेख मिलता है।<sup>२</sup> दक्ष—यज्ञ—प्रसंग में उमा के क्रोध से भद्रकाली की उत्पत्ति कही गयी है।<sup>३</sup> शिव

<sup>१</sup> वायु० १/९४—९७

<sup>२</sup> तत्रैव, ९/८२—८३

<sup>३</sup> तत्रैव, ३०/१४०, १६५

स्तुति के अन्तर्गत विभिन्न देवियों को शिव से उत्पन्न कहा गया है।<sup>१</sup> एक स्थल पर महादेवी की 'प्रजा' और 'श्री' इन मूल मूर्तियों से हजारों मूर्तियों के समुद्भूत होने का उल्लेख है।<sup>२</sup>

### विविध नामावली :

भद्रकाली—स्तव तथा महेश्वर के मुख से उत्पन्न विचित्र गाय के वर्णन—प्रसंग में देवी के विविध नामों का उल्लेख हुआ है; जैसे— स्वाहा, स्वधा, महाविद्या, मेधा, लक्ष्मी, सरस्वती, अपर्णा, पाटला, उमा, हैमवती, षष्ठी, कल्याणी, ख्याति, प्रजा, महाभागा, गौरी, प्रकृति, नियता, रौद्री, दुर्गा, भद्रा, प्रमाथिनी, कालरात्रि, महारात्रि, महामाया, रेवती, भूतनायिका।<sup>३</sup> द्वापरयुग में देवी इन नामों से विख्यात हुई; गौतमी, कौशिकी, आर्या, चण्डी, कात्यायनी, सती, कुमारी, यादवी, देवी, वरदा, कृष्णा, पिंगला, बर्हिर्ध्वजा, शूलधरा, परमब्रह्मचारिणी, माहेन्द्री, इन्द्रभगिनी, वृषकन्या, एकवाससी, अपराजिता, बहुभुजा, प्रगल्भा, सिंहवाहिनी, एकानंशा, दैत्यहनी, माया, महिषमर्दिनी, अमोघा, विन्ध्यनिलया, विक्रान्ता और गणनायिका<sup>४</sup>। स्मृति, बुद्धि, मति<sup>५</sup>, रुद्राणी,<sup>६</sup> सरस्वती,<sup>७</sup> सावित्री<sup>८</sup> नामों का भी उल्लेख हुआ है। उपर्युक्त नामावली द्वारा शक्ति का अन्य देवताओं से सम्बन्ध, अधिष्ठान, वाहन, शत्रु, अस्त्र—शस्त्र आदि का अस्पष्ट संकेत हुआ है।

### नवदुर्गा :

वायुपुर—वर्णन—प्रसंग में 'नवदुर्गा' का उल्लेख हुआ है। वहाँ कहा गया है कि

<sup>१</sup> उमा सीता सिनीवाली कूहूयतिरेव च ? लक्ष्मी कीर्तिर्धृतिर्मैधा लज्जा क्षान्तिर्वपुः स्वधा ॥

तुष्टिः पुष्टिः क्रिया चैव वाचां देवी सरस्वती । त्वत्तः प्रसूता देवेश सन्ध्या रात्रिस्तथैव च ॥ वायु०, ५५/४२—४३

<sup>२</sup> तत्रैव, ९/९८

<sup>३</sup> तत्रैव ९/८५—८९

<sup>४</sup> तत्रैव, ९/८९—९३

<sup>५</sup> तत्रैव, २३/८

<sup>६</sup> तत्रैव, २३/१०

<sup>७</sup> तत्रैव, २३/३८

<sup>८</sup> तत्रैव, २३/९९

‘नवदुर्गा’ उस पावन क्षेत्र की रक्षा करती है। इन नवदुर्गाओं में से दो विष्णु की, तीन रुद्र की और चार ब्रह्मा की कही गयी हैं।<sup>१</sup>

उपर्युक्त उपलब्ध उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि शक्ति की पौराणिक महत्ता अन्य देवों से कम नहीं है। यद्यपि त्रिदेवों की शक्ति इनमें सन्निहित है तथापि इनका अलग वैशिष्ट्य बताया गया है। इनका आविर्भाव असुरों के विनाशार्थ हुआ था। एक ही देवी में अनेक देवियों का समाहार शक्ति की व्यापकता का प्रतीक है।

### सूर्य तथा सौर धर्म

प्राचीन धार्मिक सम्प्रदायों में सौरधर्म का भी अपना एक विशेष महत्त्व है। वायुपुराण (अ० ५०—५३) में सूर्य के विस्तार, गति, रथ, घोड़े आदि का स्पष्ट एवं विस्तृत उल्लेख मिलता है। इन्हें ग्रहों में आदिग्रह कहा गया है।<sup>२</sup> इनकी उत्पत्ति चाक्षुष मन्वन्तर में विशाखा नक्षत्र में बतायी गयी है।<sup>३</sup> मनीषियों ने इन्हें ‘अग्नि’ कहकर तथा अग्नि की उत्पत्ति इनसे ही स्वीकृत कर<sup>४</sup> इनके उत्कर्ष को व्यक्त किया है। इनके तेजोमय रूप तथा चमकने वाले वर्ण के विषय में आख्यात है कि उनकी पत्नी ‘संज्ञा’ भी उसे सहन करने में असमर्थ थी तभी तो उन्होंने अपनी ही भाँति एक मृण्मयी छाया का निर्माण किया था।<sup>५</sup> उनके इस तेजोमय रूप का कारण स्यमन्तक मणि को माना गया है।<sup>६</sup>

### सौर—पूजा एवं प्रतिमा :

प्रकृत पुराण में शिव, विष्णु आदि के साथ—साथ सूर्य — पूजा का भी उल्लेख हुआ

<sup>१</sup> वायु०, ५९/१२३

<sup>२</sup> तत्रैव, ५३/१०४

<sup>३</sup> तत्रैव, ५३/१०४

<sup>४</sup> तत्रैव, ३१/३४, ३१/२९

<sup>५</sup> तत्रैव, ८४/३६, ३९

<sup>६</sup> तत्रैव, ९६/२२, २४, २७



है । इस विषय में यहाँ याज्ञवल्क्य<sup>१</sup> तथा शक्रजित<sup>२</sup> द्वारा सूर्य की आराधना का संकेत मिलता है। उन्होंने भगवान् सूर्य की तेजस्विनी प्रतिमा का एक मुहूर्त तक दर्शन किया था।<sup>३</sup> इसके अतिरिक्त गया प्रसंग में सूर्यमूर्ति के दर्शन, स्पर्श और पूजन को पितरों का मुक्तिदायक माना गया है।<sup>४</sup> मेरु पर्वत के वर्णन प्रसंग में किंशुवन की शोभा के निरूपण में उल्लिखित है कि वहाँ सूर्य का एक विशाल, देदीप्यमान भवन है, जहाँ प्रतिमास सूर्य उतरते हैं और सिद्धगण उन्हें नमस्कार करते हैं।<sup>५</sup>

### दयालु एवं दानशील :

सूर्यदेव यजुर्वेद के उत्पादक एवं स्यमन्तक मणि के प्रदाता है। ये दोनों रूप उनके दयालु एवं दानशील स्वभाव के सूचक हैं। याज्ञवल्क्य, गुरु वैशम्पायन के रुष्ट होने पर उनके सम्मुख वमन द्वारा रुधिर से भीगे यजुर्वेद का प्रत्यर्पण कर सूर्यदेव की आराधना करते हैं जिससे तुष्ट होकर सूर्य सम्पूर्ण यजुर्वेद को उन्हें प्रदान करते हैं।<sup>६</sup> इसी प्रकार शक्रजित द्वारा याचना किये जाने पर सूर्य उन्हें अपनी स्यमन्तक मणि दे देते हैं।<sup>७</sup>

### सूर्य—सन्तति<sup>८</sup> :

सूर्य के संज्ञा (सुरेणु) नामक पत्नी से प्रजापति मनु, यमराज, यमी (जुड़वा) तथा दो अश्विनीकुमार—नासत्य और दस्र तथा मृण्मयी छाया से श्रुतश्रवा (सावर्णि मनु); श्रुतकर्मा (शनैश्चर) की उत्पन्न हुई । ये ही सूर्य के देवरूप सात पुत्र कहे गये हैं।

<sup>१</sup> वायु०, ६१/२०

<sup>२</sup> तत्रैव, ९६/२२; ९६/२०— सूर्य को शक्रजित का प्राणवत् सखा कहा गया है।

<sup>३</sup> तत्रैव, ९६/२६

<sup>४</sup> तत्रैव, १०८/३६

<sup>५</sup> तत्रैव, ३८/३१—३२

<sup>६</sup> तत्रैव, ६१/२१

<sup>७</sup> तत्रैव, ९६/२७—२८

<sup>८</sup> अध्याय ८४ श्लोक २१—८६ में आख्यात आख्यान के अन्तर्गत सूर्य की सन्ततियों पर विशेष प्रकाश डाला गया है। कतिपय वाक्य संशय में डाल देने वाले हैं; जैसे सूर्य—पुत्री यमुना को यम की बहिन कहा है तथा ८४/८४ में इसे सावर्णि मनु तथा शनैश्चर की छोटी भगिनी कहा है।

### सूर्य के विविध पर्याय :

प्रकृत पुराण में सूर्य के विभिन्न पर्यायवाची : अंशुमान् (९६/९७); आदित्य (३१/३७, ८४/४९, ६३, ५३/५३, ५/४५, १२/३७, ६६/६६—६७); तारका (५३/५२); दिवाकर (५०/१००, ५१/१२, ५३/११७); नक्षत्र (५३/५०—५१) भानु (३१/३७); भास्कर (३१/३७); मार्तण्ड (८४/२६, २८—२९); रवि (५०/६०, १०१, १०२, १०५, १००/१४२); विवस्वान् (५३/१०४, ८४४/२९, ३२, ६६, ५९, ९६/२२...); वैवस्वत् (८४/८६); सविता (३१/३७, ५३/५४); सहस्रत्रांशु (३८/३२, ५०/१६६, ५१/१८) इत्यादि शब्दों का अनेकत्र उल्लेख हुआ है।

### सूर्य—माहात्म्य:

सूर्य के अपूर्व सामर्थ्य का यहाँ स्पष्ट उल्लेख मिलता है। सूर्य को समस्त जीवों के जीवन एवं योग—क्षेमकर्ता , कालों का विभागकर्ता , अग्नि, संवत्सर, काल , द्वादशात्मा प्रजापति , त्रिलोक का मूलकारण इत्यादि कहा गया है। चराचर का प्रवर्तक एवं निवर्तक इन्हे ही कहा गया है । इनके अभाव में कुछ भी सम्भव नहीं है। यही सब प्रकाशों के स्वामी कहे गये है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि विष्णु और शिव की भाँति सूर्य विषयक धारणा काफी हद तक वैदिक विचारधारा से प्रभावित है। सूर्य की महिमा भी अन्य देवों से कम नहीं है। यहाँ उनको ही सम्पूर्ण जगत् का कर्ता—धर्ता कहा गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि सूर्य के बिना यहाँ क्या, स्वर्ग में भी देवों का व्यावहारिक कार्य संभव नहीं है, भला इससे बढ़कर इनकी और क्या महिमा हो सकती है?

### वायुपुराणगत अन्य देवता

समीक्ष्य पुराण में प्रमुख देव शिव, विष्णु, शक्ति तथा सूर्य के अतिरिक्त और भी

अन्यानेक देवताओं का उल्लेख हुआ है; जैसे इन्द्र, वरुण, अग्नि, मरुत्, पर्जन्य, ब्रह्मा, सोम, अश्विन्, वृहस्पति, गन्धर्व, यक्ष आदि । वैदिक दृष्टि से प्रधान ये सभी देवता यद्यपि यहाँ पौराणिक देव ब्रह्मा, विष्णु, महेश की अपेक्षा निम्न स्तर पर आसीन हैं तथापि इनका महत्त्व कम नहीं है। इन पर भी वैदिक परम्परा का प्रभाव देखा जा सकता है। यहाँ इन सभी देवताओं के विभिन्न क्रिया—कलापों के साथ—साथ उनके रूप, गुण, स्वभाव आदि का भी उल्लेख हुआ है।

इन्द्र :

वैदिक देवताओं में प्रधान 'इन्द्र' का उल्लेख यहाँ कई प्रसंगों में मिलता है। इन्द्र के लिए प्रयुक्त वृत्रहा, वज्रधर, पुरन्दर, मधवन्, शक्रादि नाम इन्द्र—सम्बन्धी विभिन्न वैदिक आख्यानो का स्मरण कराते हैं । इनके रूप, क्रिया, कलापों आदि की ओर संकेत करते हुए इन्हें सहस्राक्ष, पुरन्दर, मधवन्, शृंगी, वज्रधारणकर्ता, सौ यज्ञों को पूर्ण करने वाला तथा व्यक्तिगत सैकड़ों गुण—समूहों से सम्पन्न, तेज, तप, बल, बुद्धि, शास्त्रीय ज्ञान में सभी प्राणियों से श्रेष्ठ तथा भूत, भविष्य और वर्तमान का स्वामी कहा गया है।<sup>१</sup> प्रह्लाद के अनन्तर इन्द्र ने त्रैलोक्य की रक्षा की और इस प्रकार दस युगों तक समस्त राष्ट्र निष्कण्टक रहा।<sup>२</sup>

इन्द्र से सम्बन्धित कतिपय आख्यानो का भी यहाँ उल्लेख हुआ है। 'इन्द्र ने पर्वतों के पक्ष काट डाले थे' इसका यहाँ संकेत मिलता है।<sup>३</sup> अन्यत्र आख्यात है कि इन्होंने अपने शत्रु, दिति के गर्भस्थ शिशु को सात भागों में काट डाला था। 'शत्रु—वध करने में कोई दोष नहीं'

<sup>१</sup> वायु० ६४/७—९

यहाँ यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत प्रसंग में इन्द्र और उसके पर्यायवाची शब्दों का बहुवचन में प्रयोग हुआ है जिससे इन्द्र की असंख्यता स्पष्ट है। असंख्य इन्द्रों का उल्लेख वैदिक और पौराणिक साहित्य में अनुपलब्ध है किन्तु पालि साहित्य में अस्सी—अस्सी हजार इन्द्रों तथा सहस्रों ब्रह्माओं का उल्लेख पाया जाता है। प्रकृतस्थल पर बौद्ध प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

<sup>२</sup> तत्रैव, ९७/९२

<sup>३</sup> तत्रैव, ४७/७७, ५७/३८

दिति ऐसा विचारकर उन्हें शाप देने के स्थान पर उसके मंगल की कामना करती है तथा अपने इन पुत्रों के लिए विभिन्न मण्डलों में स्थान की याचना करती है, जिसे इन्द्र स्वीकार कर लेते हैं।<sup>१</sup> कार्तिकेय—उत्पत्ति प्रसंग में भी इनका नाम उद्धृत है।<sup>२</sup>

इसी प्रकार देवासुर—संग्राम में शुक्राचार्य की माता का इन्द्र की सम्मति से विष्णु द्वारा सुदर्शन चक्र से संहार का तथा इन्द्र—पुत्री जयन्ती द्वारा शुक्राचार्य के तपोभंग का यहाँ विस्तृत विवेचन हुआ है।<sup>३</sup> प्राचीन काल में इन्द्र द्वारा वरुनी—पुत्रों के संहार का भी यहाँ उल्लेख है।<sup>४</sup> राजा रजि और इन्द्र को पुनः इन्द्र पद प्राप्ति जैसे कई आख्यानों को पुराणकार ने प्रस्तुत किया है।<sup>५</sup>

### स्कन्द (कार्तिकेय) :

ब्राह्मण देव—परिवार में महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी कार्तिकेय की उत्पत्ति का अध्याय ७२ में विस्तृत विवेचन हुआ है। भुवन—विन्यास के अन्तर्गत भी इस कथा की झांकी देखने को मिलती है।<sup>६</sup> अध्याय ५४ में वसिष्ठ द्वारा विभिन्न नामों से कार्तिकेय की स्तुति का उल्लेख है।<sup>७</sup> अन्यत्र स्कन्द ग्रह को विघ्नकारक कहा गया है।<sup>८</sup> ब्रह्मा द्वारा इन्हें राक्षस ग्रहों के स्वामी पद पर अभिषिक्त किया गया है।<sup>९</sup> शिवपुरी के चित्रण प्रसंग में कार्तिकेय की उपस्थिति का शोभाशाली वर्णन हुआ है। वहाँ इन्हें रक्त वस्त्रधारी, पराक्रमशाली, शिखि—वाहन इत्यादि कहा गया है।<sup>१०</sup> इनका निवास स्थान विशाख पर्वत पर बताया गया है।<sup>११</sup>

<sup>१</sup> वायु०, ६७/१३१—१३९

<sup>२</sup> तत्रैव, ७२/२१

<sup>३</sup> तत्रैव, अध्याय ९७—९८

<sup>४</sup> तत्रैव ६५/७८—८४

<sup>५</sup> तत्रैव, ९२/७५—९९

<sup>६</sup> तत्रैव, ४१/३७—४३

<sup>७</sup> तत्रैव, ५४/२२—२६

<sup>८</sup> तत्रैव, ६९/१८४—१९४

<sup>९</sup> तत्रैव, ८४/१३—१४

<sup>१०</sup> तत्रैव, १०१/२७९—८१

<sup>११</sup> तत्रैव, ३९/५५

### गणेश :

प्राचीन भारत के धार्मिक जीवन में गणेश का विशेष महत्व रहा है। कालान्तर में गणेश की पूजा पर आधारित एक पृथक् गाणपत्य सम्प्रदाय बन गया था। अध्येय पुराण में शैव सम्प्रदाय के अत्यन्त प्रमुख देवता 'गणेश' के जन्म और उनकी उपासना से सम्बन्धित विशेष प्रसंग प्राप्त नहीं होता। हाँ, दो स्थलों पर गाणपत्य पद और उसे प्राप्त करने वाले शिवभक्तों का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है; एक स्थल पर सुद्युम्न का स्त्रीरूप में परिवर्तन और महादेव के प्रसादस्वरूप गाणपत्य पद प्राप्त किये जाने<sup>१</sup> तथा एक अन्य स्थल पर शूद्र शिवभक्त के मदिरा त्याग देने की स्थिति में गाणपत्य पद प्राप्त किये जाने का उल्लेख मिलता है।<sup>२</sup>

विभिन्न वाद्य—यन्त्रों से गणेश्वर द्वारा महादेव की पूजा का उल्लेख है।<sup>३</sup> गया—माहात्म्य एवं श्राद्ध—प्रसंग में भी विघ्ननाशक—विनायक—गणेश उल्लेख है। गयासुर के ऊपर रखी शिला पर स्थित 'आदिपाल गिरि' के संदर्भ में उल्लिखित है कि वहाँ पर विघ्नों के विनाशक विघ्नेश्वर गणेश गजरूप धारण कर अवस्थित है। उनका दर्शन करने वाला विघ्नों से मुक्त होकर अपने पितरों को स्वर्ग पहुँचाता है।<sup>४</sup> गणेश पद में श्राद्ध करने वाला अपने पितरों को शिवलोक पहुँचाता है <sup>५</sup> इसके अतिरिक्त आदि गदाधर की विभिन्न देवी—देवताओं के साथ विनायक रूप में भी उपस्थिति इत्यादि का यहाँ स्पष्ट उल्लेख मिलता है।<sup>६</sup>

### मरुतु :

इनकी उत्पत्ति कश्यप पत्नी दिति से मानी गई है जिसे इन्द्र ने शत्रु भयवशात् गर्भ में

<sup>१</sup> वायु०, ८५/२८

<sup>२</sup> तत्रैव, १०१/३५१-५

<sup>३</sup> तत्रैव, ४०/२४-२५

<sup>४</sup> तत्रैव, १०८/६५

<sup>५</sup> तत्रैव, ११/५६

<sup>६</sup> तत्रैव, १०९/२३

ही अपने सौ पर्वों वाले वज्र से सात भागों में विभक्त कर पुनः सातों के सात—सात भाग कर दिये थे।<sup>१</sup> बाद में यही इन्द्र के द्वारा 'मा रोदी' (मत रोओ) इस कथन के आधार पर 'मरुत्' इस नाम से विख्यात हुए। यहाँ इन (७ X ७ = ४९) सभी मरुद्गणों के नाम उद्धृत हैं। इन्हें स्वर्ग में सात स्थान प्राप्त हैं। सातों स्कन्धों में ये मरुत् नाम से विचरण करते हैं।<sup>२</sup> देवत्व रूप में इनकी प्रशंसा की गई है।<sup>३</sup> यहाँ इन मरुद्गणों द्वारा इन्द्र के अनुज रूप में अमरत्व प्राप्त किये जाने का भी उल्लेख है।<sup>४</sup> आधिपत्य वितरण प्रसंग में इनको अशरीरी भूतों एवं गन्धों का स्वामी बनाया गया<sup>५</sup> तथा इनका आधिपत्य वासव को सौंपा गया।<sup>६</sup>

### वरुण :

जल के स्वामी 'वरुण' देवता का उल्लेख यहाँ कई सन्दर्भों में हुआ है। आधिपत्य वितरण में वरुण को जल का स्वामित्व प्रदान कर 'अपां पतिः' की संज्ञा दी गई है।<sup>७</sup> भृगु गोत्र में उत्पन्न होने वाले वरुण—वंशीय कहे गये हैं।<sup>८</sup> बारह आदित्यों के अन्तर्गत इनकी गणना हुई है।<sup>९</sup> सूर्य के रथ को लक्षण में वरुण के रथ के सदृश कहा गया है।<sup>१०</sup> गन्धर्वों की मूर्च्छना के वर्णन—प्रसंग में 'अहिमूर्च्छना'का अधिदेवता वरुण को ही माना गया है क्योंकि सर्वप्रथम जलाधिप वरुण ने ही जलराशि में अवस्थित इस मूर्च्छना को देखा था।<sup>११</sup> ब्रह्मा के आत्मज—वर्णन प्रसंग में वरुण यज्ञ का उल्लेख है।<sup>१२</sup> इसके अतिरिक्त इनकी रमणीय

<sup>१</sup> वायु०, ६७/९५—१०४

<sup>२</sup> तत्रैव, ६७/१०५—१२९

<sup>३</sup> तत्रैव, ६७/१३३

<sup>४</sup> तत्रैव, ६७/१३४

<sup>५</sup> तत्रैव, ७०/११

<sup>६</sup> तत्रैव, ७०/५

<sup>७</sup> तत्रैव, ७०/७

<sup>८</sup> तत्रैव, ६५/३९

<sup>९</sup> तत्रैव, ६६/६६—६७

<sup>१०</sup> तत्रैव, ५१/५८

<sup>११</sup> तत्रैव, ८६/६१

<sup>१२</sup> तत्रैव, ६५/१८ आदि ।

सुखापुरी<sup>१</sup> तथा सती नामक महासभा<sup>२</sup> का भी संकेत मिलता है। पद्मोत्तर पद्म नामक गज को इनके वाहन गणों में से एक बताया गया है।<sup>३</sup>

### अग्नि :

अग्नि एक प्रतिष्ठित देवता है। विविध अनुष्ठानों के अधिष्ठाता होने के कारण इनके अनेक नामों एवं रूपों का निरूपण हुआ है। अध्येय पुराण में अग्नि को तमः प्रकाशक मानते हुए काल कहा गया है। इन्हें ब्रह्मा और विष्णु के समकक्ष रखते हुए कहा गया है कि यही तीनों लोक, तीनों गुण, तीनों वेद और तीनों अग्नियाँ हैं।<sup>४</sup> इन्हें देवों का मुख तथा देवों और ऋषियों द्वारा वन्दनीय, हवन द्वारा पूजित, ब्राह्मणों के अधिदेवता सम्पूर्ण तेजों की समष्टि, अनेक भागों को प्राप्त कर विभु रूप में वर्तमान कहा गया है।<sup>५</sup> यहाँ इनके भास्वर विमान तथा तेजोवती नामक महासभा का बड़ा ही मनोहारी चित्रण हुआ है।<sup>६</sup> अध्याय २९ में इनके वंश का सविस्तार वर्णन मिलता है। इन्हें हव्यवाहन कहा गया है।<sup>७</sup> पृथ्वी पर स्थित सभी भूतों के स्वामी होने के कारण इनको भूतपति भी कहा गया है।<sup>८</sup>

### वृहस्पति :

देव—पुरोहित 'वृहस्पति' सर्वत्र देवों के हितैषी रूप में निरूपित हुए हैं। एक स्थल पर इन्हें 'देवाचार्य' की उपाधि से विभूषित किया गया है।<sup>९</sup> ये देवों के पुरोहित एवं परम तेजस्वी हैं।<sup>१०</sup> देवासुर—संग्राम—प्रसंग में वृहस्पति द्वारा देवपक्ष में हवन किये जाने का वर्णन है।<sup>११</sup> एक

<sup>१</sup> वायु०, ५०/८९

<sup>२</sup> तत्रैव, ३४/८८

<sup>३</sup> तत्रैव, ६९/२१७

<sup>४</sup> तत्रैव, ५/१५—१७

<sup>५</sup> तत्रैव, ३४/८९—८४

<sup>६</sup> तत्रैव, ३३/७८—८१

<sup>७</sup> तत्रैव, २९/११

<sup>८</sup> तत्रैव, १०/२१

<sup>९</sup> तत्रैव, ७०/३३

<sup>१०</sup> तत्रैव, ९९/३७

<sup>११</sup> तत्रैव, ९७/१०६

अन्य देवासुर—संग्राम में इनके द्वारा असुरों और उनके गुरु शुक्राचार्य को ठगे जाने का वृत्तान्त भी यहाँ विस्तार से आख्यात है।<sup>१</sup> श्राद्धकल्प निरूपण में बृहस्पति और उनके पुत्र शंयु के बीच हुए संवाद का यहाँ वर्णन है।<sup>२</sup> इसके अतिरिक्त अशिज एवं ममता से उत्पन्न दीर्घतमा के उत्पत्ति—प्रसंग में आख्यात है कि बृहस्पति के शाप के कारण ही इनका दीर्घतमा (महान् अन्धकार) नाम विख्यात हुआ।<sup>३</sup> इनकी विदुषी कन्या 'देववर्णिनी' से उत्पन्न सन्तति का भी यहाँ उल्लेख है।<sup>४</sup> इनके 'राज्यपद' के विषय में विवेचित है कि अंगिरा के वंश में उत्पन्न समस्त प्रजाओं के राज्यपद पर इनको अभिषिक्त किया गया था।<sup>५</sup>

### सोम :

सोम औषधियों के पति<sup>६</sup> तथा समस्त द्विजातियों, वीरुधों, नक्षत्रों, ग्रहों, यक्षों एवं तपस्याओं के स्वामी कहे गये हैं।<sup>७</sup> चन्द्रमा के लिए सोम नाम उद्धृत कर दोनों में एकीकरण प्रस्तुत किया गया है।<sup>८</sup> दक्ष—यज्ञ में भाग लेने वाले देवगणों में इनका नाम उद्धृत है।<sup>९</sup> इनकी 'विभावरी' पुरी मेरु से उत्तर मानस के शिखर पर स्थित बताई गई है।<sup>१०</sup> पितृगण श्राद्ध के द्वारा आप्यायित होकर सोम को आप्यायमान करते हैं।<sup>११</sup>

### अश्विनौ :

ये युगल देवता हैं। ये दोनों मार्तण्ड के आठवें पुत्र कहे जाते हैं।<sup>१२</sup> इनके जन्म के

---

<sup>१</sup> वायु०, ९८/१५-३९

<sup>२</sup> तत्रैव, ९८/१५-३९

<sup>३</sup> तत्रैव, ९९/३६-४९

<sup>४</sup> तत्रैव, ७०/३३-४

<sup>५</sup> तत्रैव, ७०/४

<sup>६</sup> तत्रैव, ३१/३८

<sup>७</sup> तत्रैव, ७०/३

<sup>८</sup> तत्रैव, ७०/३ आदि।

<sup>९</sup> तत्रैव, ३०/१००

<sup>१०</sup> तत्रैव, ५०/९०

<sup>११</sup> तत्रैव, ७१/२९-३०

<sup>१२</sup> तत्रैव, ८४/७८



विषय में यहाँ आख्यात है कि जब अश्वरूप धारण कर मार्त्तण्ड वडवारूपधारिणी अपनी पत्नी संज्ञा के समक्ष काम—चेष्टा करते हैं तो परपुरुष की आशंका से संज्ञा सूर्य के वीर्य को अपनी नासिका के दोनों छिद्रों से बाहर गिरा देती है। फलस्वरूप इन अश्विन्—द्वय की उत्पत्ति होती है।<sup>१</sup> ये दोनों अश्विनीकुमार नासत्य और दस्र नाम से विख्यात हैं।<sup>२</sup> दक्ष—यज्ञ में भाग लेने वाले देवगणों में इनका भी नाम उद्धृत है। इनका भवन शैलेन्द्र सुमेध पर बताया गया है।<sup>३</sup> इन्हें कुशल वैद्य तथा दिव्य गुणसम्पन्न बताया गया है।<sup>४</sup>

### ब्रह्मा :

पौराणिक धर्म के प्रमुख आराध्य त्रिदेवों में ब्रह्मा का नाम सर्वत्र आख्यात है। रजोगुण प्रधान चतुर्मुख ब्रह्मा सम्पूर्ण चराचर जगत् के सृष्टिकर्ता हैं। ग्रन्थारम्भ में देवस्तुति के अन्तर्गत ब्रह्मा का स्तवन इनके महत्त्व को स्पष्ट कर देता है। इनके लिये 'पितामह' सम्बोधन इनके पुरातन स्वरूप का परिचायक है। अध्येय पुराण में इनसे सम्बन्धित अनेक विशिष्ट संदर्भ मिलते हैं; यही प्रथम शरीरधारी एवं सृष्टिकर्ता हैं।<sup>५</sup> इन्हें ही आदिकर्ता एवं प्रजापति कहा गया है।<sup>६</sup> वाराह अवतार का तादात्म्य ही इन्हीं से प्रदर्शित किया गया है।<sup>७</sup> अनगिनत स्थलों पर इन्हें चतुरानन, चतुर्मुख आदि शब्दों से अभिहित किया गया है।<sup>८</sup> इसके अतिरिक्त इनके लिये पद्मनाभि, पद्मजन्मा, पद्मांकित, पद्माक्ष, पद्मसंभव आदि भी नाम अंकित हैं।<sup>९</sup> विभिन्न आधिपत्यों पर नियुक्ति प्रजापति ब्रह्मा द्वारा ही हुई है।<sup>१०</sup> सरस्वती का प्रादुर्भाव इनसे ही माना

<sup>१</sup> वायु०, ८४/७५-७७

<sup>२</sup> तत्रैव, ८४/७७

<sup>३</sup> तत्रैव, ३०/१००

<sup>४</sup> तत्रैव, ८४/७७; ३०/८४

<sup>५</sup> तत्रैव, ५/२४-२५

<sup>६</sup> तत्रैव, २४/२१

<sup>७</sup> तत्रैव, ६/१०-२२

<sup>८</sup> तत्रैव, २३/१०९, २४/१४, ३४, २६/९, ३४/७०, ३९/४६, ६९/४३ इत्यादि।

<sup>९</sup> तत्रैव, २३/११३, २४/५९, २५/२९ इत्यादि।

<sup>१०</sup> तत्रैव, ७०/२, १९

गया है।<sup>१</sup> इनका निवास—स्थल हेमशृंग पर्वत पर बताया गया है।<sup>२</sup> ब्रह्मा के रात्रि—दिन का उल्लेख कई स्थलों पर हुआ है।<sup>३</sup> इतना ही नहीं इस पुराण को ब्रह्मोक्त भी कहा गया है।<sup>४</sup> नमस्करणीय देवताओं में सर्वप्रथम इनका ही नाम उक्त है।<sup>५</sup>

### त्रिदेव—समन्वय :

यद्यपि इस पुराण में महेश्वर को सर्वोच्च देव के रूप में स्थापित किया गया है तथापि कतिपय स्थलों पर तीनों ही देवताओं को सर्वोच्च शक्ति का प्रतिरूप मात्र कहकर इनकी एकता का प्रतिपादन किया गया है।<sup>६</sup> स्तुतियों के अन्तर्गत ब्रह्मा के लिए विष्णु, शिव जैसे विशेषण; विष्णु के लिए ब्रह्मा और शिव विशेषण तथा शिव के लिए ब्रह्मा, विष्णु विशेषण इनकी एकता के ही परिचायक हैं।

त्रिमूर्ति ब्रह्मा, विष्णु, महेश की एकता पर अध्याय—६६ में विस्तृत प्रकाश डाला गया है। वहाँ कथित है कि स्वयंभू परमात्मा, जो समय—समय पर जन्म लेता रहता है, उसे रजस्, तामस्, सात्विक कहा जाता है, इनमें भेद करना असम्भव है। इनमें से रजोगुणी ब्रह्मा सृष्टि, सात्विक विष्णु अनुग्रह तथा तमोगुणी रुद्र संहार करते हैं। स्वयंभू प्रभु के रूप, नाम और कर्म तीनों लोकों के अनुग्रह एवं निग्रह के पश्चात् लुप्त हो जाते हैं। वेद, धर्म, शास्त्र तथा प्राचीन सांख्य—योग में एक ही तत्त्व को स्वीकार किया गया है, जिसमें एकता के साथ—साथ अनेकता भी है। देश—काल, कारण और कार्य की दृष्टि से भिन्न—भिन्न कार्य करते हुए अपेक माने जाते हैं किन्तु तत्त्वतः उनमें कोई भेद नहीं है। जो व्यक्ति इनमें से किसी की निन्दा या प्रशंसा करता है वह सबकी निन्दा या प्रशंसा करता है। जो केवल एक पुरुष को इन

<sup>१</sup> वायु०, २३/३८

<sup>२</sup> तत्रैव, ३९/४६

<sup>३</sup> तत्रैव, ५८/११—११४, ६१/१४२, १००/१३१, १००/२१२ आदि।

<sup>४</sup> तत्रैव, १/११

<sup>५</sup> तत्रैव, १/९

<sup>६</sup> तत्रैव, १/१३२

सब रूपों में देखता है उसे ब्रह्मवादी कहा जाता है। स्वयंभू आत्मा एक ही है, वह तीन होकर प्रजा को भ्रमित कर देते हैं। भ्रान्तचित्त के कारण लोग इसमें भेद देखते हैं यथार्थ में ये तीनों देव अभिन्न रहते हैं। वह परमतत्त्व एक ही है। इसी को आत्मा, ऋषि, भगवान्, सर्वज्ञ, सर्व, नारायण हिरण्यगर्भ, प्रजापति, महादेव, ईश्वर इत्यादि नामों से पुकारते हैं। त्रिदेवों में से किसी एक की भी उपासना करता है तीनों की ही उपासना है।<sup>१</sup>

गन्धर्व :

अध्येय पुराण में गन्धर्वों को देवयोनि की कोटि में रखा गया है।<sup>२</sup> इनकी उत्पत्ति के विषय में आख्यात है कि इनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के तेज का पान करने से हुई। 'गन्धर्व' का व्युत्पत्तिपरक अर्थ करते हुए कहा गया है कि 'धे' धातु पानार्थक है और 'गा' धातु का अर्थ है 'तेज।' इस प्रकार तेज के पान करने से उनका 'गन्धर्व' नाम पड़ा।<sup>३</sup> गन्धर्वगण कश्यप मुनि की सन्तति कहे गये हैं।<sup>४</sup> चित्रसेन, उग्रसेन, ऊणायु, अनघ, धृतराष्ट्र, पुलोमा, सूर्यवर्चा, युगपत्, तृणपत्, कालि, दिति, चित्ररथ, भ्रमिशिरा, पर्जन्य, कलि और नारद ये सोलह मुनि—पुत्र देवगन्धर्व कहे गये हैं।<sup>५</sup> इससे पूर्व उल्लिखित है कि प्रवाही ने यज्ञ—क्षेत्र में इन गायक पुत्रों को उत्पन्न किया, जिन्हें देवताओं का गन्धर्व कहा गया है।<sup>६</sup> इनका विचरण—स्थल श्रीवन है।<sup>७</sup> चम्पक वन भी इनके द्वारा सदा सेवित बताया गया है।<sup>८</sup> इनके द्वारा उदुम्बरवन में रसीले फलों को खाये जाने का उल्लेख है।<sup>९</sup> ६९वें अध्याय में गन्धर्वों के रूप, गुण तथा उनकी

<sup>१</sup> वायु०, ६६/८७...

<sup>२</sup> तत्रैव, ६९/२०३; ९/४१

<sup>३</sup> तत्रैव, ९/३९—४०

<sup>४</sup> तत्रैव, ६१/१;८

<sup>५</sup> तत्रैव, ६९/१—३

<sup>६</sup> तत्रैव, ६७/३७—३९

<sup>७</sup> तत्रैव, ८७/१३

<sup>८</sup> तत्रैव, ३७/१३

<sup>९</sup> तत्रैव, ३७/१३

संततियों का भी उल्लेख हुआ है। इन्हें युद्धप्रेमी भी कहा गया है।<sup>१</sup> इनका वास मेरु पर्वत पर उल्लिखित है।<sup>२</sup>

गन्धर्व—पूजा का यहाँ स्पष्ट उल्लेख है। नैमिषारण्य में सम्पन्न होने वाले यज्ञ में ऋषियों द्वारा गन्धर्वों की पूजा तथा गन्धर्वों द्वारा साम—गान का उल्लेख है।<sup>३</sup> एक अन्य स्थल पर देवगन्धर्वों को परमयशस्वी एवं देवताओं की पूजा में निरत बताया गया है।<sup>४</sup> ब्रह्मा ने गन्धर्वों के आधिपत्य पद पर चित्ररथ को नियुक्त किया था।<sup>५</sup>

उपर्युक्त देवताओं के अतिरिक्त यहाँ और भी अनेकानेक गौण देवी—देवताओं और उनके क्रिया—कलापों का संकेत मिलता है जो वस्तुतः तत्कालीन लोक—देवता के रूप में जनमानस में प्रतिष्ठित थे। वस्तुतः लोकधर्म के व्यापक स्वरूप का यहाँ संक्षिप्त दर्शन होता है।

### नास्तिक सम्प्रदाय

#### बौद्ध एवं जैन धर्म :

अध्येय पुराण में शैव, वैष्णव, शाक्त आदि धर्मों के साथ—साथ बौद्ध एवं जैन धर्मों का भी वर्णन है लेकिन केवल सांकेतिक रूप में।

यहाँ इक्ष्वाकु —वंश के वर्णन—प्रसंग में शाक्य, शुद्धोदन और राहुल का उल्लेख है<sup>६</sup>, जो कि गौतम बुद्ध से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। शाक्य के पुत्र शुद्धोदन के पुत्र सिद्धार्थ (गौतम बुद्ध) और उनके पुत्र का नाम राहुल था। यहाँ वंशावली क्रम में सिद्धार्थ का नाम उल्लिखित नहीं है। यह एक प्रकार से उचित भी है क्योंकि सिद्धार्थ ने राज्य का परित्याग कर

<sup>१</sup> वायु०, ३९/५१—५२

<sup>२</sup> तत्रैव, ३४/५५

<sup>३</sup> तत्रैव, २/२८—३१

<sup>४</sup> तत्रैव, ६९/४२

<sup>५</sup> तत्रैव, ७०/९

<sup>६</sup> तत्रैव, ९९/२८८—२८९

दिया था और इस तरह शुद्धोदन के बाद राहुल ही राजपद पर अभिषिक्त हुआ था। किन्तु बौद्ध-परम्परा में बुद्ध के बालक राहुल को भी प्रब्रजित बताया गया है।

इसके अतिरिक्त भी यहाँ बौद्ध धर्म की झलक देखने को मिलती है, जैसे वैराजों के विषय में कहा गया है कि वे बुद्ध (बुद्धावस्थी) हो गये थे। इसके साथ ही उन्हें तपोनिष्ठ, ब्रह्मानन्द में लीन, सुखदुःखादि से परे तथा प्रभाव, विजय, ऐश्वर्य, स्थिति, वैराग्य, ज्ञानादि में ब्रह्मा के समान कहा गया है।<sup>१</sup> कलियुगीन भविष्यवाणी में यह आख्यात है कि उस समय न सुख होगा और न निर्वाण।<sup>२</sup> अन्यत्र भी निर्वाण का संकेत मिलता है—

“परिनिर्वाति शुद्धात्मा तथा वह्निर्निस्थितः” (वायु०, ७७/१३३)

शिव-स्तोत्रों में शिव के लिए ‘बुद्ध’ शब्द प्रयुक्त हैं।<sup>३</sup> यहाँ पर बौद्ध तीर्थों का स्पष्ट उल्लेख है।<sup>४</sup> गया-माहात्म्य के अन्तर्गत ‘महाबोधि वृक्ष’ को नमन बौद्ध-धर्म के प्रभाव का सूचक है क्योंकि यहीं पर बुद्ध को ज्ञान की प्राप्ति हुई थी।<sup>५</sup> कई स्थलों पर बौद्ध भिक्षुओं का स्पष्ट उल्लेख है। आश्रम-चतुष्टय वर्णन के अन्तर्गत स्वायंभुव द्वारा भिक्षुओं के मुख्य पाँच व्रतों तथा उपव्रतों का वर्णन है।<sup>६</sup> इसी प्रसंग में परिव्रज धर्म (संन्यासियों) का भी उल्लेख है। भिक्षुओं के अहिंसक होने का भी स्पष्ट संकेत है।<sup>७</sup> श्राद्धकल्प-निरूपण में ध्यानपरायण भिक्षुओं को ब्रह्मचारियों से अधिक महत्त्व दिया गया है। ये समस्त पंक्तियाँ भगवान् बुद्ध और उनके धर्म के महत्त्व को प्रकट करती हैं साथ ही पुराणकार की इस धर्म के प्रति सद्भावना को भी व्यक्त करती है।

<sup>१</sup> वायु०, १०१/८१-८५

<sup>२</sup> तत्रैव, ३२/२०

<sup>३</sup> तत्रैव, ३०/२१६; ९७/१७२, १७६

<sup>४</sup> तत्रैव, १०४/८२, ८८/२००; १११/२७-३०

<sup>५</sup> तत्रैव, १११/२७-३०

<sup>६</sup> तत्रैव, ८/१८४-१८८

<sup>७</sup> तत्रैव १६/१८

<sup>८</sup> तत्रैव, ७१/७१-७२

जैनधर्म के सम्बन्ध में वायुपुराण में स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलता किन्तु आजीवक सम्प्रदाय के सम्बन्ध में बहुत ही अस्पष्ट एवं भ्रामक वर्णन उपलब्ध है। वहाँ आजीवक अथवा आजीवकों के चैत्यवृक्षों और उनके पिशाच—देवताओं के उल्लेख से इनके प्रति वायुपुराण की तिरस्कारपूर्ण दृष्टि स्पष्ट है।<sup>१</sup> श्राद्ध संदर्भ में 'नग्नान्' का उल्लेख पुराणकार की उनके प्रति तिरस्कार की ही भावना का प्रतीक है।<sup>२</sup>

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि वायुपुराणकार के समय में जैनधर्म नितान्त हेय और अलोकप्रिय हो चला था, जबकि बौद्धधर्म के प्रति लोकमानस में यत्किञ्चित् आस्था बनी हुई थी। इस संदर्भ में प्रो० हाजरा का यह मत समीचीन ही जान पड़ता है;

“The contempt shown to these religious sects could be possible only when their religions were in a decadent state.”<sup>३</sup>

इस पुराण में उल्लिखित 'ध्यानी भिक्षु' शब्द महत्त्वपूर्ण है। यहाँ 'ध्यानीभिक्षुओं'<sup>४</sup> से जैन अथवा भिक्षुओं का ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि शैव अथवा ब्राह्मण संस्कृति में बौद्ध अथवा जैन भिक्षुओं का कोई स्थान नहीं है। अतः 'ध्यानीभिक्षु' से अभिप्राय शैव भिक्षुओं से लेना उचित होगा। इसी प्रसंग में वृषसला, यति, पाषण्ड जैसे अवैदिक सम्प्रदायों का भी सांकेतिक उल्लेख वायु में उपलब्ध होता है।<sup>५</sup>

### यज्ञ एवं याज्ञिक क्रियाएँ

विभिन्न कर्मकाण्डों में यज्ञों का प्रमुख स्थान है। हिन्दूशास्त्रों में सामूहिक उपासना के रूप में यज्ञ को ही प्रधानता दी गई है। यज्ञ शब्द 'यज्' धातु से 'याचयताविच्छप्रच्छरक्षोनङ्'<sup>६</sup>

<sup>१</sup> वायु०, ६९/२८४

<sup>२</sup> तत्रैव, ७८/२४-३३

<sup>३</sup> Hazara, Pauranic Records on Hindu Rits & Customs, p. 16.

<sup>४</sup> वायु०, ७९/७१-७२

<sup>५</sup> तत्रैव, ७८/२९-३० आदि।

<sup>६</sup> अष्टाध्यायी, ३/३/९०

सूत्र से नङ् प्रत्यय, ‘स्तोःश्चुना श्चुः’<sup>१</sup> से श्चुत्व और ‘जजोर्जः’ से ‘जः’ करने पर बनता है। यज् धातु ‘देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु’<sup>२</sup> के अनुसार तीन अर्थों में प्रयुक्त होती है—देवपूजा, सङ्गतिकरण तथा दान। साधारणतः यज्ञ में तीन वस्तुएँ मुख्य होती हैं—द्रव्य, देवता और त्याग। अतः यज्ञ का तात्पर्य है देवता के लिए द्रव्य का त्याग। दूसरे शब्दों में मनुष्यों के क्रमोन्नतिकारक धर्म सम्बन्धी—साधन को अथवा ईश्वर की प्रसन्नता के लिए किए जाने वाले कर्म को और जिसके द्वारा देवताओं का सम्बर्द्धन हो सके उसे ‘यज्ञ’ कहते हैं। वायुपुराण में पशु, हवनीय, द्रव्यपदार्थ, साम और यजुर्वेद के मंत्र, ऋत्विज और दक्षिणा—इन पाँचों के संयोग को यज्ञ कहा गया है।<sup>३</sup> त्रेतायुग में यज्ञ को ही मोक्षादि का एकमात्र साधन बताया गया है।<sup>४</sup> प्रकृत पुराण में यज्ञ—स्वरूप—निरूपण के साथ—साथ प्रसंगवश यज्ञोपयोगी विभिन्न उपकरणों का भी उल्लेख हुआ है।

### उद्देश्य :

याज्ञिक अनुष्ठान के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए इसे फलवान् बताया गया है।<sup>५</sup> गन्धर्वगणों द्वारा इसे उत्तमलोक की प्राप्ति का साधन बतलाया है।<sup>६</sup> याज्ञिक क्रियाओं को सम्पादित करने के बाद ही इन्द्र ने स्वर्गलोक,<sup>७</sup> पुरूरवा ने गन्धर्व—लोक<sup>८</sup> तथा मनु ने पुत्र की प्राप्ति की थी।<sup>९</sup> इस प्रकार यहाँ याज्ञिक अनुष्ठान को इहलौकिक तथा पारलौकिक दोनों ही

<sup>१</sup> अष्टाध्यायी, ८/४/४०

<sup>२</sup> तत्रैव, भ्वादिगण, पृ० ५०५

<sup>३</sup> वायु०, ५९/४२ (मत्स्य पुराण १४५.४४ में भी यज्ञ का यही लक्षण मिलता है)।

<sup>४</sup> तत्रैव, ३१/२१

<sup>५</sup> तत्रैव, १०/९१

<sup>६</sup> तत्रैव, ९९/४७

<sup>७</sup> तत्रैव, ४७/२७

<sup>८</sup> तत्रैव, ९९/४८

<sup>९</sup> तत्रैव, ८५/६

सुखों की प्राप्ति का साधन कहा गया है। त्रेतायुगीन चारों वर्णों के विशिष्ट यज्ञों का निर्देश करते हुए क्षत्रियों का उद्योग यज्ञ, वैश्यों का हवनीय यज्ञ, शूद्रों का तीनों श्रेष्ठ वर्णों की सेवा रूप यज्ञ तथा ब्राह्मणों का जप-यज्ञ प्रधान कहा गया है।<sup>१</sup>

### यज्ञ के अंग :

यज्ञ—वराह—चित्रण में विभिन्न यज्ञीय—उपादानों का उल्लेख हुआ है। इन यज्ञीय उपकरणों का प्रसंगवश अन्यत्र भी उल्लेख हुआ है; जैसे— चिति अथवा वेदी (६/१५, २९/२७, ४७/२७, ६५/८२); यज्ञशाला (२/१८—१९, ३०/१५०, २९/२४), यूप (६/१५, ३०/१४८, १६९, ४७/२७, १०६/४३—४४, ७७/६४, १११/३३, ७९/४८); यज्ञभूमि (३०/१५०, १६८, १०६/४४), पशु (५९/४२, ६/१७, १०४/८३, ५७/९७—१००, ५७/९२); अग्नि (६/१५, ३०/१६८, ३०/१७२, ५७/९५, ९१/४८—४९, १०६/४१—४२), हविष् (६/१९, १/३४—३६, १५—५११, ८०/५१, ८५/६, ५७/९७, ९९/२५३, १०६/४३), आज्य (६/१६, १८) यज्ञागार (३०/१४८, १५०), कुश (६/१५), यज्ञीय पात्र (३०/१४८, १५०); होम (६/१८); हव्य (६/१९), ऋत्विज (५७/४२, ६/१५, १८, २/६, ९०/२३, ५७/९३—९५, ९७, ६७/५५—५६, ५८); सदस्य (९०/२३); शामित्र (२/६—७); दीक्षा (६/१९); अवभृथ ( ९०/२६, १०६/४३); आचमन—क्रिया (१५/६, ९, १२); दक्षिणा (५९/४२, २/३६, ९०/२२, २४, १०५/७, १०६/४२, ११२/१); ब्रह्मा (६/१५, ९०/२३); वेद (६/१५, १९); वेदांग ( ६/१६); सामगान (२/३१, ६/१६); उद्गाता (६/१८, ९०/२३); महौषधियाँ (६/१८); मंत्र (६/१८, ५९/४२, ५७/९३); सोम (६/१८); प्राग्वंश (६/१९) उपनिषद् (६/२१) इत्यादि ।

<sup>१</sup> वायु०, ५७/५०



### प्रायश्चित्त :

शास्त्रों में विहित कर्म को न करने तथा निषिद्ध कर्मों को करने से उत्पन्न पाप के निवारणार्थ किये जाने वाले कर्म प्रायश्चित्त कर्म होते हैं। प्रकृत पुराण के अध्याय अठारह में यतियों के लिये कामकृत और अकामकृत दोनों ही प्रकार के पापों के निराकरणार्थ चांद्रायण आदि विभिन्न प्रायश्चित्तों का कथन हुआ है।<sup>१</sup> इसके अतिरिक्त प्रायश्चित्त शब्द का यत्र—तत्र भी निर्देश मिलता है; जैसे— नैमिषारण्य में सम्पादित सत्र को प्रायश्चित्त से रहित बताया गया है।<sup>२</sup> वाराह—अवतार—वर्णन में प्रायश्चित्त को उनका रथ कहा गया है।<sup>३</sup>

### यज्ञ—प्रथा का प्रचलन :

यज्ञ—प्रथा के विषय में यहाँ उल्लेख मिलता है कि स्वायम्भुव मन्वन्तर के त्रेतायुग के प्रारम्भकाल में इन्द्र ने वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था कर ऐहिक एवं पारलौकिक निःश्रेयस् की प्राप्ति के लिए मन्त्रों एवं संहिताओं का प्रचार कर एवं उनको तत्तत् कर्मों में नियन्त्रित कर सभी देवताओं के साथ सम्पूर्ण सामग्रियों एवं उपकरणों समेत यज्ञ की प्रथा प्रचलित की थी।<sup>४</sup> यहाँ स्वायम्भुव मन्वन्तर में ऋषियों और देवताओं के बीच यज्ञ — प्रथा प्रचलित होने के अवसर पर हुये विवाद का भी उल्लेख है।<sup>५</sup>

### यज्ञ और तप :

आलोच्य पुराण में मोक्ष को यज्ञ की अपेक्षा योग अथवा ध्यान द्वारा सुलभ बताया गया है। यज्ञ के विषय में आख्यात है कि अत्यन्त परिश्रम और बहुव्यय करने से यज्ञ सम्पन्न होता है; किन्तु उससे भी मृत्यु का निराकरण नहीं होता, इसलिए मोक्ष ही परम सुख

<sup>१</sup> वायु० १८/१-२३

<sup>२</sup> तत्रैव, २/३४

<sup>३</sup> तत्रैव, ६/१७

<sup>४</sup> तत्रैव ५७/९०-९१

<sup>५</sup> तत्रैव ५७/९७-१२०

है।<sup>१</sup> तप को यज्ञ की अपेक्षा श्रेष्ठतर मानते हुये कहा है कि प्रियव्रत, उत्तानपाद, ध्रुव, मेधातिथि, वसु, सुमेधा, विरजा, शंखपाद, रज, प्राचीनवर्हि, पर्जन्य एवं हविर्धान प्रभृति के नाम उद्धृत हैं जो तप के बल से सिद्धि प्राप्त कर स्वर्गगामी हो गये थे। यही नहीं, प्राचीन काल में ब्रह्मा ने अखिल जगत् की सृष्टि तप के द्वारा ही की थी।<sup>२</sup>

### पौराणिक मंत्र :

प्रकृत पुराण में श्राद्धकल्प तथा गयामाहात्म्य सम्बन्धी अध्यायों में पिण्डदान, अन्नदान, पुष्प, सुगन्धित, द्रव्य, धूपादि के दान, हवन करने तथा ज्ञाताज्ञात गोत्रीय व्यक्ति के तर्पण करने आदि विविध संदर्भों में पौराणिक मंत्रों का उल्लेख हुआ है। इन मंत्रों के साथ कतिपय गृह्य मंत्र भी हैं किन्तु उनकी प्रकृति पौराणिक ही है। यहाँ पर इन मंत्रों के विनियोग का विशेष फल भी बताया गया है, जैसे—

‘देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च ।

नमः स्वधायै स्वाहायै नित्यमेव भवन्त्युत ॥ (७४/१६)

इस मंत्र के माहात्म्य को बताते हुए कहा गया है कि यह एक मन्त्र समस्त पापों को दूर करने वाला, परम पवित्र तथा अश्वमेध यज्ञ की फलप्राप्ति कराने वाला है। यह अमृत—मंत्र है। इसकी रचना ब्रह्मा ने की थी। श्राद्ध के प्रारम्भ, अवसान तथा पिण्डदान के समय इस मंत्र का समाहित चित्त होकर तीन बार पाठ करना चाहिए। इससे पितरगण शीघ्र ही वहाँ आ जाते हैं और राक्षसगण तुरन्त वहाँ से पलायन कर जाते हैं।<sup>३</sup>

वायुपुराणागत अन्य पौराणिक मंत्र निम्नलिखित हैं—

१. अमूर्तानां समूर्तानां पितॄणां दीप्ततेजसाम् ।

<sup>१</sup> वायु०, १४/४

<sup>२</sup> तत्रैव, ५७/१२१—१२५

<sup>३</sup> तत्रैव, ५७/१२१—१२५

नमस्यामि सदा तेभ्यो ध्यानिभ्यो योगचक्षुषः ॥

X X X

पितृगणेभ्यः सप्तभ्यो नमो लोकेषु सप्तसु ।

स्वयंभुवे नमश्चैव ब्रह्मणे योगचक्षुषे ॥ (७४/२१-२७)

२. नमो वः पितरः शुष्मै । (७५/२६)
३. नमो वः पितरः सौम्यः । (७५/२७)
४. निहन्ति सर्वं यदमेध्यवद्भवेद्धताश्च सर्वेऽसुरदानवा मया ।  
रक्षांसि यक्षाश्च पिशाचसंघा हता मया यातुधानाश्च सर्वे ॥ (७५/४५)
५. अथ ते पितरो देवा देवाश्च पितरः पुनः । (७५/५३)
६. अग्नये कव्यवाहाय स्वधा अङ्गिरसे नमः ।  
सोमाय वै पितृमते स्वधा अङ्गिरसे नमः ॥  
यमाय चैवाङ्गिरसे स्वधा नामः ॥ (७५/५६)
७. पितृवंशे समुत्पन्ना मातृवंशे तथैव च ।  
गुरुश्चशुरबन्धूनां ये चान्ये बान्धवास्तथा ॥  
क्रियालोपगता ये चान्ये गर्भसंस्थिता ।  
तेभ्यो दत्तो मया पिण्डो ह्यक्षय्यमुपतिष्ठताम् ॥ (८३/३१-३३)
८. जन्मान्तरशतं साग्रं यत्कृतं दुष्कृतं मया ।  
तत्सर्वं विलयं यातु रामतीर्थाभिषेचनात् ॥ (१०८/१८)
९. राम राम महाबाहो देवानामभयंकर ।  
त्वां नमस्येऽत्र देवेश मम नश्यतु पातकम् ॥ (१०८/२०)
१०. आपस्त्वमसि देवेश ज्योतिषां पतिरेव च ।  
पापं नाशय मे देवो मनो वाक्कायकर्मजम् ॥ (१०८/२२)
११. यमराजधर्मराजौ निश्चलनार्थं व्यवस्थितौ ।  
ताभ्यां बलिं प्रयच्छामि पितृणां मुक्तिहेतवे ॥  
द्वौ श्वानौ श्यामशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ ।  
ताभ्यां बलिं प्रयच्छामि स्यातामेतावहिंसकौ ॥  
ऐन्द्रवारुणवायव्ययाम्यनैऋत्यसंस्थिताः ।  
वायसा प्रतिगृह्णन्तु भूमौ पिण्डं मयाऽर्पितम् ॥ (१०८/२९-३१, १११/३९-४१)

१२. यस्तु पिण्डो मया दत्तस्तव हस्ते जनार्दन ।

यदुद्दिश्य त्वया देवस्तस्मिन्पिण्डौ मृते प्रभो ॥

X X X

नमस्ते पुण्डरीकाक्ष ऋणत्रयविमोचक !

लक्ष्मीकान्त नमस्तेऽस्तु पितृणां मोक्षदो भव ॥ (१०८/८६-९०)

१३. कव्यवाहोऽनलः सोमो यमश्चैवार्यमा तथा ।

अग्निष्वस्ता बर्हिषदः सोमपाः पितृदेवताः ॥

तेषां पिण्डप्रदानार्थमागतोऽस्मि गयामिमाम् ।

ते सर्वे तृप्तिमायान्तु श्राद्धेनानेन शाश्वतीम् ॥ (११०/१०-१२)

१४. आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः ।

तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमातामहादयः ॥

X X X

मातामहस्तत्पिता च प्रमातामहाकादयः ।

तेषां पिण्डो मया दत्तो ह्यक्षय्यमुपतिष्ठताम् ॥ (११०/२१-२४)

१५. अस्मत्कुले मृता ये च गतिर्येषां न विद्यते ।

आवाहिष्ये तान्सर्वान्दर्भपृष्ठे तिलोदकैः ॥

X X X

बन्धुवर्गकुले ये च गतिर्येषां न विद्यते ।

आवाहयिष्ये तान्सर्वान्दर्भपृष्ठे तिलोदकैः ॥ (११०/३०-३२)

१६. अस्मत्कुले मृता ये च गतिर्येषां न विद्यते ।

तेषामुद्धरणार्थाय इमं पिण्डं ददाम्यहम् ॥

X X X

मित्राणि शिष्याः पशवश्च वृक्षा दृष्टा ह्यदृष्टाश्च कृतोपकाराः ।

जन्मान्तरे ये मम संगताश्च तेभ्यः स्वधा पिण्डमहं ददामि ॥ (११०/३४-५५)

१७. साक्षिणः सन्तु मे देवा ब्रह्मेशानादयस्तथा ॥

मया गयां समासाद्य पितृणां निष्कृतिः कृता ।

आगतोऽस्मि गयां देव पितृकार्ये गदाधर ।

त्वमेव साक्षी भगवन्ननृणोऽहमृणत्रयात् ॥ (११०/५९-६०)

१८. ये केचित्प्रेतरूपेण वर्तन्ते पितरो मम ।  
 ते सर्वे तृप्तिमायान्तु सक्तुभिस्तिलमिश्रितैः ॥  
 आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं यत्किञ्चित्सचराचरम् ॥  
 मया दत्तेन तोयेन तृप्तिमायान्तु सर्वशः ॥ (११०/६३-६४)
१९. उत्तरे मानसे स्नानं करोम्यात्मविशुद्धये ॥  
 सूर्यलोकादिसंसिद्धिसिद्धये पितृमुक्तये ॥ (१११/२-३)
२०. नमो भगवते भर्त्रे सोमभौमज्ञरूपिणे ।  
 जीवभार्गवसौरियराहुकेतुस्वरूपिणे ॥ (१११/५)
२१. दक्षिणे मानसे स्नानं करोम्यात्मविशुद्धये ॥ (१११/९)
२२. नमः शिवाय देवाय ईशाय पुरुषाय वै ।  
 अघोरखामदेवाय सद्योजाताय शंभवे ॥  
 फल्गुतीर्थे नरः स्नात्वा दृष्ट्वा देवं गदाधरम् ।  
 आत्मानं तारयेत्सद्यो दशपूर्वादिदशापरान् ॥  
 ओं नमो वासुदेवाय नमः संकर्षणाय च ॥  
 प्रद्युम्नाय निरुद्धाय श्रीधराय च विष्णवे ॥ (१११/१९-२१)
२३. प्रमाणं देवताः सन्तु लोकपालाश्च साक्षिणः ।  
 मयाऽऽगत्य मतङ्गेऽस्मिन्पितृणां निष्कृतिः कृता ॥ (१११/२६)
२४. नमस्ते ऽश्वत्थराजाय ब्रह्मविष्णुशिवात्मने ।  
 बोधिद्रुमाय कर्तृणां पितृणां तारणाय च ॥  
 X X X  
 ऋणत्रयं मया दत्तं गयामागत्य वृक्षराट् ।  
 त्वत्प्रसादान्महापापाद्विमुक्तोऽहं भवार्णवात् ॥ (१११/२८/३०)
२५. स्नानं करोमि तीर्थेऽस्मिन् ऋणत्रयविमुक्तये । (१११/३२)
२६. नमोऽस्तु ब्रह्मणेऽजाय जगज्जन्मादिरूपिणे ।  
 भक्तानां च पितृणां च तारकाय नमो नमः ॥ (१११/३५)
२७. आम्रं ब्रह्मसरोद्भूतं ब्रह्मदेवमयं तरुम् ।  
 विष्णुरूपं प्रसिञ्चामि पितृणां मुक्तिहेतवे ॥ (१११/३७)
२८. स्नानं करोमि सिद्धयर्थमक्षयं पदमाप्नुयाम् ॥ (१११/७७)

२९. एकार्णवे वटस्याग्रे यः शेते योगनिद्रया ।  
 बालरूपधरस्तस्मै नमस्ते योगशायिने ॥  
 संसारवृक्षशस्त्रायाशेषपापहराय च ।  
 अक्षयब्रह्मदात्रे च नमोऽक्षवटाय वै ॥  
 कलौ माहेश्वरा लोका येन तस्माद्गदाधरः ।  
 लिङ्गरूपोऽभवन्तं च वन्दे श्रीप्रपितामहम् ॥ (१११/८३-८५)
३०. ऊँ प्राणानां ग्रन्थिरस्यात्मा रुद्रो ह्यात्मा विशान्तकः ।  
 स रुद्रो ह्यात्मनः प्राणा एवमाप्याययेत्स्वयम् ।  
 त्वं देवानामपि ज्येष्ठ उग्रस्त्वं चतुरो वृषा ।  
 मृत्युघ्नोऽसि त्वमस्मभ्यं भद्रमेतद्भुतं हविः ॥ (१५/९-११)

### वैदिक मंत्र :

पुराणों में वैदिक अनुष्ठानों का अनेकत्र वर्णन है। अतएव इनमें पौराणिक मंत्रों के साथ-साथ आदित्य, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र आदि विभिन्न देवों की प्रार्थना अथवा माहात्म्य-वर्णन-प्रसंग में वैदिक मंत्रों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। यहाँ वैदिक मंत्रों के अविकल वाक्यांश उद्धृत कर दिये गये हैं; जैसे ब्रह्मा की स्थिति के संदर्भ में पुरुषसूक्त के प्रथम मंत्र से सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष, सहस्रपात् और पुरुष पदों को उद्धृत करते हुए कहा गया है :

तदा स भवति ब्रह्मा सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

सहस्रशीर्षा पुरुषो रुक्मवर्णो ह्यतीन्द्रियः ॥ (७/६२)

पुराणकार ने इसका आधार वेदों को ही माना है —

सहस्रशीर्षा सुमनः सहस्रपात्सहस्रचक्षुर्वदनः सहस्रभुक् ।

सहस्रबाहुः प्रथमः प्रजापतिस्त्रयीपथे यः पुरुषो निरुच्यते ॥

आदित्यवर्णो भुवनस्य गोप्ता एको ह्यपूर्वः प्रथमं तुराषाट् ।

हिरण्यगर्भः पुरुषो महात्मा स पद्यते वै तमसः परस्तात् ॥ (७/६६ — ६७)

## यज्ञ—तालिका :

वायुपुराण के विभिन्न प्रसंगों में निम्नलिखित यज्ञों का उल्लेख प्राप्त होता है—

अग्निष्टोम<sup>१</sup> अग्निहोत्र,<sup>२</sup> अतिरात्र<sup>३</sup>, अश्वमेध,<sup>४</sup> आवसथ्य,<sup>५</sup> ज्योतिष्टोम,<sup>६</sup> त्रिःसप्तयज्ञ,<sup>७</sup>

- <sup>१</sup> (क) गायत्रं वरुणं चैव त्रिवृत्सौम्यं रथंतरम् ।  
अग्निष्टोमं च यज्ञानां निर्ममे प्रथमान्मुखात् ॥ वायु० ९-४८-४९  
यहाँ पर गायत्र, वरुण, त्रिवृत, सौम्य, रथन्तर, अग्निष्टोम, यज्ञों को ब्रह्मा के पूर्व मुख से उत्पन्न माना गया है।  
(ख) अग्निष्टोमं तु पयसा प्राप्नुयाद्वै तथा श्रुतम् । तत्रैव, ७९/११  
(ग) स्निग्धांश्च पूषान्यो दद्यादग्निष्टोमस्य यत्फलम् ॥ ८०/४३
- <sup>२</sup> (क) अग्निहोत्रं हविर्यज्ञमेतत्प्रतपनं तथा । तत्रैव, १२/३  
(ख) श्राद्धानि चाग्निकार्यं च तत्र कुर्यात्सदाऽक्षयम् ॥ तत्रैव, ७७/५९  
(ग) आहर्ता चाग्निहोत्रस्य यज्वनां च ददौ महीम् । ९१/२
- <sup>३</sup> मधुना त्वतिरात्रस्य फलं च समवाप्नुयात् । तत्रैव, ७९/११
- <sup>४</sup> (क) हयमेधेन यजते तत्र यान्ति दिवौकसः । तत्रैव, ३०/११०  
(ख) अथाश्वमेधे वितते समाजगुर्महर्षयः । तत्रैव, ५९/९२  
(ग) कश्यपस्याश्वमेधोऽभूत्पुण्यो वै पुष्करे पुरा ॥ तत्रैव, ६७/५३  
(घ) यत्नेन विधिवत्सम्यगश्वमेधफलं लभेत् ।  
पापापहं पावनीयमश्वमेधफलं तथा ॥  
अश्वमेधफलं ह्येतद्द्विजैः सत्कृत्य पूजितम् ॥ तत्रैव, ७४/१२, १५  
(ङ) संयुक्तान्मधुसर्पिर्भ्यां सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥  
अश्वमेधफलेनैव तत्स्मृतं मन्त्रपूर्वकम् ॥  
आयसं सर्वकामीयमश्वमेधफलं हि तत् ॥ तत्रैव, ७५/८, ६०, ७५  
(च) शयनासनानि रम्याणि भूमयो वाहनानि च ।  
श्राद्धेष्वेतानि यो दद्यादश्वमेधफलं लभेत् ॥ तत्रैव, ८०/२६-२७  
(छ) द्विरश्वमेधमाहृत्य ततो वाजसनेयकम् । तत्रैव, ९९/२५४  
(ज) श्राद्धं कृत्वाऽऽहवनीये अश्वमेधफलं लभेत् । तत्रैव, १११/५२  
(झ) गयाकूटे पिण्डदानादश्वमेधफलं लभेत् ।  
इष्टिं चक्रेऽश्वमेधाख्यां वशिष्ठो मुनिसत्तमः ।  
गयाया महिमानं च अभ्यसेद्यः समाहितः ।  
तेनेष्टं राजसूयेन अश्वमेधेन नारद ॥ तत्रैव, ११२/५२, ५४, ६३  
(ञ) अश्वमेधं कटितटे । तत्रैव, १०४/८४  
(ट) अश्वमेधसहस्रेण, तत्रैव, ७१/७७  
(ठ) ब्रह्मतीर्थे महातीर्थे अश्वमेधफलं लभेत् । तत्रैव, ७७/५५  
(ड) उद्गायनं चाग्नौ च अश्वमेधं तदाप्नुयात्, ७३/५३  
(ढ) अश्वमेधसहस्राणां सहस्रं यः समाचरेत्  
नासौ तत्फलमाप्नोति फल्गुतीर्थे यदाप्नुयात् ॥ तत्रैव, १११/७९  
(त) अयुतं चाश्वमेधानां स्नानकुल्लभते नरः ॥ तत्रैव, ११२/३१  
आवसथ्यं तथाऽधरे । वायु० १०४/८४
- <sup>५</sup> (क) भृगवाद्या ऋषयो धीरा ज्योतिष्टोमान्मृषक्पृथक् । तत्रैव, २/३६  
(ख) श्राद्धं कृत्वा सभ्यपदे ज्योतिष्टोमफलं लभेत् ॥ तत्रैव, १११/५२
- <sup>७</sup> काञ्चनं रजतं ताम्रं दौहित्रं कुतपस्तिलाः ।  
वस्त्रं च पावनीयानि त्रिदण्डी योग एव च ॥  
त्रिः सप्तसंज्ञास्ते यज्ञास्त्रैलोक्यं धार्यते तु वै ॥ तत्रैव, ७४/५, १३

दर्शपूर्णमास,<sup>१</sup> नरमेध<sup>२</sup>, पुण्डरीक,<sup>३</sup> पुत्रेष्टि,<sup>४</sup> राजसूय,<sup>५</sup> वाजसनेय<sup>६</sup>, वाजपेय<sup>७</sup>, सोमयज्ञ<sup>८</sup>, सौत्रामणि<sup>९</sup> इत्यादि ।

यज्ञ—विषयक उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट होता है कि वैदिक युगीन धार्मिक परिकल्पना न्यूनाधिक अंशों में पौराणिक साहित्य में भी सजीव है। यज्ञ के प्रति जो श्रद्धेय दृष्टि वेदों की है, इसकी प्रतिच्छाया पुराणों में स्थल—स्थल पर दृष्टिगोचर होती है। यज्ञ के आवश्यक उपकरणों ऋत्विज आदि का यहाँ यथावसर उल्लेख हुआ है।

### स्तुति—सम्पदा

भक्त की वैयक्तिक अनुभूतियों की शाब्दिक अभिव्यक्ति स्तुति है। इसकी भाषा मानव

<sup>१</sup> पौर्णमास्येन हविषा देवमिष्ट्वा प्रजापतिम् ॥ वायु०, ९९/२५३

<sup>२</sup> नरमेधमथोदरे । तत्रैव, १०४/८४

<sup>३</sup> (क) श्राद्धे यथेप्सितं दत्त्वा पुण्डरीकस्य यत्फलम् । तत्रैव, ८०/३०

(ख) पुण्डरीकसहस्रेण योविष्वावसथो वरम् ॥ तत्रैव, ७१/७७

(ग) पुण्डरीके महातीर्थे पुण्डरिकसमं फलम् ॥ तत्रैव, ७७/५५

<sup>४</sup> अथाकरोत्युत्रकामः परमिष्टिं प्रजापतिः ॥

<sup>५</sup> (क) रम्यमावसथं दत्त्वा राजसूयफलं लभेत् ॥

आस्तीर्णशयनं दत्त्वा राजसूयफलं लभेत् ॥ तत्रैव, ८०/३०—३२

(ख) आहर्ता राजसूयस्य सम्राडिति परिश्रुतः । तत्रैव, ८८/११८

(ग) स तत्प्रप्य महद्राज्यं सोमः सोमवतां प्रभुः ।

समा जज्ञे राजसूयं सहस्रशतदक्षिणम् ॥ तत्रैव, ९०/२२

(घ) तत्रैव ११२/६३, (ङ) राजसूयशतेन च । तत्रैव, ७१/७७

<sup>६</sup> परीक्षितस्तु दायादो राजाऽऽसीज्जनमेजयः ।

ब्राह्मणान्स्थापयामास स वै वाजसनेयिकान् ॥

द्विरश्वमेधमाहृत्य ततो वाजसनेयकम् ॥ तत्रैव, ९९/२५०, २५४

<sup>७</sup> (क) अश्वमेधसहस्रस्य वाजपेयशतस्य च ।

प्रजापते मत्प्रसादात्फलभागी भविष्यसि ॥ तत्रैव, ३०/२९२

(ख) ऊर्णाकौशेयवस्त्राणि तथा प्रवरकम्बलौ ।

अजिनं काञ्चनं पट्टं प्रवेणीमृगलोमकम् ॥

दानान्येतानि विप्रेभ्यो भोजयित्वा यथाविधि ।

प्राप्नोति श्रद्धावानस्तु वाजपेयशतं फलम् ॥ तत्रैव, ८०/३४—३५

(ग) दौहित्रः शिशुको नाम पुरिकायां नृपोऽभवत् ॥

यक्षयन्ति वाजपेयैश्च समाप्तवरदक्षिणैः ॥ तत्रैव, ९९/३७, ३७२

(घ) यूपं प्रदक्षिणीकृत्य वाजपेयफलं लभेत् ।

गार्हपत्यपदे श्राद्धी वाजपेयफलं लभेत् ॥ तत्रैव, १११/३४, ५१

<sup>८</sup> आहवन्तं मरुत्सोममन्नकामः प्रजेश्वरम् ।

मासि मासि महातेजाः षष्टिसंवत्सरं गन्तुः ॥

तेन ते मरुतस्तस्य मरुत्सोमेन तोषिताः ।

अक्षय्यान् ददुः प्रीताः सर्वकामपरिच्छदम् ॥ तत्रैव, ९३/२, ३

<sup>९</sup> सौत्रामणिं कण्ठदेशे । तत्रैव १०४/८३



हृदय की भाषा होती है। इसके अन्तर्गत भक्त अपने सुख — दुख, हर्ष — विषाद, आसक्ति— विरक्ति, कुतूहल, आश्चर्य, उद्वेग, भय आदि हृदयस्थ भावों के रूप में स्वयं को श्रद्धेय के समक्ष समर्पित कर देता है। इस प्रकार स्तुति—काव्य में भक्त के हृदय में स्थित भावनाओं का प्रकटन होता है। गेयता, लयात्मकता, रसनीयता, रमणीयता एवं भक्त का हृदयोद्गार इसकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। इसमें वस्तु तत्त्व की प्रधानता न होकर भाव—तत्त्व की प्रधानता होती है।

### स्तुति—शब्द—विमर्श

व्याकरणानुसार अदादिगणीय 'ष्टुञ् स्तुतौ' धातु से स्त्रियां 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर स्तुति शब्द निष्पन्न होता है।<sup>१</sup> भारतीय वाङ्मय के अन्तर्गत स्तुति—शब्द विभिन्न अर्थों में अनादिकाल से प्रयुक्त होता रहा है। सर्वप्रथम इसका प्रयोग ऋग्वेद में उपास्य के प्रति गाये गये प्रशंसागीत के रूप में हुआ है।<sup>२</sup> ब्राह्मण,<sup>३</sup> उपनिषद्,<sup>४</sup> आर्षमहाकाव्य—रामायण<sup>५</sup> तथा महाभारत<sup>६</sup> में भी यह शब्द उपलब्ध है। निरुक्त<sup>७</sup> में यह शब्द गुण, कीर्तन नाम आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। विभिन्न कोश—ग्रन्थों—अमरकोश<sup>८</sup> हलायुध कोश,<sup>९</sup> बाणभट्ट के शब्दरत्नाकर,<sup>१०</sup> वैजयन्ती कोश आदि<sup>११</sup> में भी स्तुति शब्द के अर्थ एवं पर्याय पर प्रकाश डाला गया है। वायुपुराण में स्तुति के लिए विभिन्न शब्द प्रयुक्त हुए हैं—स्तव,<sup>१२</sup> स्तोत्र,<sup>१३</sup> स्तोत,<sup>१४</sup> वचन,<sup>१५</sup>

<sup>१</sup> पाणिनि : अष्टाध्यायी, ३/३/९४

<sup>२</sup> ऋग्वेद १/८४/२, ६/३४/१

<sup>३</sup> शतपथ ब्राह्मण, ७/५/२/३९

<sup>४</sup> रामतापनीयोपनिषद् — ३०

<sup>५</sup> निरुक्त, ७/१ तथा ३/७

<sup>६</sup> रामायण, बाल० १५/३२, तथा अयोध्या० ६५/३

<sup>७</sup> महाभारत शान्ति० २८४/५६; ३३७/३ तथा भीष्मपर्व २३/२, ३

<sup>८</sup> अमरकोष १/६/११

<sup>९</sup> हलायुध कोश, पृ० ७२५

<sup>१०</sup> बाणभट्ट : शब्दरत्नाकर, श्लोक संख्या १८१०

<sup>११</sup> वैजयन्तीकोश, २/३/३५

<sup>१२</sup> वायु० ९/९४, ७२/४९;

<sup>१३</sup> तत्रैव, २४/९०, ९७/१६१

<sup>१४</sup> तत्रैव, ५४/६५

<sup>१५</sup> तत्रैव, ५४/१०१

नमस्कार,<sup>१</sup> इत्यादि ।

### वायुपुराणगत स्तुति—सम्पदा :

वायुपुराण में पदे—पदे अनेक अवसरों पर देवी—देवताओं का स्तवन किया गया है। इन स्तुतियों के आलम्बन कहीं शिव हैं तो कहीं विष्णु और कहीं ब्रह्मा; जैसे—

### शिव — स्तोत्र :

(क) विष्णु द्वारा अतीत, भविष्य और वर्तमान के नामों एवं वैदिक ऋचाओं द्वारा कहा गया शिव—स्तोत्र।<sup>२</sup>

(ख) दक्ष प्रजापति द्वारा (आठ हजार नामों से ) शिव—स्तुति ।<sup>३</sup>

(ग) ब्रह्मा द्वारा शिव— स्तुति ।<sup>४</sup>

(घ) दैत्य—उरग—राक्षस और देवगणों द्वारा शिव—स्तुति।<sup>५</sup>

(ङ) लिङ्गोद्भव के अन्तर्गत ब्रह्मा—विष्णु द्वारा शिव—स्तुति ।<sup>६</sup>

<sup>१</sup> वायु०, ५५/३०.

<sup>२</sup> नमस्तुभ्यं भगवते सुव्रतेऽनन्ततेजसे ।  
नमः क्षेत्राधिपतये बीजिने शूलिने नमः ॥

X X X  
कीर्तितं तव माहात्म्यमपारं परमात्मनः ॥

शिवो नो भव सर्वत्र योऽसि सोऽसि नमोस्तुते । तत्रैव, २४/९१—१६७

<sup>३</sup> नमस्ते देव देवेश देवारिबलसुदन ।  
देवेन्द्र ह्यमश्रेष्ठ देवदानवपूजित ॥

X X X  
नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यश्च नित्यशः ॥

सूक्ष्माः स्थूलाः कृशा इस्वा नमस्तेभ्यस्तु नित्यशः ॥ तत्रैव, ३०/१८१—२८२

<sup>४</sup> नमस्तुभ्यं विरूपाक्ष नमस्तेऽनेकचक्षुषे ।  
नमः पिनाकहस्ताय वज्रहस्ताय वै नमः ॥

X X X  
ऋग्यजुः सामवेदाय पुरुषायेश्वराय च ॥

इत्येवमादिचरितैस्तुभ्यं देव नमोऽस्तु ते ॥ तत्रैव, ५४/६६—७८

<sup>५</sup> अहो बलं वीर्यपराक्रमस्ते अहो पुनर्योगबलं तथैव ।  
अहो प्रभुत्वं तव देव देव गङ्गाजलस्फालितमुक्तकेश ॥

X X X  
त्वमेव सूक्ष्मस्य परः परस्य त्वमेव वह्निः पवनस्त्वमेव ।  
त्वमेव सर्वस्य चराचरस्य लोकस्य कर्ता प्रलये च गोप्ता ॥ तत्रैव, ५४/९७—१००

<sup>६</sup> नमोऽस्तु ते लोकसुरेश देव नमोऽस्तु ते भूतपते महान्त ।  
नमोऽस्तु ते शाश्वत सिद्धयोने नमोऽस्तु ते सर्वजगत्प्रतिष्ठ ॥

X X X  
नमोऽस्तु ते भैरववेगवेग नमोऽस्तु ते शङ्कर नीलकण्ठ ।  
नमोऽस्तु ते दिव्यसहस्रबाहो नमोऽस्तु ते नर्तनवादनप्रिय ॥ तत्रैव, ५५/३१—५०

(च) शुक्राचार्य द्वारा शिव—स्तुति ।<sup>१</sup>

विष्णु— स्तोत्र :

(क) ब्रह्मा, शिव एवं अन्य देवताओं द्वारा विष्णु स्तुति ।<sup>२</sup>

(ख) ब्रह्मा द्वारा आदि गदाधर का स्तवन ।<sup>३</sup>

अन्य स्तुतियाँ :

उपर्युक्त स्तुतियों के अतिरिक्त भद्रकाली—स्तव,<sup>४</sup> कार्तिकेय स्तवन,<sup>५</sup> सप्तार्चिष—स्तोत्र,<sup>६</sup> भी उपलब्ध है।

### तीर्थ — संग्रह

ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक संहिताओं में 'तीर्थ' शब्द भिन्न—भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ

<sup>१</sup> नमोऽस्तु शितिकण्ठाय सुरूपाय सुवर्चसे ।

रिरिहाणाय लोपाय वत्सराय जगत्पते ॥

नमस्ते त्रिषु लोकेषु स्वरन्तेषु भवादिषु ।

सत्यान्तेषु महान्तेषु चतुर्षु च नमोऽस्तु ते ॥ वायु०, ९७/१६२—२०२

<sup>२</sup> ॐ नमो विष्णवे भर्त्रे सर्वेषां प्रभविष्णवे ।

रेचिष्णवे च रक्षसादिप्रसिष्णवे ॥

धरिष्णवेऽखिलस्यास्य योगिनां पारयिष्णवे ।

वर्धिष्णवे ह्यनन्ताय नमो भ्राजिष्णवे नमः ॥ तत्रैव, १०६/१०—११

<sup>३</sup> गदाधरं व्यपगतकालकल्मषं गयागतं विदितगुणं गुणातिगम् ।

गुह्यगतं गिरिवरगौरगेहुगं गणर्चितं वरदमहं नमामि ॥

मनोतिगं मतिगतिवर्जितं परं सदाऽद्वयं स्तुतिशिरसि स्तुतं बुधैः ।

चिदात्मकं कलिगतकारणातिगं गदाधरं हृदयगतं नमामि तम् ॥ तत्रैव, १०९/३१

<sup>४</sup> स्वाहा स्वधा महाविद्या मेधा लक्ष्मीः सरस्वती ॥

अपर्णा चैकपर्णा च तथा स्यादेव पाटला ॥

X X X

एकानंसा दैत्यहनी माया महिषमर्दिनी ।

अमोघा विन्ध्यनिलया विक्रान्ता गणनायिका ॥ तत्रैव, ९/८५—९३

<sup>५</sup> (क) नमस्ते हरनन्दाय उमागर्भ नमोऽस्तु ते ।

नमस्ते अग्निगर्भाय गङ्गागर्भ नमोऽस्तु ते ॥

नमस्ते शरगर्भाय नमस्ते कृतिकासुत ।

नमो द्वादशनेत्राय षण्मुखाय नमोऽस्तु ते ॥

नमस्ते शक्तिहस्ताय दिव्यघण्टापताकिने । तत्रैव, ५४/२२—२४

(ख) देवसेनापतिस्त्वेवं पठ्यते नरनायक ।

देवारिस्कन्दनः स्कन्दः सर्वलोकेश्वरः प्रभुः ॥

प्रमथैर्विविधैर्देवैस्तथा भूतगणैरपि ।

मातृभिर्विषाभिश्च विनायकगणैस्तथा ॥ तत्रैव, ७२/४९—५०

<sup>६</sup> अमूर्तानां समूर्तानां पितृणां दीप्ततेजसाम् ।

नमस्यामि सदा तेभ्यो ध्यानिभ्यो योगचक्षुषः ॥

पितृगणेभ्यः सप्तभ्यो नमो लोकेषु सप्तसु । स्वयंभुवे नमश्चैव ब्रह्मणे योगचक्षुषे ॥ तत्रैव, ७४/२१—२८

है।<sup>१</sup> सामान्यतः 'तीर्थ' शब्द से तात्पर्य पवित्र—स्थल से है। साधारणतः स्थल की कुछ आश्चर्यजनक प्राकृतिक विशेषता, किसी जलीय स्थल की अनोखी रमणीयता तथा किसी तपःपूत ऋषि — मुनि के वहाँ स्नानादि करने — इन तीन कारणों से तीर्थों की पवित्रता स्वीकृत की गई है। इस प्रकार तीर्थ से तात्पर्य उस स्थल विशेष से है जो अपनी किसी महत्ता के कारण पुण्यार्जन की भावना को जाग्रत करता है। स्कन्दपुराण<sup>२</sup> ने तीर्थ को परिभाषित करते हुए कहा है कि जहाँ प्राचीन काल में सत् पुरुष पुण्यार्जन के लिए रहते थे वे स्थल तीर्थ हैं। बलदेव उपाध्याय ने किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा की गयी तपश्चर्या से परिपूत स्थल—विशेष को तीर्थ की संज्ञा दी है।<sup>३</sup>

पुराणों में भारतवर्ष के समस्त ज्ञाताज्ञात तीर्थों की महिमा का वर्णन प्राप्त होता है। इतना ही नहीं, काल के प्रवाह से जो तीर्थ विलुप्त हो गये हैं उनका भी यहाँ उल्लेख है। समीक्ष्य पुराण में शायद ही ऐसा कोई तीर्थ स्थल हो जिसका यहाँ निर्देश न हुआ हो। यहाँ उपलब्ध तीर्थयात्रा के पौराणिक प्रसंग को भूगोल का पूरक माना जा सकता है क्योंकि इसका इतना साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है कि उस प्रदेश की भौगोलिक स्थिति का चित्र सहज आँखों के समक्ष उपस्थित हो जाता है। ७७वाँ अध्याय तीर्थ—यात्रा के माहात्म्य—वर्णन से ओतप्रोत है।

<sup>१</sup> (क) 'तीर्थे नार्यः पौस्यानि तस्युः' — ऋक्० १/१६९/६

(ख) 'तीर्थे नाच्छा तातृषाणमोको — तत्रैव, १/१७३/११

(ग) 'करत्र इन्द्रः सुतीर्थभयं च' — तत्रैव, ४/२९/३

(घ) 'सुतीर्थमर्वतो यथा नु नो नेषथा सुगम' — तत्रैव, ८/४७/११

(ङ) अस्त्रिं वा दिवस्पृथु तीर्थे सिन्धूनां रथः — तत्रैव, १/४६/८

(च) तीर्थे न दस्ममुपयन्त्यूमाः — तत्रैव, १०/३१/३

(छ) 'तुग्वं तीर्थं भवति' निरुक्त, ४/२

(ज) 'अप्सु स्नाति साक्षादेव दीक्षा तपसी अवरुन्धे तीर्थे स्नाति । तै०सं० ६/१/१/१२

(झ) ते अन्तरेण चात्वालोत्करा उपनिष्क्रमन्ति तद्धि यज्ञस्य तीर्थमाप्नानं नाम ।' शां०ब्रा० १८/९

<sup>२</sup> स्कन्द १/२/१३/१०

<sup>३</sup> दृष्टव्यः : पुराण—विमर्श (तीर्थ — माहात्म्य), पृ० ३०५

### उद्देश्य :

तीर्थ —स्थलों के माहात्म्य एवं वैशिष्ट्य पूर्ण वर्णनों से इनका उद्देश्य स्पष्ट है। यहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है कि तीर्थों का अनुसरण करने वाला पातकी मनुष्य भी शुद्ध हो जाता है फिर शुभकर्ता का तो कहना ही क्या?<sup>१</sup> तीर्थ यात्रा का मुख्य उद्देश्य है पाप से विमुक्ति दिलाना । यह स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति का साधन है। 'कनकनन्दी' तीर्थ के विषय में आख्यात है कि वहाँ स्नान करने से स्वेच्छाचारी विहंगम भी स्वर्ग प्राप्त करते हैं।<sup>२</sup> ब्रह्म हत्या के भागी ऋषियों को ब्रह्मा ने पाप विमुक्ति के लिए 'पवनपुर' तीर्थ की यात्रा का आदेश दिया है।<sup>३</sup> इसी प्रकार 'पुष्करिणी' को मनुष्य को पावन करने वाली तथा अक्षय फल प्रदान करने वाली कहा गया है।<sup>४</sup> इसके अतिरिक्त सप्त—गोदावर,<sup>५</sup> गोकर्ण,<sup>६</sup> दशाश्वमेध,<sup>७</sup> पञ्चाश्वमेध<sup>८</sup> आदि तीर्थों के लक्ष्यों का भी यहाँ उल्लेख हुआ है।

### तीर्थों में विहित कर्तव्य : सदाचार पालन

तीर्थों में विहित कर्तव्यों के विषय में यहाँ उल्लिखित है कि तीर्थ का अभीप्सित फल तभी मिलता है जबकि चित्त अचञ्चल रहे, इन्द्रियाँ वश में रहें, मन और शरीर पवित्र रहें तथा अहंकार स्पर्श भी न करे।<sup>९</sup> तीर्थ—फल के लिए भावना—शुद्धि एवं संयम की मुख्य आवश्यक है इसलिए यहाँ कहा गया है कि जिसके हाथ, पाँव, मन, सुसंयत है तथा जिसे विद्या, तप एवं कीर्ति प्राप्त है वही तीर्थ यात्राओं से पूर्ण फल प्राप्त करता है।<sup>१०</sup> तीर्थों में धैर्य एवं श्रद्धा

<sup>१</sup> वायु० ७७/१२५

<sup>२</sup> तत्रैव, ७७/१०५

<sup>३</sup> तत्रैव, ६०/६८

<sup>४</sup> तत्रैव, ११२/४२—४३

<sup>५</sup> तत्रैव, ७७/१९

<sup>६</sup> तत्रैव, ७७/१९

<sup>७</sup> तत्रैव, ७७/४५

<sup>८</sup> तत्रैव, ७७/४५

<sup>९</sup> तत्रैव, ११०/४—५

<sup>१०</sup> तत्रैव, ११०/४—५

के साथ इन्द्रियों को वश में रखने से शुद्धि मिलती है।<sup>१</sup> पापी, संशयात्मा, परलोक में अनास्था रखने वाले, ईश्वर की स्थिति में सन्देह करने वाले तथा तार्किक—इन पाँच प्रकार के लोगों को तीर्थों का फल नहीं मिलता।<sup>२</sup> पातकी मनुष्य को तीर्थों में विद्यमान वेदी, मूर्ति, आदि अदृश्य ही रहती है।<sup>३</sup>

### तीर्थ—स्थलों पर कृत जप, तप, ध्यान आदि का फल :

यहाँ यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि तीर्थों में जप, हवन और तप से अनन्त फल की प्राप्ति होती है।<sup>४</sup> उमातुङ्ग, भृगुतुङ्ग, ब्रह्मतुङ्ग, महालय, काद्रवती, शाण्डिलीगुफा और वामन गुफा आदि तीर्थों में जप, हवन, ध्यानादि अक्षयफल के विधायक कहे गये हैं।<sup>५</sup> इसके अतिरिक्त अंगिरा द्वारा अमरकण्टक पर्वत पर भीषण तप से स्वर्ग प्राप्ति,<sup>६</sup> मरीचि ऋषि द्वारा शिला पर दारुण तप के बाद शाप से मुक्ति,<sup>७</sup> ब्रह्मा और शिव द्वारा उद्यन्तक गिरि पर उग्र तप<sup>८</sup> इत्यादि का भी यहाँ उल्लेख है।

### यज्ञ तथा तीर्थ :

प्रकृत पुराण में विभिन्न तीर्थों पर ऋषि—मुनियों द्वारा किये गये यज्ञों का उल्लेख हुआ है। जैसे वसिष्ठ ने भस्मकूट तीर्थ में,<sup>९</sup> दक्ष ने गङ्गाद्वार में,<sup>१०</sup> कश्यप ने पुष्कर क्षेत्र<sup>११</sup> में यज्ञ सम्पन्न किया था। इसी प्रकार विभिन्न तीर्थों पर सम्पन्न श्राद्ध क्रियाओं द्वारा प्राप्त यज्ञ—फल का भी उल्लेख हुआ है; जैसे दशाश्वमेध और पञ्चाश्वमेध तीर्थों पर श्राद्ध करने से क्रमशः

<sup>१</sup> वायु०, ७७/१२५

<sup>२</sup> तत्रैव, ७७/१२६,

<sup>३</sup> तत्रैव, ७७/८८; ७७/७९, ७७/७३ ७७/३४ इत्यादि।

<sup>४</sup> तत्रैव, ७७/५४

<sup>५</sup> तत्रैव, ७७/८८

<sup>६</sup> तत्रैव, ७७/५९;

<sup>७</sup> तत्रैव, ७७/३९;

<sup>८</sup> तत्रैव, १०८/४४

<sup>९</sup> तत्रैव, ११२/५३—५४

<sup>१०</sup> तत्रैव, ३०/९४

<sup>११</sup> तत्रैव, ६७/५३

दस एवं पाँच अश्वमेध यज्ञों के फल को,<sup>१</sup> फल्गु तीर्थ में स्नान करने वाला व्यक्ति एक लाख अश्वमेध यज्ञों से भी बढ़कर फल,<sup>२</sup> ब्रह्मतीर्थ में स्थित यूप की प्रदक्षिणा करने वाला वाजपेय यज्ञ के फल को,<sup>३</sup> गार्हपत्य के चरण प्रदेश में श्राद्ध करने वाला वाजपेय यज्ञ का फल,<sup>४</sup> आहवनीय तथा सभ्याग्नि प्रदेश में श्राद्ध करने वाला क्रमशः अश्वमेध और ज्योतिष्ठोम यज्ञ का फल<sup>५</sup>, तथा घृतकुल्या, मधुकुल्या, देविका, महानदी, मधुस्रवा में स्नान करने वाला व्यक्ति दस सहस्र अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त करता है,<sup>६</sup> इत्यादि पंक्तियाँ तीर्थों को यज्ञवत् अथवा उनसे श्रेष्ठ प्रतिपादित करती हैं।

### मुण्डन, व्रत एवं उपवास :

गया —यात्रा प्रसंग में मुण्डन को अप्रशंसनीय मानते हुये सचेत किया गया है कि गया— यात्रा के दौरान मुण्डन न कराये।<sup>७</sup> साथ ही यह भी स्पष्ट कहा गया है कि कुरुक्षेत्र, विशाला, विरजा एवं गया को छोड़कर अन्य सभी तीर्थों पर यह कृत्य कर सकते हैं।<sup>८</sup> इसके अतिरिक्त गया तीर्थ के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओं में यह क्रियायें सम्पन्न कर सकते हैं किन्तु अन्दर नहीं।<sup>९</sup> व्रत एवं उपवासों में गणेशचतुर्थीव्रत<sup>१०</sup>, कालाष्टमीव्रत<sup>११</sup> एवं नक्षत्रपूजा<sup>१२</sup> का संकेतात्मक उल्लेख हुआ है।

<sup>१</sup> वायु०, ७७/४५

<sup>२</sup> तत्रैव, १११/१७

<sup>३</sup> तत्रैव, १११/३४

<sup>४</sup> तत्रैव, १११/५१

<sup>५</sup> तत्रैव १११/५२

<sup>६</sup> तत्रैव, ११२/३०—३१

<sup>७</sup> तत्रैव ८३/१८

<sup>८</sup> तत्रैव १०५/२५

<sup>९</sup> तत्रैव, १०५/२८

<sup>१०</sup> तत्रैव, ९६/२०—५२

<sup>११</sup> तत्रैव, ९६/३०—६६

<sup>१२</sup> तत्रैव, ८०/१—३९

### तीर्थ—द्विज की श्रेष्ठता :

तीर्थ—प्रसंग में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को सर्वत्र स्वीकार किया गया है और कहा गया है कि दान कर्म में ब्राह्मणों की परीक्षा न करें<sup>१</sup> और न ही उनके कुल, चरित्र, ज्ञान, तप आदि पर ध्यान देना चाहिए। जब पुत्र गया जाय तो उसे ब्रह्मा द्वारा प्रकल्पित ब्राह्मणों को ही आमन्त्रित करना चाहिए। इनके सन्तुष्ट होने पर देवों के साथ पितरगण भी सन्तुष्ट हो जाते हैं और इससे कृत्यकर्ता संसार—सागर से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।<sup>२</sup> यहाँ पंक्तिपावन एवं पंक्तिदूषक दोनों ही प्रकार के ब्राह्मणों का स्पष्ट एवं विस्तृत उल्लेख है।<sup>३</sup> श्राद्ध में आमन्त्रित ब्राह्मणों के लिए पुनर्भोजन, यात्रा, भार ढोना, वेदाध्ययन, मैथुन, दान देना व ग्रहण करना तथा होम का निषेध किया गया है।<sup>४</sup> इस सन्दर्भ में एक आख्यान आता है जिसके अनुसार ब्रह्मा द्वारा मना करने के बाद भी गयापुरीस्थ ब्राह्मण यज्ञ में सम्मिलित ही नहीं हुए प्रत्युत् धनादि भी ग्रहण किया। परिणामतः ब्रह्मा के शापवश ऋणी हुए किन्तु बहुत अनुनय—विनय करने पर प्रसादस्वरूप ब्रह्मा ने उन्हें तीर्थों द्वारा जीविका निर्वाह करने का वरदान दिया साथ ही कहा कि जो तुम्हारी पूजा करेंगे वह हमारी ही पूजा होगी।<sup>५</sup>

### श्राद्ध :

प्रायः पुराणों में सब वर्णों एवं आश्रमों के लिए लोक—परलोक प्रशस्ति हेतु विविध मार्ग बताये गये हैं जिनमें 'श्राद्ध', (पितरों को लक्ष्य करके श्रद्धापूर्वक दिया गया दान) इनका प्रिय विषय है, क्योंकि इसके माध्यम से व्यक्ति सहज ही मुक्ति प्राप्त करते हैं। अध्येय पुराण

<sup>१</sup> वायु०, ८३/५१

<sup>२</sup> तत्रैव, ८३/२५—२७

<sup>३</sup> तत्रैव, ८३/५२—७० तथा ७९/५५—५८

<sup>४</sup> तत्रैव, ७९/५९—६१;

<sup>५</sup> तत्रैव, १०६/७३—८४



में 'श्राद्धकल्प' तथा 'गयामाहात्म्य' सम्बन्धी सभी अध्यायों में तीर्थ—स्थलों पर सम्पन्न विभिन्न श्राद्ध—क्रियाओं (विधियों) तथा उनसे प्राप्त फलों का स्पष्ट एवं बहुल उल्लेख हुआ है।<sup>१</sup> यहाँ अन्य तीर्थों की अपेक्षा गया में आचरित श्राद्ध पुण्यप्रद तथा मोक्षदायक माना गया है।<sup>२</sup> तिथिविशेष तथा नक्षत्रविशेष में किये गये श्राद्धों के फल का भी यहाँ स्पष्ट विवरण मिलता है।<sup>३</sup> इसके अतिरिक्त यहाँ श्राद्ध—सम्बन्धी विभिन्न मन्त्रों का भी उल्लेख हुआ है।<sup>४</sup> इन मन्त्रों की महत्ता के विषय में कहा गया है कि जिस प्रकार गौओं में छिपी हुई अपनी माँ को ढूँढ़ लेता है उसी प्रकार श्राद्ध में मन्त्र द्वारा जिस पितर के उद्देश्य से अन्न दिया जाता है, वह उसको अवश्य प्राप्त होता है।<sup>५</sup>

#### दान :

प्रकृत पुराण के श्राद्ध प्रसंग में विभिन्न तीर्थ—स्थलों पर दिये गये गोदान<sup>६</sup>, जीवनदान,<sup>७</sup> अन्नदान<sup>८</sup>, दीपदान<sup>९</sup>, जलदान,<sup>१०</sup> धूपदान,<sup>११</sup> पिण्डदान<sup>१२</sup> आदि का माहात्म्य विस्तृत रूप से विवेचित है। श्राद्ध—क्रियाओं के अन्तर्गत किये जाने वाले ये दीपादि दान ऐसे दान हैं जिनका अपना क्रियात्मक महत्त्व है। ये दान सामान्यतः किसी व्यक्ति विशेष को नहीं दिये जाते, बल्कि जल या स्थल में विसर्जित किये जाते हैं। इसमें ग्रहणकर्ता नहीं होता बल्कि दाता का

<sup>१</sup> वायु०, अध्याय ७१—८५ तथा १०५—११२

<sup>२</sup> तत्रैव, १०५/१६—१७

<sup>३</sup> तत्रैव, अध्याय ८१—८२।

<sup>४</sup> तत्रैव, ७५/२६, २७, ४५, ५३, ५६; ८३/३१—३३ इत्यादि।

<sup>५</sup> तत्रैव, ५६/८५

<sup>६</sup> तत्रैव, १०५/४४, ११२/२६ (गोदान), ११२/५८; ८३, १२/१४५—४८ (नीलवृषभ—उत्सर्ग का भी उल्लेख हुआ है।)

<sup>७</sup> तत्रैव, ८०/१७—१८; ८०/५४—५७

<sup>८</sup> तत्रैव, ८०/१७—१८; ८०/५४—५७

<sup>९</sup> तत्रैव, ७५/१०; ८०/१६, १०९/४०,

<sup>१०</sup> तत्रैव, ११०/१९, २२, ३०, ३२, ६४ इत्यादि।

<sup>११</sup> तत्रैव, ७५/७—९; १०९/४०

<sup>१२</sup> तत्रैव, श्राद्ध—कल्प तथा गया—माहात्म्य सम्बन्धी अध्याय।

अपना विशेष महत्त्व होता है। इन दानों के अतिरिक्त ऐसे विविध दानों का भी यहाँ उल्लेख है जो कि किसी व्यक्ति—विशेष को अर्पण किये जाते हैं।<sup>१</sup>

### यात्रा—विधि :

वायुपुराणगत विभिन्न तीर्थों में से केवल 'गया' और उसके कतिपय उपतीर्थों की ही यात्रा—विधि बतायी गयी है।<sup>२</sup> गया में तीन पक्ष, पन्द्रह दिवस, सात रात अथवा तीन रात्रि के निवास का विशेष फल बताया गया है।<sup>३</sup> पाँच दिवस की गया—यात्रा का पुराणकार ने स्पष्ट विवरण दिया है।<sup>४</sup> गया—यात्रा करने वाले व्यक्ति के लिए यहाँ किञ्चित् नियमों का भी उल्लेख हुआ है<sup>५</sup> और कहा गया है कि जो इन नियमों का पालन करते हुए यात्रा करता है, वह यात्रा का वास्तविक फल प्राप्त करता है। गया को सभी तीर्थों में उत्तम तथा सभी तीर्थों को इसके भीतर मानकर इसकी अद्भुत श्रेष्ठता व्यक्त की गई है।<sup>६</sup>

### वायुपुराणागत तीर्थ—स्थल :

वायुपुराण में लगभग सभी तीर्थों का उल्लेख हुआ है। इन तीर्थों में से कतिपय तीर्थ—स्थल तो ऐसे हैं जिनका अनेकत्र तथा विभिन्न वैशिष्ट्यों के साथ उल्लेख हुआ है। ये सभी तीर्थ स्वर्ग लाभ कराने वाले, ऐश्वर्य प्रदान करने वाले तथा मोक्षप्राप्ति में सहायक कहे गये हैं।<sup>७</sup> यहाँ उपलब्ध तीर्थों की संक्षिप्त तालिका तीन भागों में प्रस्तुत है :

### गया के उपतीर्थ :

प्रकृत पुराण में गया क्षेत्र में विद्यमान निम्न उपतीर्थों का (विशिष्ट माहात्म्य सहित)

<sup>१</sup> वायु०, अ० ८० 'श्राद्धकल्पे दानफलम्' के अन्तर्गत ।

<sup>२</sup> तत्रैव, ११०/११२

<sup>३</sup> तत्रैव, १०५/११

<sup>४</sup> तत्रैव, अध्याय ११०—११२

<sup>५</sup> तत्रैव, १०५/४०—४१ तथा ११०/२—५

<sup>६</sup> तत्रैव १०६/५८

<sup>७</sup> तत्रैव, ७७/२

उल्लेख हुआ है : अक्षयवट (१०५/४५, १०९/१६, १११/८०-८३); अगस्त्य कुण्ड (१०८/४५); अभ्युद्यन्तगिरि (१०८/३९); अमरकण्टक (७७/४-१६, ११२/३२); अरविन्द (१०८/६६, १०९/१५); अविमुक्त (१०६/६९); आदिपालगिरि (१०८/६५, १०९/१५); आवसथ्य (११३/५३); आह्वनीय (१११/५२); उत्तरमानस (७७/१०८, ८३/२१, १११/१-६, २३-४३); उद्यन्तगिरि (१०८/४३-५१, ५९, १०९/१५); औदीच्यतीर्थ (१११/६); कनखल (८३/२१, १११/७); कश्यपपद (१०९/१८, १११/५०, ५९-६२); कर्दमाल (११२/५७); काकशिला (१०८/७६); कामधेनुपद (११२/५६); कार्तिकेय पद (१०९/१९, १११/५५); कोटितीर्थ (११२/३२-३३); कोलाहल पर्वत (४५/९०, १०६/५); क्रौञ्च पद (१०८/७६-७६, ८४, १०९/१६, १९, १११/४५, ५४); गजकर्ण (१११/५६); गणेशपद (१११/५६) गदालोल (१११/७६-७८); गयाकूट (११२/५२); गयाशिर (१०५/३१, १०८/७२, ८७, ११०/६६, १११/४३, ४५, ७४); गृध्रकूट (१०८/६१-६४, ७४, १०९/१५, १११/२३, ७७/३८, ९७); गायत्री तीर्थ (११२/२१); गाहर्पत्य (१११/५१); गीतनाद (१०९/१५), गोप्रचार (१११/३६); च्यवनाश्रम (१०८/७३); दक्षिणमानस (१११/६, ८-११); दधिकुल्या (१०९/१७) दशाश्वमेध (७७/४५, ११२/३२); देविका (१०९/१७, ११२/३०, ७७/४१, ४५/९५); धर्मशिला (अध्याय-१०७); धर्मेश्वर (१११/२७); धर्माण्य (१११/२४, ८३/२३); धेनुकारण्य, (११२/५६); नागकूट (१११/२३); निःक्षीण (१०८/८४); पंकजवन (११२/४३); पञ्चलोक (१०९/१६, पाण्डुशिला ११२/४४-४९); प्रभासगिरि (१०८/१३-१४, १६, २३/२१५, १०९/१४, ७७/४०, ८३/२०); प्रभासेश (१०८/१४); प्राची-सरस्वती तीर्थ (११२/२३); प्रेतकुण्ड (१०८/६९); प्रेतगिरि (१०८/६७, ११०/८-९, ६१-६२, ८३/२०); प्रेतशिला (१०८/१५, ६७-६८, ११०/१५, ६६); फल्गु (१०९/१६, ४३, १११/१३-२३, ४२-४६); ब्रह्मकूप (८३/२९, १११/२७, ३२-३३); ब्रह्मपद (१०५/४३, १०९/१८, १११/४९); ब्रह्मसर (१११/३१, ३६, ७७/५१, ९६); ब्रह्मयोनि (१०८/८३); ब्रह्मयूप (१११/२३, २७-३४, ४३); भरताश्रम (१०८/२५, ३३, ७७/९८); भस्मकूटगिरि (१०८/५३, ८५, १०९/१५, ११२/५३) मतंगपद (७७/९८, १०८/२६, १०९/१९, ११२/४९); मतंगवापी (१११/२५-२६; ७७/३६); मतंगाश्रम (१०८/२५); मधुकुल्या (१०९/१७, ११२/३९, ३३); महाबोधितरु (१११/२७-३०); मुखतीर्थ (१०८/४०-४३, ११२/२५, ५१); मुण्डपृष्ठाद्रि (१०८/१२, ७१, ७७, १०९/१४, ४३, ४५, ५२, १११/४६, ७५, ११२/२४, ५७, ७७/१०२ -१०३); राजगृह (१०८/७३); रामतीर्थ

(१०८/१७-२७); रुक्मिणीकुण्ड (१०८/५७); रुद्रपद (१०९/१८, १११/४९, ६५-६९); लेलिहान (७७/१०४, ११२-१२४); लोहदण्ड (१०८/७४, १०९/१६); वटेश्वर वटवृक्ष (१०८/५७); वादित्रकगिरि (१०८/४३-४६); विरजाद्रि (१०६/८५); विशाला (१०५-२५); विष्णुपद (१०५/२६, १०९/१८, १११/४०, ७०-७३); वैकुण्ठ (१०८/७४, १०९/१६); शूलक्षेत्र (१०८/६४); शोणक (१०८/७४); सप्तलोक (१०९/१६); सभ्याग्निचरणपद (१११/५२); सारस्वतकुण्ड (१०८/५९); सूर्यपद (१११/५५); हंसतीर्थ (११२/३२) इत्यादि ।

गया में विद्यमान नदियाँ :

गया— माहात्म्य वर्णन के प्रसंग में निम्न नदियों का उल्लेख हुआ है : अलकनन्दा (४१/१८, १०८/८०); इन्दिरा (१०८/७९); उदीची (१११/६, १०८/८०, ८३/२१); कनका (१०८/८०); कपिला (१०८/५७-५८); कृष्णवेण्या (१०८/८१); कावेरी (७७/२८, ९१/५९-६०, १०८/७९); कौशिकी (४५/९६, ७७/१०१, १०८/८१); गंगा (१०८/७९, ७७/६८, ९६, ९९/३८३, १०४/७७); गण्डकी (१०८/७९); चन्दना (१०८/७९, ४५/७९); चन्द्रभागा (१०८/७८), चर्मवती (१०८/८१); नर्मदा (१०८/८२, ७७/८, ३२) पुनःपुना (१०८/७३); मधुस्रवा (१०६/७५, १०९/१६, ११२/३०); महानदी (१०८/१६, ७८/१०९-१७, ११०/६, ११२/३०, ७८/२२); ब्रह्मदा (१०८/८१); यमुना प्रभव तीर्थ (१०८/७९, १०४/७७); वेत्रवती (१०८/७८); वैतरणी (१०८/८०, १०५/४४, ११२/२६-२८, ३३), वासिष्ठी (१०८/७९), शरावती (१०८/७८); सरयू (१०८/७९, ४७/१५, ३९); सरस्वती (१०८/७८, ४५/५४, ७७/६७, १०४/७७); सिन्धुवीरा (१०८/७९) इत्यादि ।

वायुपुराणगत अन्य तीर्थस्थल :

समीक्ष्य पुराण में पूर्वोक्त गयाक्षेत्रस्थ उपतीर्थों एवं नदियों के अतिरिक्त और भी अनेक तीर्थों का निर्देश हुआ है, यथा : अच्छोदा (४७/५-६, ७७/७६-७७); अजतुंग (७७/४८-५०); अयोध्या (१०४/८१, १११/६९), अवन्ती (४५/५८); १०४/७६); उत्तर प्रभासक्षेत्र (१०४/७८), उमातुंग (७७/८१-८२); उमावन (४१/३६); कलापग्राम (९१/७, ९९/४३७) काञ्ची (१०४/७६, ८०), काशी (९९/४०२, १०४/७५); कुम्भ तीर्थ (७७/४७); कुरुक्षेत्र (७/९३, ७७/६४, ६६, ९१/३२, १०५/१७, २४); गोदावरी (४५/१०४, ११२-११३, ७७/३२); चैत्ररथ (४७/६); जालंधर (१०४/८०); द्वारिका (१४०/७६);

धूतपाप (४५/९५, ७७/२०); नेपाल ( १०४/७९); पुष्कर (७७/४०); पूर्णगिरि (१०४/७९); पौण्ड्रवर्धन (१०४/७९); प्रतिष्ठान (९१/१९,५१); प्रयाग (७७/९२,९१/५१, ९९/३८३, १०४/७६); प्लक्ष (९१/३३, ७७/६७); ब्रह्मतीर्थ (७७/५५, ७८/५०, १०४/८१, १११/२७); बौद्धतीर्थ (१०४/८२); भृगुपीठ (१०४/८१); मथुरा (८८/१८३-१८६, ९९/३८३, १०४/७४-७५, ८०); मायापुरी (१०४/७५); बदरिकाश्रम (१०४/७८); वाराणसी (४५/११०, ७७/९३-९५, ९२/२३-६१); वैष्णवतीर्थ (१०४/८२); शाक्ततीर्थ (१०४/८२); शैवतीर्थ (१०४/८१); श्रावस्ती (८८/२००); सौरतीर्थ (१०४/८२) इत्यादि।

उपर्युक्त तालिका में आगत तीर्थों में वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध आदि विभिन्न तीर्थों का समन्वय है। तीर्थ विषयक सम्पूर्ण उद्धरण वैदिक धर्म में परिवर्तन की सूचना देते हैं क्योंकि वैदिक धर्म यज्ञ-प्रधान था, जबकि पौराणिक धर्म में यज्ञ-विधान दुष्कर था। अतः तीर्थ-यात्राओं के माध्यम से विभिन्न यज्ञों के लाभ की चर्चा की गई है। तीर्थ-प्रसंग के अन्तर्गत यज्ञाचरण का प्रसंग इस बात का द्योतक है कि तीर्थयात्रा साधारण जन की भाँति समृद्धशाली व्यक्तियों का भी धर्म था।



{खण्ड—ख}  
‘दर्शन’

- दार्शनिक तत्त्व,
- सांख्य दर्शन और वायुपुराण,
- पाशुपत या माहेश्वर योग।

## दार्शनिक तत्त्व

दार्शनिक विचारधारा पुराणों में सर्वत्र अनुस्यूत है। पुराण—पञ्च अथवा दश लक्षणों के अन्तर्गत निर्दिष्ट सर्ग और प्रतिसर्ग में अप्रत्यक्ष रूप से दर्शनतत्त्व का निरूपण हुआ है। पौराणिक दर्शन पर विरले विद्वानों ने ही विचार—विमर्श किया है जिनमें दासगुप्त<sup>१</sup>, श्री हिरियन्ना<sup>२</sup> पुसाल्कर<sup>३</sup> आदि प्रमुख हैं

वायुपुराण में मुख्यतः सांख्यदर्शन का विवेचन हुआ है। पुराणों में उपलब्ध दार्शनिक विचारधारा दर्शनग्रन्थों से पृथक् अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। समय—समय पर पुराणों में परिवर्तन एवं परिवर्धन होता रहा है। अतएव इनमें परिवर्तित दार्शनिक विचारधारा के दर्शन होते हैं। दार्शनिक विचारधारा की भिन्नता का एक मुख्य कारण शैव और वैष्णव मत भी हैं, जिन्होंने नवीन, दार्शनिक एवं धार्मिक विचारधारा को विकसित किया। अध्येय पुराण में दार्शनिक तत्त्वों का क्रमबद्ध विवेचन न होकर कहीं सृष्टि के आदिम स्वरूप की ओर संकेत किया गया है, कहीं ब्रह्म का चिन्तन है तो कहीं जीव, जगत्, माया सम्बन्धी तथ्यों की ओर इंगित किया गया है। ब्रह्म—स्वरूप निरूपण में सांख्य के पुरुष तत्त्व और वेदान्त के ब्रह्मतत्त्व—दोनों का संमिश्रण हुआ है।

## सांख्य—दर्शन और वायुपुराण

प्रकृत पुराण में सांख्य के विभिन्न तत्त्वों (प्रकृति, पुरुष, मन, बुद्धि, अहंकार, तन्मात्राएँ इत्यादि) तथा अन्य सामान्य सांख्य विषयों (कर्म, संसृति, गर्भ, मोक्ष, सर्ग आदि) का यथावसर स्पष्ट संकेत हुआ है। विस्तारभयवशात् यहाँ इन सबका संक्षेप में ही उल्लेख किया जा रहा है।

<sup>१</sup> Das Gupta : History India. Philosophy ; P. 496-511.

<sup>२</sup> Hiriyana : Outline Indian Philosophy; P. 92

<sup>३</sup> Pusalkar : Studies in Epics and Puranas; P. 19-22

### प्रकृति :

सांख्य प्रकृति को स्वतंत्र तथा बिना किसी की प्रेरणा से सृष्टि—क्रिया करने वाला तत्त्व मानता है जबकि पुराणकारों के अनुसार प्रकृति का नियामक कोई अवश्य है। प्रकृत पुराण में आत्यन्तिक सिद्धान्त का स्फुट विवेचन हुआ है। ब्रह्मा ने सर्वप्रथम बुद्धिपूर्वक जिसकी रचना की उसे परमात्मा का प्रधान कर्तव्य और प्रेरणा का परिणाम तथा इसे ही 'अप्रमेय कारण' कहा है और इसे ही ब्रह्म प्रधान, प्रकृति, प्रसूति, आत्मा, गुहा, योनि, चक्षु, क्षेत्र, अमृत, अक्षर, शुक्र, तपस्, सत्त्व और अतिप्रकाश कहा है। साथ ही द्वितीय, नित्य, व्यष्टि पुरुष (लोक पितामह स्वयम्भू) से संयुक्त, रजोगुण की अधिकता और उत्पादकता से काल—संयोग तथा नियम के कारण क्षेत्रज्ञ से संयुक्त लोक की सन्तान वृद्धि के निमित्तभूत समस्त विकार तथा आठों प्रकृतियों को महेश्वर के संकल्पमात्र से उत्पन्न कहा है।<sup>१</sup> प्रलय के आत्यन्तिक, प्राकृतिक, नैमित्तिक कारणों, विशेष रीति से बन्ध और मोक्ष तथा प्रधान संसार की गति का यहाँ स्पष्ट उल्लेख है। प्रकृतिस्थ अवस्था में कारणों की स्थिति एवं प्रवृत्ति सम्बन्धी सम्पूर्ण तथ्यों का प्रकाशन भी किया गया है।<sup>२</sup>

प्रकृति को अव्यक्त, सदसदात्मिका, प्रधान आदि कहा गया है।<sup>३</sup> पुराणों में प्रकृति—विवेचन के अन्तर्गत ब्रह्मवृक्ष या ब्रह्मवन का उल्लेख मिलता है। वायुपुराण में एक स्थल पर दोनों को अभिन्न बताया गया है। साथ ही ब्रह्मवन आधिभौतिक रूप में है तथा अहंकार बीज से उत्पन्न वृक्ष को कोई संज्ञा नहीं दी गई है।<sup>४</sup> अष्ट प्रकृति का यहाँ स्पष्ट

<sup>१</sup> वायु० ३/९—१२

<sup>२</sup> तत्रैव, ३/२३—२४

<sup>३</sup> तत्रैव, ५/१८—२३

<sup>४</sup> तत्रैव, ९/११६

दिव्यौ, सुपणौ सयुजौ सशाखौ पटविद्रुमौ॥

एकस्तु यो द्रुमं वेत्ति नान्यः सर्वात्मनस्ततः ॥

इस कथन द्वारा सत्त्व क्षेत्रज्ञ की ओर संकेत किया गया है। तत्रैव, ९/११९



उल्लेख है; प्रकृतियों का वर्णन करके “अष्टौ प्रकृतयो ज्ञेयाः पूर्वोक्ता वै यथाक्रमम्” कहा गया है।<sup>१</sup> अन्यत्र आवरण के अष्टप्रकृति—सिद्धान्त ‘सप्ताण्डावरणान्याहुः’ का भी संकेत हुआ है।<sup>२</sup> इनके लय को क्रमशः दिखाकर ‘गुणसाम्यं ततः परम्’ कहा गया है।<sup>३</sup> एक स्थल पर अष्टप्रकृतियों को महेश्वर के संकल्प से उत्पन्न कहा गया है।<sup>४</sup> अध्याय १०२ में प्रत्याहार सम्बन्धी कथनों का उल्लेख है। प्रकृत पुराण में प्रकृति—पुरुष के एकत्व और पृथक्त्व सम्बन्धी मतों का भी स्पष्ट संकेत मिलता है जिसके अनुसार पाप—पुण्य सम्बन्धी कर्म प्रकृतिस्थ है। अभिमानवश पुरुष इन्हें अपना समझकर सूक्ष्म शरीर द्वारा विभिन्न योनियों में समस्त मोक्ष पर्यन्त भ्रमण करता रहता है।<sup>५</sup> एक स्थल पर प्रकृति—पुरुष के अनादि संयोग पर प्रकाश डालते हुए इनके संयोग को साधर्म्य एवं वैधर्म्य से सम्पन्न बताया गया है।<sup>६</sup>

### पुरुष :

पुरुष पद का निर्वचन करते हुए ‘पुरि शेते इति पुरुषः’ कहा गया है।<sup>७</sup> इसके अन्तर्गत पुरुष के निगुण निष्क्रिय, चित्स्वरूप, पुरुष से भिन्न और अभिन्न दोनों ही रूप विवेचित हुए हैं। सांख्यदर्शन की भाँति यहाँ भी पुरुष आत्मा के लिए व्यवहृत हुआ है। आत्मा का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि आप्ति तथा आदान करने तथा विषय का भोग करने से सदा उसका वही भाव हो जाता है, अतः आत्मा कहा जाता है।<sup>८</sup> अन्यत्र विवेचित आत्मा का स्वरूप गीता के द्वितीय अध्याय से बहुत साम्य रखता है।<sup>९</sup> अध्याय १०२ में भी आत्मा की

<sup>१</sup> वायु० १०२/१५

<sup>२</sup> तत्रैव, ४/८३

<sup>३</sup> तत्रैव, ४/८३—८७

<sup>४</sup> तत्रैव, १०२/२३—३१

<sup>५</sup> तत्रैव, ३/१२

<sup>६</sup> तत्रैव, १०२/५०—५४

<sup>७</sup> तत्रैव, १०२/३४

<sup>८</sup> तत्रैव, १०२/५०—५४

<sup>९</sup> तत्रैव, ४/३४—३५

विशद व्याख्या के साथ-साथ ज्ञान एवं मोक्ष का सामासिक शैली में लक्षण, चैतन्य को सम्बन्धरहित, स्वात्मन्येवावस्थित, विरूपाख्य आदि कहा गया है। साथ ही प्रकृति-लय को वैराग्य का कारण कहा गया है।<sup>१</sup> शरीर की अनेकता के आधार पर इसके नानात्व को स्वीकार करते हुए पुरुष-बहुत्व की सिद्धि-विषयक उद्धरणों को उद्धृत किया गया है।<sup>२</sup> पुरुषज्ञों द्वारा की गयी पुरुष-स्वरूप की विस्तृत व्याख्या का भी यहाँ उल्लेख है।<sup>३</sup>

### महत् (बुद्धि एवं मन) :

गुणों को साम्यावस्था में, जब सब कुछ तमस् से व्याप्त था, सर्गकाल का क्षेत्रज्ञ के अधिष्ठान से सत्त्व-बहुल महत् प्रकट हुआ।<sup>४</sup> प्रकृति के प्रथम विकार या सृष्टि महत् के लिए मन, महान्, मति, ब्रह्मा, भू, बुद्धि, ख्याति, ईश्वर, प्रज्ञा, चिति, स्मृति, संवित् आदि पर्यायवाची पदों का प्रयोग हुआ है।<sup>५</sup> यहाँ उपर्युक्त प्रत्येक नाम का निर्वचन देते हुए महत् तत्त्व के गुण-धर्म पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। साथ ही इनकी प्रस्तुति आध्यात्मिक दृष्टि से हुई है। महत् तत्त्व की संकल्प और अध्यवसाय दो वृत्तियाँ कही गयी हैं।<sup>६</sup> लोकों के तत्त्व पदार्थ के हेतु धर्म आदि इसके रूप कहे गये हैं तथा सात्विक, राजस एवं तामस रूप से यह त्रिगुण या त्रिधा कहा गया है।<sup>७</sup> सर्ग की इच्छा से प्रेरित होने पर यही सृष्टि-क्रिया करने वाला कहा गया है।<sup>८</sup> कई स्थलों पर महान् की स्फुट व्याख्या हुई है।<sup>९</sup>

बुद्धि,

ब्रह्मा और हिरण्यगर्भ एकार्थक हैं और यहाँ इसे तमोयोनिज् कहा गया है।<sup>१०</sup> इसी में

<sup>१</sup> वायु०, १०२/७५-११७

<sup>२</sup> तत्रैव, १०२/३७-३८

<sup>३</sup> तत्रैव, १०२/१८

<sup>४</sup> तत्रैव, ४/२३-२५

<sup>५</sup> तत्रैव, ४/२५-४५; १०२/२०-२१

<sup>६</sup> तत्रैव, ४/४६; १०२/२०

<sup>७</sup> तत्रैव, ४/२६, ४७

<sup>८</sup> तत्रैव, ४/२७, ४६

<sup>९</sup> तत्रैव, ४/२५, ३६, ४६, ४७; १०२/३, २०, २१

<sup>१०</sup> तत्रैव, २५/२८;

अव्यक्तयोनि कही गयी है।<sup>१</sup> पञ्चप्रमाणों का भी उल्लेख है।<sup>२</sup>

अहंकार, इन्द्रियवर्ग, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत :

अध्येय पुराण के सर्ग तथा प्रतिसर्ग सम्बन्धी अध्यायों में इनकी उत्पत्ति एवं लय का विस्तृत उल्लेख है। अहंकार की उत्पत्ति त्रिगुण में रजोगुण बहुलता से कही गयी है, और इसे महान् से आवृत कहा गया है। तदनन्तर तमोबहुल अहंकार से भूत तन्मात्र की सृष्टि कही गयी है। इन्हें तमस् अहंकार कहा है।<sup>३</sup> वायुपुराण ने शब्दादि तन्मात्राओं से आकाशादि पञ्चमहाभूतों की सृष्टि को क्रमबद्ध उपस्थित किया है और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध को क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी का विशिष्ट 'गुण' माना गया है। सृष्टि के सारे तत्त्वों को उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व से आवृत या वेष्टित कहा गया है। चूँकि यह सभी एक-दूसरे में प्रविष्ट तथा परस्पर एक-दूसरे को धारण करते हैं, अतः पूर्व पूर्व के गुण उत्तरोत्तर मिलाने से पञ्चमहाभूतों के निम्नलिखित गुण कहे गये हैं— (१) आकाश : शब्द; (२) वायु : शब्द, स्पर्श, (३) अग्नि : शब्द, स्पर्श, रूप; (४) जल : शब्द, स्पर्श, रूप, रस; (५) पृथ्वी : शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध । इस प्रकार किसी को शुद्ध वायु में अपने दोष के कारण गन्ध गुण मिलता है तो वह गन्ध पृथ्वी की ही समझनी चाहिए क्योंकि वायु में पृथ्वी तत्त्व मिला है। तन्मात्रा को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि उन-उन भूतों में वह वह (शब्दादि) मात्रा रहती है इसलिए तन्मात्रा नाम पड़ा । एक प्रकार से तन्मात्र गुणों की अव्यक्त उपाधियाँ हैं। इसलिए इनमें गुण प्रकट नहीं होता है। इस प्रकार रूढ़ि प्रणाली से तथा शान्त, घोर, मूढ़, त्रिगुणधर्म नहीं प्रकट होता है अतएव इन्हें अविशेष कहा जाता है। इसके विपरीत स्थूलभूत, शान्त, घोर, मूढ़ और विशेष कहे जाते हैं। सात्त्विक वैकारिक अहंकार से एकादश इन्द्रियों

<sup>१</sup> वायु०, १००/२००

<sup>२</sup> तत्रैव, ४/१७

<sup>३</sup> तत्रैव, ४/४९

(पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन) की उत्पत्ति कही गयी है और इन्हें वैकारिक देव कहा गया है। इनके कर्मों का भी यहाँ निर्देश हुआ है। साधक या करण को इन्द्रिय कहा गया है तथा ग्राह्य एवं नियत होने के कारण इन्हें विशेष कहा गया है।<sup>१</sup> इस प्रकार सांख्य में इन्द्रियों को तैजस कहा है किन्तु पुराणों के अन्तर्गत इन्हें वैकारिकदेव भी कहा गया है। वायुपुराण में तैजस के स्थान पर साधक पद प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार ये तत्त्व सुसंगति एवं एकता में कार्य करते हैं। ये सातों महावली पृथक्—पृथक् होकर सृष्टि नहीं कर सकते। महत् तत्त्व से लेकर विशेष पर्यन्त तक एक दूसरे के आधार बनाकर पुरुष के अधिष्ठान तथा अव्यक्त के अनुग्रह से पानी के बुलबुले की भाँति अण्ड की उत्पत्ति करते हैं जिसके अन्दर से क्रमशः सत् स्वरूप, क्षेत्रज्ञ ब्रह्मा प्रथमशरीरी, पुरुष हुए। इस अण्ड के भीतर सप्तलोक एवं समुद्रों के साथ—सप्त द्वीप वाली पृथ्वी छिपी हुई है। चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, ग्रह और वायु जो कुछ लोक या आलोक है जब उस अण्ड से निर्मित है। वह अण्ड क्रमशः दशगुने जल से, जल तेज से, तेज वायु से, वायु आकाश से, आकाश भूतादि अहंकार से, अहंकार महत्तत्त्व से, महत्तत्त्व अव्यक्त से परिवेष्टित है। इस प्रकार सात प्राकृत आवरणों से वह अण्ड आच्छादित है। आधार और आधेय भाव से विकृति अपनी प्रकृति में रहती है। सृष्टिकाल में स्थित रहकर फिर प्रलय काल में एक दूसरे का ग्रास कर लेती हैं। इस प्रकार ये दोनों एक दूसरे से उत्पन्न होती हैं तथा एक—दूसरे को धारण करती हैं।<sup>२</sup>

### त्रिगुण :

पुराणों में त्रिगुण (सत्त्व, रजस्, तमस्,) त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, शिव) के रूप में स्वीकृत है।

<sup>१</sup> वायु० ४/४८—७२ (यहाँ वर्णन में किंचित् विलक्षणता है क्योंकि त्रिधा, (सात्त्विक, रजसिक एवं तामसिक) अहंकार में ये रजस् (जिससे कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई) अहंकार का कोई कार्य नहीं बताया गया है।)

<sup>२</sup> तत्रैव, ४/७२—९०

वायुपुराण में साम्यावस्था से प्रच्युत प्रकृति में गुण—वैषम्य की अभिव्यक्ति रजस् के क्रम में बताई गई है।<sup>१</sup> अन्यत्र त्रिदेव की त्रिविध शक्ति—निरूपण—क्रम में उल्लिखित है कि ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र भी ब्राह्मी, पौरुषी और कालाख्या शक्तियाँ क्रमशः सृष्टि, स्थिति एवं संहार करनेवाली हैं।<sup>२</sup> त्रिगुण सिद्धान्त के आधार पर ब्रह्मा के चतुर्विध शरीरों और उन शरीरों से उत्पन्न देव, पितृ, मनुष्यों एवं राक्षसादि तथा दिवा, रात्रि ज्योत्स्ना एवं सन्ध्या का भी उल्लेख है।<sup>३</sup> अन्यत्र त्रिगुण के आधार पर ही युगों को व्यवस्थित किया गया है।<sup>४</sup> इस प्रकार त्रिगुण को प्रकृति स्वरूप मानते हुए उसकी त्रिविध शक्ति के रूप में स्वीकार कर समस्त विश्व को इससे ही सृष्ट और अन्त में इसी में विलीन दिखाया गया है।

### त्रिविध—बन्ध :

प्रकृति—पुरुष का संयोग अविद्या हेतुक है जिसे बन्ध कहा जाता है। बन्ध प्रकृतिगत है, उसे पुरुषगत समझना अविवेक है। प्रकृत पुराण में त्रिविध बन्ध का स्पष्ट उल्लेख है। जन्तुगण तत्त्वों के दर्शन के कारण त्रिविध बन्ध (प्राकृत, वैकारिक, दक्षिणात्मक) से आबद्ध होते हैं। इन्हें अज्ञानमूलक बन्धन भी कहा जाता है।<sup>५</sup>

### कैवल्य (मोक्ष) :

पुरुषार्थ—चतुष्टय में से परम पुरुषार्थ 'मोक्ष' ही दार्शनिकों का मुख्य लक्ष्य है। अध्येय पुराण में सृष्टि एवं प्रलय विषयक विवेचन को मोक्ष हेतु उपयोगी कहा गया है। वैराग्य को प्राकृत लय का कारण मानते हुए कहा गया है कि प्राकृत लय के समय संसार का विनाश हो

<sup>१</sup> वायु०, अध्याय ४

<sup>२</sup> तत्रैव, अध्याय ६६

<sup>३</sup> तत्रैव, अध्याय ९

<sup>४</sup> सत्त्व कृतं रजस्सत्रेता द्वापरं तु रजस्तमौ ।।

कलौ तमस्तु विज्ञेयं युगवृत्तवशेन तु । तत्रैव, ८/६६-६७

<sup>५</sup> तत्रैव, १०२/५८-६१

जाता है।<sup>१</sup> तत्त्वज्ञान को मोक्ष प्राप्ति का उत्तम उपाय बताते हुए कहा गया है कि इसके बाद जीवात्मा जन्म—मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। वह पुनः शरीर धारण नहीं करता । उसकी कल्पना भस्म बीज से की गई है, जो पुनः अंकुरित नहीं होता ।<sup>२</sup> इन पंक्तियों में प्रकृति—पुरुष के पार्थक्य ज्ञान से मोक्ष की स्थिति बतायी गयी है। तत्त्वदर्शियों द्वारा कथित त्रिविध मोक्ष का स्पष्ट उल्लेख है।<sup>३</sup> एक स्थल पर मुक्तावस्था पर विचार—विमर्श किया गया है।<sup>४</sup> यहाँ स्पष्टतः कथित है कि जीव मुक्ति के साथ लिंगशरीर से भी मुक्त हो जाता है<sup>५</sup> और तब उसका किसी से कोई सम्बन्ध नहीं रहता । उसकी अचैतन्यावस्था है, और वह केवल आत्मनिष्ठ रहता है। जीव की इस अवस्था को 'विरूप' कहा गया है।

इसके अतिरिक्त सांख्य—दर्शन के अन्य सामान्य विषय कर्म;<sup>६</sup> संसृति तथा गर्भ<sup>७</sup> का भी यहाँ यथावसर उल्लेख हुआ है। वायुपुराण में सृष्टि का एक दूसरा वर्णन जिसमें नवसर्ग आदि का उल्लेख है। जिसका विस्तृत विवेचन हम पूर्व अध्याय—सृष्टिक्रम के अन्तर्गत कर चुके हैं।

सांख्य—दर्शन के विवेचन के साथ—साथ यहाँ कहीं शिव को, तो कहीं विष्णु को परमतत्त्व के रूप में उपस्थित किया गया है। अतएव शैव और वैष्णव दर्शन भी यहाँ अनेकत्र दर्शनीय है ।

<sup>१</sup> वायु०, १०२/६०, ९७—९८

<sup>२</sup> तत्रैव, १०२/१०४—६

<sup>३</sup> स चापि त्रिविधः प्रोक्तो मोक्षो वै तत्त्वदर्शिभिः ॥

पूर्व वियोग्ये ज्ञानेन द्वितीयो गगसंक्षयात् ।

लिङ्गभावात्तु कैवल्यं कैवल्यात्तु निरञ्जनम् ॥

निरञ्जनत्वाच्छुद्धस्ततो नेता न विद्यते ।

तृष्णाक्षयात्तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षकारणम् ॥ तत्रैव, १०२/७८—८०:

इस उद्धरण में मोक्ष के लिए कैवल्य पद का प्रयोग इसकी अतिप्राचीनता का द्योतक है। अन्यत्र भी कैवल्य पद देखने को मिलता है— ५७/११८.

<sup>४</sup> तत्रैव, ६३/४९—५०

<sup>५</sup> तत्रैव, १०२/७६—७७

<sup>६</sup> तत्रैव, ८/३०—३३; १०३/२५, २९, ३१—३२—३३; ९/५७—५८;

देहगेहासक्त पुरुष की उत्तरोत्तर अधोगति का भी क्रमिक विवेचन हुआ है और अप्रत्यक्ष रूप से कर्म में मनुष्य के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है; । तत्रैव, १४/३५—३८

<sup>७</sup> तत्रैव, १४/१८, १९, २३—२७—यहाँ पुरुष के गर्भवास तथा गर्भ विकास की व्याख्या करते हुए संसृति के समारम्भस्वरूप गर्भ के स्वरूप को उपस्थित कर संसार की दुःखात्मकता का वर्णन किया गया है।

### पाशुपत योग

अध्येय पुराण के १०.१५ में महायोगी शिव द्वारा प्रतिपादित माहेश्वर (पाशुपत योग) के सिद्धान्तों का पुराणकार ने उल्लेख किया है। आदित्य, वसु, साध्य, अश्विन्, मरुत्, भृगुगणों तथा स्वर्गवासी (यम, इन्द्रादि) के साथ—साथ पितृगण, काल, मृत्यु तथा अन्य लोग भी इस योग का अनुसरण करके महेश्वर का ज्ञान प्राप्त करते हैं। पाशुपतयोग के पाँच धर्मों, (प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा और स्मरण) के लक्षण, कारण और तत्त्वों का क्रमशः वर्णन है। प्रथम चार अंग पतञ्जलि के अष्टांगयोग से समता रखते हैं। पातञ्जल—योग की समाधि के स्थान पर यहाँ स्मरण प्रयुक्त है। प्राणायाम का अन्य की अपेक्षा कुछ विस्तार से वर्णन मिलता है। प्राणायाम के चार प्रयोजन शान्ति, प्रशान्ति, दीप्ति और प्रसाद का सलक्षण उल्लेख हुआ है। स्वस्तिक, पद्म, अर्द्ध, समजानु, एकजानु, उत्तान, सुस्थित आदि आसन, प्राणायाम तथा धारणा की प्रक्रिया और इनसे लभ्य सिद्धियों का भी उल्लेख है। योगाभ्यास के लिए वर्जित स्थान, योग—साधन के खतरे, प्राणायाम के अनुचित अभ्यास से उत्पन्न कष्टों और उनकी चिकित्सा, योग में प्रगति के चिह्नों आदि का यहाँ वर्णन है। महेश्वर के षडङ्ग तत्त्वों — सर्वज्ञता, तृप्ति आदि, बुद्धि, स्वतंत्रता, नियत अविनश्वर शक्ति और अनन्त शक्ति का उल्लेख है। योगियों के आठ ऐश्वर्यों अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और कामवसायिता के वर्णन के साथ—साथ नरक—प्राप्ति से होने वाली यातनाओं का भी यहाँ वर्णन है। अध्याय १५ में पाशुपत—योग—सम्पादन की विधि बताई गई है। पञ्चधर्मों की महत्ता प्रतिपादित करते हुए प्राणायाम की विशिष्ट महत्ता प्रतिपादित की गयी है।<sup>१</sup> यहाँ

<sup>१</sup> प्राणायामैर्दहोषाश्चारणाभिश्च किल्बिषम्।  
प्रत्याहारेण विषयान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान्॥  
तस्मायुक्तः सदा योगी प्राणायामपरो भवेत्।  
सर्वपापविशुद्धात्मा परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ वायु० १०/९३—९४

योगसाधना से पशुपति शिव को प्राप्त कराने वाले मार्ग को 'पाशुपतयोग' कहा गया है।

इस प्रकार प्रकृत पुराण में मुख्यतः सर्ग और प्रतिसर्ग सम्बन्धी अध्यायों में सांख्य—दर्शन का प्रभूत विवेचन हुआ है। पुराणों में सेश्वर सांख्य का विवेचन हुआ है। अतएव यह विवरण निरीश्वर सांख्य से किञ्चित् भिन्न है। सांख्य पुरुष के साथ नारायण और ब्रह्मा के समन्वय पर सांख्य का व्यापक प्रमाण है। इस प्रकार पुराणकारों ने पुराणोंके माध्यम से सांख्य दर्शन को अन्य सेश्वर दर्शनों की कोटि में लाने का अथक प्रयास किया है। प्रसंगवश शैव और वैष्णव धर्मों के प्रभावस्वरूप शैव और वैष्णव दर्शनों का भी यत्किञ्चित् विवेचन हुआ है । माहेश्वर—योग—निरूपण की पातञ्जल्य योग से अस्पष्ट सामानता यहाँ देखी जा सकती हैं।





{खण्ड—ग}  
'संस्कृति'

- चातुर्वर्ण्य—व्यवस्था एवं अन्य जातियाँ
- आश्रम—व्यवस्था
- संस्कार
- आर्थिक—दशा
- स्त्री—दशा
- शिक्षा
- स्वास्थ्य एवं रोग
- मनोविनोद
- जीव—जन्तु
- वानस्पतिक—सम्पदा
- अस्त्र—शस्त्र एवं अन्य युद्धोपयोगी सामग्री
- खाद्य एवं पेय
- वस्त्र और आभूषण

## संस्कृति

वायुपुराण में प्राचीन भारतीय संस्कृति के परिचायक विभिन्न तत्त्वों (वर्णाश्रम—व्यवस्था, शिक्षा, संस्कार, मनोविनोद, वस्त्राभूषण आदि) का सुस्पष्ट एवं विस्तृत वर्णन हुआ है। यहाँ इन तत्त्वों का संक्षेप में गवेषणापूर्ण विवेचन प्रस्तुत है।

### चातुर्वर्ण्य—व्यवस्था तथा अन्य जातियाँ

पौराणिक युग में चातुर्वर्ण्य—विभाजन सामाजिक व्यवस्था का विधायक है। वैदिक काल से ही समाज चार वर्णों — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में बँटा चला आ रहा है। यवन, दास, चाण्डाल, निषाद, म्लेच्छ आदि विदेशी आक्रमणकारी जातियों को भी पौराणिक युग में चातुर्वर्ण्य —व्यवस्था के अन्तर्गत ही स्थान दिया गया है। इस विषय में मनुस्मृति में उल्लिखित है कि इन जातियों की गणना उन क्षत्रियों में की गई है जो कि उपनयन, अध्ययन, यजन आदि कर्मों के अभाववश शूद्र माने गये हैं।<sup>१</sup>

अध्येय पुराण में इस व्यवस्था की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि प्रत्येक युग का अवसान होने पर समाज में अव्यवस्था आ जाती है<sup>२</sup> अतः समाज को व्यवस्थित करने के लिए उनके वर्ग, कर्म आदि को निश्चित करना आवश्यक हो जाता है। त्रेतायुग में धर्म की मर्यादा के स्थापनार्थ तथा पापाचार की निवृत्ति हेतु यह कार्य किया गया था। यहाँ यह भी स्पष्टतः कथित है कि ब्रह्मा ने प्रजावर्ग के हित में वर्णाश्रम—धर्म की व्यवस्था की लेकिन उनके द्वारा इसका अनुपालन न करने पर उनके बीच विवाद खड़ा हो गया था।<sup>३</sup> देववर्ग को भी चातुर्वर्ण्य युक्त कहकर इस व्यवस्था की प्रशंसा की गई।<sup>४</sup> वास्तव में

<sup>१</sup> मनु० १०/४३-४४

<sup>२</sup> वायु०, ५८/४,६

<sup>३</sup> तत्रैव, ५७/५५-६०, ८/१६७-१६८

<sup>४</sup> तत्रैव, ३०/६७

चारों वर्ण अपने-अपने कर्तव्यों से एक-दूसरे को अनुगृहीत करते हैं।<sup>१</sup> त्रेतायुगीन वर्ण-व्यवस्था को सर्वसम्पन्न कहा गया है।<sup>२</sup>

ब्रह्मा से इनकी उत्पत्ति मानते हुए कहा गया है कि शुभाशुभ कर्म के गुरुत्व और लघुत्व के अनुसार यथाक्रम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चतुर्विद्य प्रजा उत्पन्न हुई।<sup>३</sup> अन्यत्र विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मणों की, वक्षस्थल के पूर्वभाग से क्षत्रियों की, उरु प्रदेश से वैश्यों और चरणों से शूद्रों की उत्पत्ति मानी गयी है।<sup>४</sup> एक स्थल पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को द्विजाति की संज्ञा दी गई है<sup>५</sup> किन्तु एक अन्य स्थल पर केवल ब्राह्मणों के लिए द्विजाति शब्द प्रयुक्त हुआ है।<sup>६</sup>

वर्णचतुष्टय सम्बन्धी कतिपय अन्य विशिष्ट तथ्य इस प्रकार हैं—

#### ब्राह्मण—

कृतयुग को ब्राह्मणों का युग कहा गया है।<sup>७</sup> पुराणकाल में ब्राह्मण एवं विद्या में अभेद्य सम्बन्ध था। ब्राह्मण उन्हें कहा गया जो क्षत्रियों के निकट निर्भय होकर जाते थे, सत्यवादी और सर्वभूतों में ब्रह्मज्ञान सम्पन्न थे।<sup>८</sup> त्रेतायुग में वेदों का प्रचार एवं प्रसार इन्हीं के द्वारा किया गया था।<sup>९</sup> वसिष्ठ को वेद का निर्णायक घोषित किया गया है।<sup>१०</sup> अन्यत्र ब्राह्मणों को वेद-वेदांगों का पारगामी विद्वान् कहा गया है।<sup>११</sup> शिव-स्तोत्र में कहा गया है कि शिव-स्तुति से ब्राह्मण

---

<sup>१</sup> वायु०, ५७/५२

<sup>२</sup> तत्रैव, ५७/५१-५४

<sup>३</sup> तत्रैव, ८/३९

<sup>४</sup> तत्रैव, ६/७७; ९/१२१-१२२

<sup>५</sup> तत्रैव, ५९/२१

<sup>६</sup> तत्रैव, ६२/२२

<sup>७</sup> तत्रैव, ७८/३६

<sup>८</sup> तत्रैव, ८/१६३

<sup>९</sup> तत्रैव, ५७/६०

<sup>१०</sup> तत्रैव, ५४/१८

<sup>११</sup> तत्रैव, ६३/६

वेदज्ञ बनता है।<sup>१</sup> ब्रह्मा द्वारा ब्राह्मणों के याजन, अध्यापन एवं प्रतिग्रह तीन कर्म बतलाये गये हैं।<sup>२</sup> ब्राह्मणों ने नृप जनमेजय का यज्ञ सम्पन्न कराया था।<sup>३</sup> इससे इनका यज्ञानुष्ठान से सीधा सम्बन्ध व्यक्त होता है। यज्ञ की प्रतिष्ठा विप्र की दक्षिणा में सन्निहित है।<sup>४</sup> ब्राह्मणों को देवों का मुख कहकर उन्हें दान देना उचित बताया गया है।<sup>५</sup>

प्रकृत पुराण के अध्याय ७९ में ब्राह्मणों के करणीयाकरणीय कर्तव्यों अथ च पंक्तिपावन और पंक्तिदूषक ब्राह्मणों का विस्तृत उल्लेख मिलता है। यहाँ यह भी स्पष्टतः उल्लिखित है कि ब्राह्मणों का कार्य—क्षेत्र वेदाध्ययन—अध्यापन, जप—तप एवं पौरोहित्य तक सीमित न था। वे संकट के समय सैनिक वृत्ति भी अपना सकते थे। राजा की अनुपस्थिति में उनकी आज्ञा से स्वयं शासन करते थे। यहाँ स्पष्टतः आख्यात है कि अयोध्यापति त्रय्यारुण और उनके पुत्र सत्यव्रत के राज्य छोड़ने पर पुरोहित वसिष्ठ ने स्वयं अयोध्या का शासन संभाला था।<sup>६</sup> ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के विषय में उल्लिखित है कि इनके आचरण के विषय में कभी तर्क नहीं करना चाहिए।<sup>७</sup> किसी की मृत्यु हो जाने पर ब्राह्मणों को दस रात्रि का अशौच (सूतक) लगता है।<sup>८</sup> जो ब्राह्मण प्रतिपर्व में विप्रों को शिवस्तोत्र सुनाता है वह निःसन्देह रुद्रलोक प्राप्त करता है।<sup>९</sup> लोकान्तर में ब्रह्मा ने इनके लिए प्राजापत्य स्थान निर्दिष्ट किया है।<sup>१०</sup> ब्राह्मणवर्ण सम्बन्धित और भी अनेक विशिष्ट तथ्यों का यहाँ उल्लेख हुआ है।<sup>११</sup>

<sup>१</sup> वायु०, ५४/१११

<sup>२</sup> तत्रैव, ८/१६९

<sup>३</sup> तत्रैव, ९९/२२९, २५०

<sup>४</sup> तत्रैव, १०६/४२

<sup>५</sup> तत्रैव, ५०/२००

<sup>६</sup> तत्रैव, ८८/९४

<sup>७</sup> तत्रैव, ७९/५

<sup>८</sup> तत्रैव, ७९/२२—२३

<sup>९</sup> तत्रैव, ३०/३२१

<sup>१०</sup> तत्रैव, ८/१७३—१७५

<sup>११</sup> ब्राह्मण—सम्बन्धी कतिपय अन्य विशिष्ट स्थलः ६२/१०६, ३४/७४, ४९/४८, ४१/४८, ३८/६२..., ५९/१०७, ४८/२३, ३४/९३, ५४/६६..., ४२/४९, ४९/१३५, ४२/६१, ४१/६२, ६८, ९९/१२७—४२, ९८/८८—१०५, ५८/३६, ५/३५, ६१/८०—९०, ६१/९३..., १००/४९..., १००/३४—३५, ६५/१६..., ७/७२—७५, ६५/३१..., ६२/११३—११५, ९३/६६, १००/२४६, १०१/१६३ इत्यादि।

### क्षत्रिय :

अध्येय पुराण में सामान्यतः क्षत्रियों के लिए 'क्षत्रिय' पद ही प्रयुक्त हुआ है पर कहीं—कहीं 'क्षत्र' और 'राजन्य' शब्द भी देखने को मिलते हैं। धर्मशास्त्रों के अनुसार शासन करना, यथासमय युद्ध में भाग लेना तथा राज्य की रक्षा करना राजा का प्रथम एवं प्रधान कर्तव्य है। प्रकृत पुराण में वर्ण—चतुष्टय की कर्म—व्यवस्था प्रसंग में इन्हें बलवान् एवं भूमिपति कहा गया है तथा दूसरों की रक्षा का भार इन्हें सौंपा गया है।<sup>१</sup> अन्यत्र बल, शासन और युद्ध इनके जीविकोपाय निर्दिष्ट हैं।<sup>२</sup> शिवस्तोत्र के माहात्म्यप्रसंग में विवेचित है कि इसके पठनमात्र से क्षत्रियों को पृथ्वी—विजय में सफलता प्राप्त होती है।<sup>३</sup> त्रेतायुग क्षत्रियों का युग कहा गया है।<sup>४</sup> किसी की मृत्यु होने पर क्षत्रियों को बारह रात का अशौच लगने का भी विवरण है।<sup>५</sup> ब्रह्मा ने इनके लिए ऐन्द्रस्थान निर्दिष्ट किया है।<sup>६</sup> राजा पृथु को ब्राह्मणों द्वारा नमस्करणीय कहकर इनकी उत्कृष्टता व्यक्त की गई है।<sup>७</sup> प्रजापालन के सन्दर्भ में यहाँ उद्धृत है कि राजा ययाति ने समाज को आतंकित करने वाले दस्युओं का गतिरोध किया था तथा चारों वर्णों को प्रसन्न किया था।<sup>८</sup> राजा वृहदश्व के वंशधरों की यज्ञ एवं दक्षिणामूलक प्रवृत्तियों का भी उल्लेख है।<sup>९</sup> भोजवंशीय क्षत्रियों को अनेक अश्वमेध तथा दक्षिणाओं का श्रेय दिया गया है।<sup>१०</sup> राजावसु के विषय में आख्यात है कि महर्षियों ने यज्ञ—विषयक विवाद के समझौते के लिए उनसे परामर्श लिया था।<sup>११</sup> इसके अतिरिक्त इसमें इक्ष्वाकुवंशीय राजा मनु की यौगिक

---

<sup>१</sup> वायु०, ८/१६२

<sup>२</sup> तत्रैव, ८/१६९

<sup>३</sup> तत्रैव, ५४/१११

<sup>४</sup> तत्रैव, ७८/३६

<sup>५</sup> तत्रैव, ७९/२२—२३

<sup>६</sup> तत्रैव, ८/१७३—१७५

<sup>७</sup> तत्रैव, ६३/६

<sup>८</sup> तत्रैव, ९३/६६

<sup>९</sup> तत्रैव, ८८/३१

<sup>१०</sup> तत्रैव, ३२/५२

<sup>११</sup> तत्रैव, ५७/१०३

साधना का वृत्तान्त मिलता है।<sup>१</sup> राजा वृहदश्व के सभी पुत्र विद्या में पारंगत थे,<sup>२</sup> जिससे क्षत्रियों की शिक्षा की ओर संकेत मिलता है। वैन्य के गुण—कथन प्रसंग में उन्हें 'क्षेत्रपाल' शब्द से अभिहित किया गया है जिससे यह व्यञ्जित होता है कि राजा के संरक्षण में कृषि का विकास अपेक्षित माना जाता था।<sup>३</sup> इसके अतिरिक्त वायुपुराण में विभिन्न क्षत्रियों के विशिष्ट गुणों (ब्रह्मवादी, क्षमाशील, दानपरायणता, सत्यभाषी, यज्ञकर्त्ता, परमबलवान्, बुद्धिमान् इत्यादि) का भी अनेकत्र उल्लेख हुआ है।<sup>४</sup>

### क्षत्रिय और ब्राह्मण :

ब्राह्मणों द्वारा क्षात्र—धर्म को स्वीकर करने का स्पष्ट कथन है।<sup>५</sup> सम्राट् भरत के पालन—पोषण के कारण दिव्यविभूति सम्पन्न भरद्वाज ब्राह्मणत्व से क्षत्रित्व को प्राप्त हुए। इनके वंश में उत्पन्न सभी क्षत्रियोचित गुण—धर्म समन्वित ब्राह्मण कहे गये।<sup>६</sup> इसी प्रकार मैत्रेय वंश में उत्पन्न सभी क्षत्रियगुणधर्म समन्वित द्विजाति कहलाये।<sup>७</sup> इसके अतिरिक्त वर्ण—परिवर्तन सम्बन्धी अनेक उद्धरण यहाँ विकीर्ण हैं। ऐसे और भी अनेक स्थल हैं जो क्षत्रिय व ब्राह्मणों के परस्पर विशिष्ट सम्बन्ध को अथवा क्षत्रियों द्वारा ब्राह्मणत्व और ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियत्व ग्रहण करने को सूचित करते हैं।<sup>८</sup>

<sup>१</sup> वायु०, ८८/२०९

<sup>२</sup> तत्रैव, ८८/३०

<sup>३</sup> तत्रैव, ९४/२४,

क्षत्रिय सम्बन्धी अन्य स्थल : १००/२४६, ८८/१२०, ९८/९१, ९९/४४९, ९९/३२८, ८८/२१०, ९९/४३८—४०, २८/२७, ९९/२९३, ९९/२८, ८८/४, ९९/११६, ९९/२४६, ९९/४३१—४३३, ९६/२२४, ९९/४३३, ९९/४४२, ९९/६९, ९९/७५, ९९/९१, ९४/३९, ८८/१४२—१४३ इत्यादि।

<sup>४</sup> तत्रैव, ९१/१०४, ९९/१३२—१३५, ९३/५०६, ८८/३२—४५, ९६/१८३, ९९/३०—३२, ८८/२१०, ९३/१४, ९३/१०२, ९९/२३४, ९९/४३७—४०, ५७/१२१—१२३, ९९/११४—११८, ८८/८८ इत्यादि।

<sup>५</sup> तत्रैव, ८८/७

<sup>६</sup> तत्रैव, ९९/५७—६४

<sup>७</sup> तत्रैव, ९९/२०६—८

<sup>८</sup> तत्रैव, ९९/९४; ९९/२७—२९; ६५/१०६; ९२/३—६; ९९/९३.....; ९३/७७; ९९/८९—९०; ९९/६५....; २८/३४—५; ९९/१४२—५८ इत्यादि।

### वैश्य :

अधिकांश स्थलों पर वैश्यों के लिए वैश्य के अतिरिक्त 'विश' पद भी प्रयुक्त हुआ है। इनके कर्म एवं स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों की अपेक्षा क्रूरकर्म करने वाले और यम की तरह जानबूझकर पृथ्वी पर प्रजाओं का नाश करते थे उन्हें 'कीनाश' पद से अभिहित कर वैश्य कहा गया और उन्हें सर्वसाधारण के वृत्ति—साधन कार्य में लगाया।<sup>१</sup> पशुपालन, वाणिज्य और कृषि द्वारा जीविका निर्वाह करना तो विहित है ही।<sup>२</sup> यज्ञ, अध्ययन एवं दान भी वैश्यों के प्रमुख कर्तव्य कहे गये हैं।<sup>३</sup> वैश्य के लिए जीविका की प्रेरणा राजा की अनुकम्पा मानते हुए इनके निम्न स्तर को प्रस्तुत किया गया है।<sup>४</sup> त्रेतायुग के वर्णन में उल्लिखित है कि वैश्य लोग क्षत्रियों की आज्ञा का पालन करते थे।<sup>५</sup> राजा ययाति द्वारा पुरु की यौवनावस्था ग्रहण करने के उपरान्त वैश्यों को व्यापारादि में उपयुक्त सहायता देकर सन्तुष्ट करने का भी उल्लेख है।<sup>६</sup> एक स्थल पर इन्हें पापी बताते हुए शूद्रों के साथ परिगणित किया गया है।<sup>७</sup> जीविका के लिए विद्या का क्रय—विक्रय वैश्यों की वृत्ति है किन्तु ब्राह्मणों के लिए यह पातक कर्म कहा गया है।<sup>८</sup> नरकवर्णन में कथित है कि दूध, मदिरा, मांस, लाक्षा, सुगन्धित पदार्थ तैल, इत्र आदि वस्तुओं का विक्रेता घोर 'पूयवह' नरक को,<sup>९</sup> अश्व को चुगकर विक्रय करने वाला वणिक 'तप्तलोह' नरक को<sup>१०</sup> तथा वैश्यों की हत्या करने वाले 'ताल' नामक नरक को जाता है।<sup>११</sup> वैश्य सम्बन्धी अन्य विशिष्ट तथ्य;

<sup>१</sup> वायु०, ८/१६४—१६५

<sup>२</sup> तत्रैव, ८/१७१

<sup>३</sup> तत्रैव, ८/१७१—१७२

<sup>४</sup> तत्रैव, ६३/१०

<sup>५</sup> तत्रैव, ५७/५०

<sup>६</sup> तत्रैव, ९३/६६

<sup>७</sup> तत्रैव, ३०/३२०—१

<sup>८</sup> तत्रैव, ७९/७६

<sup>९</sup> तत्रैव, १०१/१६२

<sup>१०</sup> तत्रैव, १०१/१५४

<sup>११</sup> तत्रैव, १०१/१५३

जैसे किसी की मृत्यु पर पन्द्रह दिवस का अशौच,<sup>१</sup> द्वापरयुग से उनका विशिष्ट सम्बन्ध,<sup>२</sup> शिव—स्तोत्र पठनमात्र से व्यापार—लाभ,<sup>३</sup> तथा ब्रह्मा द्वारा धन—लाभ<sup>४</sup> मारुत स्थान<sup>५</sup> आदि भी उल्लेखनीय है।

### शूद्र :

शूद्रों को 'वृषल' भी कहा गया है।<sup>६</sup> इनके स्वरूप एवं कर्म पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जो शोक करते हुए इतस्ततः भ्रमण करते हैं, निस्तेज होते हैं उन्हें शूद्र कहा गया और उन्हें परिचर्या—कार्य में लगाया गया।<sup>७</sup> द्विजातियों की सेवा करना एवं उनसे भरण—पोषण पाना उनका सर्वप्रमुख कर्तव्य था। त्रेतायुग के वर्णन प्रसंग में शूद्रों का तीनों श्रेष्ठ वर्णों की सेवारूप यज्ञ प्रधान धर्म माना गया है।<sup>८</sup> किन्तु यदि वह उच्च वर्णों की सेवा से अपनी या अपने कुटुम्ब की जीविका नहीं चला पाता था तो बड़ईगीरी, चित्रकारी, पच्चीकारी, रंगसाजी आदि से निर्वाह कर लेता था।<sup>९</sup> कलियुग को शूद्रों का युग कहा गया है।<sup>१०</sup> कलियुग—प्रसंग में आख्यात है कि कलियुग में शूद्र लोग संन्यासियों का वेश धारण कर तपस्या में निरत हो जायेंगे।<sup>११</sup> कलियुग में ब्राह्मणों का शूद्रों के साथ शयन, आसन एवं भोजनादि में सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। राजा लोग अधिकतर शूद्र जाति के होंगे।<sup>१२</sup> श्राद्धोच्छिष्ट अन्न ऐसे शूद्रों

<sup>१</sup> वायु०, ७९/२२—२३

<sup>२</sup> तत्रैव, ७८/३६

<sup>३</sup> तत्रैव, ५४/१११

<sup>४</sup> तत्रैव, १००/२४६

<sup>५</sup> तत्रैव, ८/१७३—१७५

वैश्यों से सम्बन्धित अन्य विशिष्ट स्थल : ९४/३९, ५०, ५८/५१—५२; ५८/३८, ९९/१०६—१०७ इत्यादि।

<sup>६</sup> तत्रैव, ७८/२९ इत्यादि।

<sup>७</sup> तत्रैव, ८/१६५—१६६

<sup>८</sup> तत्रैव, ५७/५०

<sup>९</sup> तत्रैव, ८/१७१

<sup>१०</sup> तत्रैव, ७८/३६

<sup>११</sup> तत्रैव, ७९/६९

<sup>१२</sup> तत्रैव, ३८/३९



के लिए वर्जित कहा गया है जो अनुचर न हों।<sup>१</sup> ये कथन इनके दयनीय स्तर को स्पष्ट करते हैं। यदि शूद्र मोक्षार्थी है तो उसे चाहिए वह भक्ति में निमग्न रहे, मदिरापान न करे, इन्द्रियों को संयत रखे तथा निर्भय रहे तो वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है।<sup>२</sup> शिव—स्तोत्र के श्रवण—मात्र से शूद्र रुद्रलोक प्राप्त कर लेते हैं।<sup>३</sup> नीलकण्ठ—स्तव श्रवण से शूद्र सुख पाता है।<sup>४</sup> किसी की मृत्यु होने पर शूद्र को एक मास का अशौच लगता है।<sup>५</sup> ब्रह्मा ने शूद्रों के लिए गन्धर्व स्थान निर्दिष्ट किया है।<sup>६</sup>

### दास/दस्यु एवं चाण्डाल :

यहाँ दस्यु तथा श्वपाक (चाण्डालों) की भी अनेकत्र झलक देखने को मिलती है लेकिन यह स्पष्ट नहीं होता है कि दस्यु दास जाति या वर्ण है अथवा मात्र सेवक। कुछ स्थलों पर दस्युपद चोरों का भी वाचक है। राजासत्यव्रत का पित्राज्ञा से चाण्डालों के समीप निवास करने, तथा उनके समान आचरण (दस्युधर्म) करने का स्पष्ट उल्लेख है।<sup>७</sup> इनके स्पर्श से उत्पन्न पाप का निराकरण प्रायश्चित्त द्वारा होता है।<sup>८</sup> एक अन्य स्थल पर मिलता है कि चाण्डालस्पर्श होने पर मृत्तिका से सवस्त्र बारह बार स्नान करने पर शुद्धि होती है।<sup>९</sup> अन्यत्र भी इनके स्पर्श, दर्शन, आचरण आदि को निन्दनीय कहते हुए इसकी अधम कोटि की योनि का अस्पष्ट संकेत मिलता है।<sup>१०</sup> राजा ययाति के विषय में आख्यात है कि उन्होंने चोरों (दस्यु) को शान्त किया था।<sup>११</sup> कुश—द्वीप के पार्वत्य प्रदेशों को दस्यु या म्लेच्छों से रहित कहा

<sup>१</sup> वायु०, ७९/८३

<sup>२</sup> तत्रैव, १०१/३५३—३५४

<sup>३</sup> तत्रैव, ५४/१११

<sup>४</sup> तत्रैव, ८/१७३—१७५

<sup>५</sup> तत्रैव, ७९/२२—२३

<sup>६</sup> तत्रैव, ८/१७३—१७५

<sup>७</sup> तत्रैव, ८८/८२, ८४/१०४—१०५

<sup>८</sup> तत्रैव, ७८/६७

<sup>९</sup> तत्रैव, ७८/६७

<sup>१०</sup> तत्रैव, ७९/३९, ४९; ८०/८२, ९३ १०५; १०२/१००

<sup>११</sup> तत्रैव, ९३/६६

है।<sup>१</sup> राजा शन्तनु की दूसरी पत्नी दासेयी थी जिसने विचित्रवीर्य को उत्पन्न किया था।<sup>२</sup> सत्यवती को दास—पुत्री कहा गया है।<sup>३</sup> ऋग्वेद<sup>४</sup> की भाँति दासियों के दान का यहाँ भी उल्लेख हुआ है; राजा जनक ने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता को परखने के लिए योजनानुसार ग्राम, रत्न, और सुवर्ण के साथ दास—दासियों के समूह भी भेंट किये थे।<sup>५</sup> अतः प्रतीत होता है कि पुराणों में दस्यु का अर्थ चोर है, वह वैदिक दस्यु के समान जाति नहीं थे। दास एक प्रकार का सेवक वर्ग था जिसके विविध प्रभेदों का उल्लेख स्मृति—साहित्य में मिलता है।

### वर्ण—संकर :सूत, मागध और वन्दी :

वर्ण—संकर का संकेत यहाँ कई स्थलों पर देखने को मिलता है।<sup>६</sup> इनके सामाजिक बहिष्कार एवं निकृष्ट स्तर पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि विकृत वर्ण वालों के यहाँ से भिक्षान्न ग्रहण करना जघन्य वृत्ति है।<sup>७</sup> सूत और मागध की उत्पत्ति के विषय में आख्यात है कि राजा पृथु के यज्ञ में सामगान के अवसर पर इन्द्र को दिये जाने वाले द्रव्य के साथ वृहस्पति का द्रव्य मिश्रित हो जाने के परिणामस्वरूप सूत और मागध उत्पन्न हुए। साधर्म्य (क्षत्रिया से ब्राह्मण द्वारा उत्पन्न) के कारण सूत क्षत्रिय तुल्य धर्म वाले कहलाये।<sup>८</sup> अन्यत्र सूती के गर्भ से इनकी उत्पत्ति कही गयी है।<sup>९</sup> सूतों के धर्म, कर्म पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि सारथि की जीविका अर्थात् रथ, हाथी, घोड़ों के परिचालन का काम मध्यम तथा

<sup>१</sup> वायु०, ४९/५५

<sup>२</sup> तत्रैव, ९९/२४९

<sup>३</sup> तत्रैव, ७३/२९

<sup>४</sup> ऋग्वेद ८/५६/३; ८/५/३८; ८/१९/३६ इत्यादि ।

<sup>५</sup> वायु०, ६०/३७

<sup>६</sup> तत्रैव, वर्ण—संकर की दयनीय स्थिति के सूचक स्थल : ५८/८०, ९८; ८३/११२; ९३/४३; ९८/१२९; ९९/४२५; १०४/१३ इत्यादि।

<sup>७</sup> तत्रैव, १६/१३

<sup>८</sup> तत्रैव, १/३४—३७

<sup>९</sup> तत्रैव, ६२/१३९

चिकित्सा कर्म जघन्य धर्म है।<sup>१</sup> राजा पृथु की स्तुति के लिए देवताओं और ऋषियों ने सूतों और मागधों को आमन्त्रित किया था।<sup>२</sup> तभी से पृथ्वीपति राजाओं की स्तुति करना सूतों और मागधों का अनिवार्य कर्म बन गया है। राजा लोग सूतों, मागधों, और वन्दीगणों के आशीर्वाद द्वारा प्रातःकाल जगाये जाते थे।<sup>३</sup> राजा पृथु ने सूतों के लिए अनूपदेश और मागधों को मगध प्रदेश दान में दिया।<sup>४</sup> स्मृति साहित्य में इनकी उत्पत्ति अनुलोम और प्रतिलोमक्रम से बताई गई है।<sup>५</sup>

### अन्य मिश्रित जातियाँ :

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र प्रमुख जाति अथवा वर्णों के अतिरिक्त कुछ उपजातियों (कुलाल, रजक, नापित आदि) का भी यहाँ उल्लेख हुआ है जो पेशे के आधार पर गठित की गयी प्रतीत होती हैं। पार्जिटर महोदय ने निषाद, पुलिन्द, दैत्य, राक्षस, नाग, दस्यु, पिशाच और म्लेच्छ आदि जातियों को आदिवासी, असभ्य, अशिक्षित, उद्दण्ड और शक्तिशाली रूप में प्रस्तुत किया गया है।<sup>६</sup> अध्येय पुराण में भी इन जातियों का उल्लेख प्रायः इसी रूप में हुआ है। भृगुवंशीय राजा प्रमति ने म्लेच्छ जातियों—गान्धार, पारद, पहलव, यवन, तुषार, वर्बर, चीन, शलिक, दरद, खस, लम्बक, केत और किरात का संहार किया था।<sup>७</sup> भविष्यत्कालीन वर्णन—प्रसंग में क्षत्र, पारशव, शूद्र, अन्ध्र, शक, पुलिन्द, तूलिका, यवन, कैवर्त, आभीर, शबर प्रभृति अन्यान्य म्लेच्छ जातियों का संकेत है।<sup>८</sup> एक स्थल पर वर्णसंकर एवं म्लेच्छ

<sup>१</sup> वायु०, १/३८; ६२/१४३ (यहाँ सूत का मध्यम धर्म क्षत्रियों के समान जीविका अर्जित करना तथा रथ, हाथियों का परिचालन और औषधि आदि निन्द्य कर्म कहे गये हैं।)

<sup>२</sup> तत्रैव, ६२/९७; ६२/१४४

<sup>३</sup> तत्रैव,, ६२/१५०

<sup>४</sup> तत्रैव, ६२/१४९

<sup>५</sup>

<sup>६</sup> Pargiter, F.E. : Ancient Indian Historical Tradition, 1922, A.D., P. 290-291.

<sup>७</sup> वायु० ५८/८२-८३

<sup>८</sup> तत्रैव, ९९/२६८-२६९

जाति द्वारा पितरों की पूजा का उल्लेख है।<sup>१</sup> म्लेच्छ जातियों का निवास स्थान हिमालय बताया गया है।<sup>२</sup> भारत के नवें द्वीप के अन्त में म्लेच्छों, पूर्व में किरातों और पश्चिम में यवनों के रहने का उल्लेख हुआ है।<sup>३</sup>

यशपाल टण्डन ने पुराण—विषय—समनुक्रमणिका में पंचम प्रकरण (जाति) के अन्तर्गत ब्रह्माण्ड० (२/१६/४०—६७) वामन० (१३/३६—५८) मत्स्य० (११४/३४—५६), वायु० (१/६४/१०९—३६) मार्क० (५४/३३—५९) के आधार पर विभिन्न देशीय जातियों की तालिका दी है जिनमें से अधिकांश की पहिचान आज भी गहन शोध का विषय है।<sup>४</sup>

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि समीक्ष्य पुराण में जातिप्रथा का सर्वांगीण स्वरूप उपस्थित किया गया है। समाज में ब्राह्मण और क्षत्रिय दो ही वर्णों की प्रधानता थी। ब्राह्मण—वर्ण का कर्मकाण्ड के अतिरिक्त राजनीति में भी दखल था। त्रेतायुगीन वर्णाश्रम को सर्वसम्पन्न बताया गया है। चातुर्वर्ण्य—व्यवस्था में वैदिक एवं पौराणिक प्रवृत्तियों का मिश्रण अवलोकनीय है।

### आश्रम—व्यवस्था

‘आश्रम’ शब्द ‘श्रम’ से बना है। ‘आ श्राम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रमः’ अर्थात् एक ऐसा जीवन—स्तर जिसमें व्यक्ति खूब श्रम करता है। जीवन—विकास की चार सीढ़ियाँ ही आश्रम के रूप में अभिप्रेत हैं। प्रायः सभी धर्मशास्त्रों में आश्रम—चतुष्टय की चर्चा है किन्तु नामों एवं अनुक्रम में थोड़ा हेर—फेर अवश्य पाया जाता है। वायुपुराण भी इस विषय से अछूता नहीं

<sup>१</sup> वायु०, ८३/११२

<sup>२</sup> तत्रैव, ४१/४६

<sup>३</sup> तत्रैव, ४५/८२

<sup>४</sup> तत्रैव, पुराण—विषय—समनुक्रमणिका, पृ० २९—३० :

है। इसमें आश्रम—व्यवस्था के स्वरूप, कारण, उद्देश्य, संख्या, कर्तव्याकर्तव्य आदि पर पूर्ण चिन्तन किया गया है।

आश्रम व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य धर्म माना गया है<sup>१</sup> और कहा गया है कि आश्रम—धर्म का पालन करने से व्यक्ति साधु—स्वभाव का होता है।<sup>२</sup> आश्रम—धर्म के नियमों का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को निन्द्य एवं नरकगामी माना गया है।<sup>३</sup> इसके गठन का कारण बताते हुए पुराणकार ने कहा है कि आश्रमों का चिन्तन इसलिए किया गया है ताकि समाज के सभी सदस्य अपने —अपने कर्तव्यों का समुचित रूप से पालन कर सकें।<sup>४</sup> वायुपुराण का कथन है कि विभिन्न वर्णों के धर्म को प्रतिष्ठित करने के उपरान्त ब्रह्मा ने चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा भिक्षुक (सन्यास)—को स्थापित किया।<sup>५</sup>

### ब्रह्मचर्याश्रम :

पुराण— व्यवस्थानुसार उपनयन— संस्कार सम्पन्न होने के उपरान्त बालक को ब्रह्मचर्य—निर्वाहार्थ तथा वेदाध्ययनार्थ गुरु—गृह का आश्रय लेना चाहिए । यहाँ ब्रह्मचारी को गुरुवासी कहा गया है।<sup>६</sup> ब्रह्मचारी के अपेक्षित कर्तव्यों के अन्तर्गत दण्ड, मेखला, जटाधारण, भूतल—शयन, गुरुशुश्रूषा, भिक्षा एवं विद्याभ्यास पालनीय धर्म कहे गये हैं।<sup>७</sup> ५९वें अध्याय में उक्त है कि ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य—बाधक कार्यों से पृथक् रहकर तथा चिन्ता, कल्पना से भी

<sup>१</sup> वर्णानामाश्रमाणां च संस्थितिर्धर्मतस्तथा । वायु० १/११०

<sup>२</sup> एवमाश्रमधर्माणं साधनात् साधवः स्मृताः । तत्रैव ५९/२५

<sup>३</sup> वेदाश्रमान्मुक्तचित्तः कुंभीकानधिगच्छति । तत्रैव, ८३/८९

<sup>४</sup> कुतः कर्माक्षितिं प्रादुर्गश्रमस्थानवासिनः ।

ब्रह्मा तान् स्थापयामास आश्रमान्ममनामतः ॥ तत्रैव, ८/१७८

<sup>५</sup> ततःस्थितेषु वर्णेषु स्थापयामास चाऽऽश्रमान् ।

गृहस्थो ब्रह्मचारित्वं वानप्रस्थं सभिक्षुकम् ॥ तत्रैव, ८/१७६

<sup>६</sup> स्मृतं तु तेषां तत्स्थानं तदेव गुरुवासिनाम् ॥ तत्रैव, ८/१६४

<sup>७</sup> दण्डी च मेखली चैव ह्यधःशायी तथा जटी ।

गुरुश्रूषणं भैक्ष्यं विद्यार्थं ब्रह्मचारिणः । तत्रैव, ८/१८२—१८३

उसमें अप्रवृत्त रहकर निवृत्तिपरक होते हुए इन्द्रिय—संयम का विकास करना चाहिए।<sup>१</sup> गुरु का हित करने वाला ब्रह्मचर्य व्रतपरायण विद्यार्थी विद्या की साधना में तन्मय रहने के कारण साधु कहा गया है।<sup>२</sup>

### गृहस्थाश्रम :

गृहस्थ आश्रम को अन्य आश्रमों का स्रोत माना गया है।<sup>३</sup> स्त्री—परिग्रह, अग्निहोत्रानुष्ठान,

अतिथिसत्कार, यज्ञश्राद्धादि कार्य और सन्तानोत्पादन गृहस्थों के विशिष्ट कर्तव्य कहे गये हैं।<sup>४</sup>

यहाँ स्पष्टतः कथित है कि गृहस्थ साधु कहलाने का अधिकारी उसी अवस्था में हो सकता है जबकि वह कर्मक्षेत्र में साधक की भाँति आचरण करे।<sup>५</sup> सद्गृहस्थधर्म का पालन करने वाले लोग मरने के बाद प्रजापति लोक में वास करते हैं।<sup>६</sup>

### वानप्रस्थाश्रम :

वानप्रस्थ के लिए प्राचीनकाल में संभवतः 'वैखानस' शब्द प्रयुक्त होता था। वायुपुराण में एक स्थल पर तृतीयाश्रम के निर्वाहार्थी को 'वैखानस' की संज्ञा दी गई है।<sup>७</sup> इस पंक्ति से वानप्रस्थी का मुख्य लक्ष्य अरण्य—वास तथा 'तपस्या' स्पष्ट होता है। वानप्रस्थ का क्रम गृहस्थाश्रम के बाद आता है। इस विषय में यहाँ आख्यात है कि बृहदश्व नृप ने

<sup>१</sup> मैथुनस्यासमाचारो ह्यचिन्तनमकल्पनम् ।

निवृत्तिं ब्रह्मचर्यं तदच्छिद्रं दम उच्यते ॥ वायु०, ४९/४६

<sup>२</sup> विद्यायाः साधनात्साधुर्ब्रह्मचारी गुरोर्हितः । तत्रैव, ५९/२३

<sup>३</sup> चातुर्वर्ण्यात्मकः पूर्व गृहस्थश्चाऽऽश्रमः स्मृतः ।

त्रयाणामाश्रमाणां च प्रतिष्ठा योनिरेव च ॥ तत्रैव, ८/१८०

<sup>४</sup> (क) दारग्न्योपाऽऽतिथेय इज्याश्राद्धक्रियाः प्रजाः ।

इत्येष वै गृहस्थस्य समासाद्धर्मसंग्रहः ॥ तत्रैव, ८/१८१—१८२

(ख) दारग्न्यहोत्रसंयोगमिज्यामारभतेति च ।

एवमुक्त्वा तु तं ब्रह्मा तत्रैवान्तरधीयत ॥ तत्रैव, ६७/८

<sup>५</sup> क्रियाणां साधनाच्चैव गृहस्थः साधुरुच्यते । तत्रैव, ५९/२३

<sup>६</sup> प्राजापत्यं गृहस्थानां न्यासिनां ब्रह्मणः क्षयम् । तत्रैव, ८/१९५

<sup>७</sup> साधनातपसोऽरण्ये साधुर्वैखानसः स्मृतः ॥ तत्रैव, ५९/२४

स्वपुत्र कुवलाश्व को राजोचित कार्यों का निर्देशन करने के उपरान्त स्वयं तपस्यार्थ पर्वत की ओर प्रस्थान किया था।<sup>१</sup> राजा ययाति ने सपत्नीक वनवास के लिए प्रयाण किया था।<sup>२</sup> अष्टम अध्याय में वानप्रस्थियों द्वारा करणीय धर्म पर प्रकाश डाला गया है।<sup>३</sup>

### संन्यासाश्रम :

इस आश्रम के कर्तव्य—निर्वाहार्थी को भिक्षु की संज्ञा दी गयी है।<sup>४</sup> प्रसंगान्तर में इसके लिए 'यति'<sup>५</sup> और परिव्राजक<sup>६</sup> शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। इस आश्रम के क्रम के विषय में आख्यात है कि ज्ञान—प्राप्ति आश्रम—त्रय के क्रमशः परित्यागोपरान्त अन्तिम आश्रम में होती है।<sup>७</sup> 'मित्रज्योति' पुत्रों ने गृहस्थ आश्रम का परित्याग करने के उपरान्त यतिधर्म का आश्रय लिया था।<sup>८</sup> इस आश्रम के नियमों का अनुसरणकर्ता बन्धन के कारणभूत शुभ और अशुभ कर्मों का परित्याग कर जब अपना पाञ्चभौतिक शरीर छोड़ता है तो वह जन्म—मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है।<sup>९</sup> मोक्षाभिलाषी मित्रज्योति के पुत्र भी यति—धर्म का पालन करते हुए ब्रह्मलीन हुए थे।<sup>१०</sup> पुराणकार ने ब्रह्मा द्वारा संन्यासियों के धर्म, आचार, यम—नियमादि के

<sup>१</sup> स तं व्यादिश्य तनयं धुम्भुमारणमुद्यतम्।

जगाम पर्वतायैव तपसे शंसितव्रतः ॥ वायु०, ८८/४७

<sup>२</sup> एवमुक्त्वा स राजर्षिः सदारः प्रस्थितो वनम्।

भृगुतुङ्गे तपस्तप्त्वा तत्रैव च महायज्ञाः ॥

पालयित्वा व्रतशतं तत्रैव स्वर्गमाप्नुयात् ॥ तत्रैव, ९३/१०२

<sup>३</sup> चीरपत्राजिनानि स्युर्धान्यमूलफलौषधम् ॥

उभे सन्ध्येऽवगाहश्च होमाश्चारण्यवासिनाम् ॥ तत्रैव, ८/१८३—१८४

<sup>४</sup> गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ॥ तत्रैव, ५९/२५; ८/१८६

<sup>५</sup> रागिणां च विरागाणां यतीनां ब्रह्मचारिणाम्। तत्रैव, १०४/२२

<sup>६</sup> (अ) आश्रमत्रयमुत्सृज्य प्राप्तस्तु परमाश्रमम्।

अतः संवत्सरस्यान्ते प्राप्य ज्ञानमनुत्तमम् ।

अनुज्ञाप्य गुरुं चैव विचरेत्पृथिवीमिमाम्।

सारभूतमुपासीतज्ञानं यज्ज्ञेयसाधकम् ॥ तत्रैव, १७/१—२

<sup>७</sup> ध्यानं समाधिर्मनसेन्द्रियाणां ससागरैर्भक्ष्यमथोपगम्य ।

मौनं पवित्रोपचितैर्विमुक्तिः परिव्रजो धर्ममिमं वदन्ति ॥ तत्रैव, ८/१८८

<sup>८</sup> संन्यस्य गृहधर्माणि वैराग्यं समुपस्थिताः ।

यतिधर्ममवाप्येह ब्रह्मभूयाय ते गताः ॥ तत्रैव, १३/७

<sup>९</sup> अवस्थितो ध्यानरतिर्जितेन्द्रियः शुभाशुभे हित्य च कर्मणी उभे।

इदं शरीरं प्रविमुच्य शास्वतो न जायते प्रियते वा कदाचित् ॥ तत्रैव, १७/८

<sup>१०</sup> तत्रैव, ९३/६

आदेश—स्वरूप कुछ कर्तव्य निश्चित किये हैं; जैसे जिस समय 'मुसल' शब्द नहीं सुना जाता हो उस समय भिक्षान्नार्थ पर्यटन करना, अस्तेय (चोरी न करना), शौच, सावधानता, संभोग से पराङ्मुख होना, प्राणियों के प्रति दया, क्षमा, अक्रोध, गुरुशुश्रूषा, सत्य बोलना। इनके अतिरिक्त सदाचार, विनय, शुद्धता, विलासहीनता और सम्यग्विवेचन—ये पाँच उपग्रह कहे गये हैं। ध्यान, इन्द्रिय—मन का संयम, सर्वत्र जाकर (बिना कटु वचन कहे) भिक्षा ग्रहण, शरीर या इन्द्रियों को सुख पहुँचाने वाले उपचारों का निरादर—ये संन्यासियों के धर्म कहे गये हैं,<sup>१</sup> क्योंकि केवल वेशभूषा, कमण्डलु आदि से कुछ होता—जाता नहीं, इन्हें तो वज्रक भी धारण कर सकता है। १७वें अध्याय में परमाश्रम (संन्यास)—विधि का विशेष कथन हुआ है।<sup>२</sup> १८वें अध्याय में यतियों के लिए विभिन्न प्रायश्चित्तों का उल्लेख हुआ है।<sup>३</sup> यतियों को सावधान करते हुए कहा गया है कि एक अन्न (बिना दूसरी वस्तु मिलाये) उसके लिए वर्जित है। इसके अतिरिक्त मधु, माँस, आमश्राद्ध और अधिक नमक का सेवन यतियों के लिए वर्जित कहा गया है।<sup>४</sup> संन्यासी अन्त में देव, पितर, ऋषि और मनु के निर्दिष्ट स्थान को प्रातः करता है।<sup>५</sup> अन्यत्र संन्यासी द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त करने का उल्लेख है।<sup>६</sup>

### महत्त्व :

प्रस्तुत पुराण में आश्रम—चतुष्टय की महत्ता तथा इसके फलाफल का प्रतिपादन करते हुए स्वयं ब्रह्मा ने कहा है कि सभी आश्रम कल्याण के लिए हैं, किन्तु सत्य, सरलता, दया, क्षमा, योग, याग, दम, वेद, वेदांग, यजन, व्रत, नियमादि कर्म, सद्भावना रहित श्रद्धाहीन

<sup>१</sup> वायु०, ८/१८४-१८८

<sup>२</sup> तत्रैव, १७/१-८

<sup>३</sup> तत्रैव, १८/१-१९

<sup>४</sup> एकान्तं मधु मांसं वा ह्यामश्राद्धं तथैव च।  
अभोज्यानि यतीनां च प्रत्यक्षलवणानि च ॥ तत्रैव, १८/२०

<sup>५</sup> एवं देवाः सपितर ऋषयो मनवस्तथा।  
तेषां स्थानममुष्मिस्तु संस्थितानां प्रचक्षते ॥ तत्रैव, ८/१९३

<sup>६</sup> तत्रैव, ८/१९५



व्यक्तियों के लिए फलप्रद नहीं है। जिसमें अन्तःशुद्धि नहीं है, वह पराक्रम करके भी कभी सफल नहीं हो सकता।<sup>१</sup>

इस प्रकार आलोच्य पुराण आश्रम के संदर्भ में पूर्ण जानकारी रखता है। आश्रम—व्यवस्था सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथ्य यहाँ स्पष्ट किए गए हैं। मुख्यतः आश्रमों के नाम, स्वरूप, क्रम, उद्देश्य आदि के साथ—साथ इनके अपेक्षित और अनपेक्षित (कर्तव्याकर्तव्य) तत्त्वों पर भी यहाँ प्रकाश डाला गया है। यह सम्पूर्ण विवरण धर्मसूत्रों आदि ग्रन्थों में वर्णित आश्रम—व्यवस्था से बहुत कुछ साम्य रखता है।

### संस्कार

शास्त्रविहित क्रियाएँ अथवा रीतियाँ जो विलक्षण योग्यता को उत्पन्न करती हैं 'संस्कार' कहलाती हैं। सामाजिक एवं धार्मिक क्रियारूप इन संस्कारों को व्यक्ति गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त श्मशान तक करता रहता है। प्राचीन ग्रन्थों में इन संस्कारों की संख्या में मतभेद पाया जाता है। मनुस्मृति<sup>२</sup> में तेरह संस्कारों (गर्भाधान, पुंसवन, सीमातोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, केशान्त, समावर्तन, विवाह और अन्त्येष्टि) का उल्लेख है। परवर्ती स्मृतियों में तीन और संस्कारों (कर्णवेध, विवाहाग्नि—परिग्रह तथा त्रेताग्नि—संग्रह) का समावेश हो जाने से इनकी संख्या सोलह हो गई और वर्तमान समय में यही मान्य है।

पौराणिक संस्कार—सम्बन्धी यहाँ उपलब्ध विवरण प्रासंगिक है, सोद्देश्य नहीं। इनका उद्देश्य संस्कारों का परिचय देना नहीं है। यहाँ विवाह संस्कार का ही विस्तृत उल्लेख मिलता

<sup>१</sup> सर्वे ते श्रेयसे प्रोक्ता आश्रमा ब्रह्मणा स्वयम्।  
सत्याज्वं तपः क्षान्तिर्योग्यया दमपूर्विका ॥

X X X  
सर्वस्वमपि यो दद्यात्कलुषेणान्तरात्मना ।

न तेन धर्मभाक्सः स्याद्भाव एवात्र कारणम् ॥ वायु०, ८/१८९—१९२

<sup>२</sup> मनु० २/१६, २६, १९

है, अन्य संस्कारों का विवरण संतोषप्रद एवं पर्याप्त नहीं है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि पुराणकाल में उनका अस्तित्व ही नहीं था अथवा इनका सम्पादन नहीं होता था। 'जातकर्मादि' में प्रयुक्त 'आदि' पद पुराणसम्मत संस्कारों की संख्या—बाहुल्य का द्योतक है। अध्येय पुराण में निम्नलिखित संस्कारों का निर्देश हुआ—

### पुंसवन :

इसे ही गर्भाधान संस्कार कहा जाता है। यह पुत्रोत्पत्ति विधायक संस्कार है।<sup>१</sup> इस संस्कार के विषय में वायुपुराण में आख्यात है कि राजा देववृध ने तेजस्वी तनय को प्राप्त करने की अभिलाषा से गर्भाधान—क्रिया को सम्पन्न किया था।<sup>२</sup> प्रचेताओं के विषय में उल्लिखित है कि इन्होंने मारिषा का पत्नी रूप में वरण किया तथा उसमें सब ने मानसिक संकल्प से गर्भाधान किया था।<sup>३</sup>

### जातकर्म :

यह संस्कार जन्मोपरान्त किया जाता है। श्राद्ध कर्म निरूपण में विविध पात्रों में दिये गये दान से प्राप्त फल की चर्चा में वर्णित है जातकर्म संस्कार को सामान्य रूप से शुद्धि—सुयोग का विषय माना गया है।<sup>४</sup> इस संस्कार का उल्लेख राजा सगर के आख्यान में भी हुआ है। 'मुनिवर' औरव ने उस तेजस्वी सगर के जातकर्मादि संस्कार सम्पन्न कराये थे।<sup>५</sup>

### मुण्डन :

मुण्डन—क्रिया का संकेत राजा सगर के आख्यान में मिलता है। वहाँ आख्यात है कि सगर ने गुरु के आदेश से शकों का आधा सिर, यवनों और कम्बोज के पूरे सिर मुण्डित

<sup>१</sup> 'पुमान् प्रसूयते येन तत् पुंसवनमीरितम्' संस्कार प्रकाश (मित्रमिश्र)

<sup>२</sup> 'तस्यामाधत्त गर्भं स तेजस्विनमुदारधीः । वायु० ९६/१२

<sup>३</sup> मारिषायां ततस्ते वै मनसा गर्भमादधुः । तत्रैव, ६३/६८

<sup>४</sup> पवित्रं वा द्विजश्रेष्ठ शुद्ध्ये जन्मकर्मसु । तत्रैव, ७५/६८

<sup>५</sup> औरवस्तु जातकर्मादीन्कृत्वा तस्य महात्मनः । तत्रैव, ८८/१३४

कराकर छोड़ दिये थे, पारदों के केश छोड़कर मूँछ—दाढ़ी मुण्डित करादिये तथा पहल्वों को केवल दाढ़ी रखवा कर छोड़ दिया था।<sup>१</sup> गयाख्यान में स्पष्ट निर्दिष्ट है कि गयातीर्थ के पूर्व, पश्चिम, दक्षिण एवं उत्तरदिशा में मुण्डन क्रिया की जा सकती हैं।<sup>२</sup> एक स्थल पर कुरुक्षेत्र, विशाला, विरजा एवं गया तीर्थों को छोड़कर अन्य सभी तीर्थों में मुण्डन एवं उपवास में करने का निर्देश है।<sup>३</sup>

### यज्ञोपवीत :

यज्ञोपवीत का सम्बन्ध उपनयन संस्कार से है। इसका उल्लेख श्राद्ध—कल्प निरूपण में मिलता है। इसकी पवित्रता को इंगित करते हुए कहा गया है कि अज्ञानवश बिना यज्ञोपवीत के भोजनादि वस्तुओं का स्पर्श कर आचमन करने पर भी अपवित्र रहता है।<sup>४</sup> जो धर्मात्मा मनुष्य श्राद्धकर्म में यज्ञोपवीत का दान करता है उसे ब्रह्मविद्या के दान का फल प्राप्त होता है।<sup>५</sup>

### विवाह :

पाणिग्रहण (विवाह) एक पवित्र (मांगलिक कार्य) और करणीय कर्म व संस्कार है, जिस पर समाज का जीवन निर्भर करता है। इसकी महनीयता के कारण ही इसे नियमों और मर्यादाओं से बाँध दिया गया है। अध्येय पुराण में इसका विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। विवाह का उद्देश्य सन्तान परम्परा को अक्षुण्ण रखना है। स्त्री अवध्य है और उसके जीवन से लोकवृद्धि सम्भव है।<sup>६</sup> विवाह संस्कार के मंत्रों की समाप्ति सातवें चरण में होती है। इस विषय

<sup>१</sup> अर्ध शकानां शिरसो मुण्डयित्वा विसर्जयत्।

यवनां शिरः सर्वं काम्बोजानां तथैव च ।

पारदा मुक्तकेशाश्च पहलवाः शमश्रुधारिणः । वायु०, ८८/१४०—१४१

<sup>२</sup> मुण्डं कुर्याच्च पूर्वोऽस्मिन्पश्चिमे दक्षिणोत्तरे । तत्रैव, ५/२८

<sup>३</sup> तत्रैव, १०५/२५

<sup>४</sup> विना यज्ञोपवीतेन मोहात्तु यद्यपस्पृशेत् । तत्रैव, ७९/३९

<sup>५</sup> उपवीतं तु यो दद्याच्छकालेषु धर्मविदे ।

दानं च सर्वविप्राणां ब्रह्मदानस्य यत्फलम् ॥ तत्रैव, ८०/५

<sup>६</sup> तत्रैव, ६२/१७७

में निर्दिष्ट है कि सत्यव्रत ने सप्तपदी के समाप्त होने के अवसर पर विदर्भराज की स्त्री को बलपूर्वक छीन लिया था।<sup>१</sup> विवाह संस्कार में वेदविहित विधियों का बहुत ही महत्त्व माना जाता था। धर्म —पुत्री धर्मव्रता का वेदोक्त विधि से मरीचि के साथ विवाह सम्पन्न हुआ था।<sup>२</sup> योग्य वर के विषय में निरूपित है कि धर्म को अपनी कन्या के अनुरूप वर पाने के लिए तीनों लोकों में भ्रमण करना पड़ा था।<sup>३</sup> गुणवान् पति की प्राप्ति कन्या की साधना का परिणाम घोषित की गई है।<sup>४</sup> वरानुकूल कन्या के लक्षणों के विषय में यहाँ आख्यात है कि कर्दम प्रजापति के लिए प्रदेय प्रियव्रत की कन्या को लक्षणसम्पन्न (महाभागा) बताया गया है।<sup>५</sup> श्राद्ध—कल्प में मिलता है कि '... एक भी सुकुमारी गौर वर्ण की कन्या का विवाह या कन्यादान कर देगा....तो हम लोगों की मनः कामनाएँ पूर्ण हो जायेंगी।' <sup>६</sup> यह पंक्ति विवाहार्थ कन्या की अवस्था (कुमारावस्था) तथा कन्यादान (विवाह की विशेष विधि) का स्पष्ट संकेत देती है।

इसके अतिरिक्त विवाह के विभिन्न भेद सवर्ण,<sup>७</sup> प्रतिलोम,<sup>८</sup> गान्धर्व,<sup>९</sup> पैशाचिक,<sup>१०</sup> बहु विवाह,<sup>११</sup> एक विवाह<sup>१२</sup> का भी स्पष्ट निर्देश है।

अन्ततः यहाँ पर जिन संस्कारों का उल्लेख हुआ है वह तद्विषयक व्यवस्थापकों के मतों अथवा धर्मशास्त्रीय वचनों से बहुत साम्य रखते हैं।

<sup>१</sup> पाणिग्रहणमन्त्राणां निष्ठा स्यात्सप्तमे पदे।

एवं सत्यव्रतस्तान्वै हतवान्सप्तमे पदे॥ वायु० ८८/१७

<sup>२</sup> तत्रैव, १०७/१७—१८

<sup>३</sup> तत्रैव, १०७/४—५

<sup>४</sup> तत्रैव, ५४/११२

<sup>५</sup> तत्रैव, ३३/७

<sup>६</sup> तत्रैव, ८३/१२

<sup>७</sup> तत्रैव, ९९/१८

<sup>८</sup> तत्रैव, ९३/४३

<sup>९</sup> तत्रैव, (क) १/१६, ९१/४, (ख) १०/११

<sup>१०</sup> तत्रैव, ६८/१२२

<sup>११</sup> तत्रैव, ९९/१८, ९९/२४३, ८८/१५५, ९०/२१, ६३/४१—४२ इत्यादि ।

<sup>१२</sup> तत्रैव, ९५/३२

### आर्थिक—दशा

आर्थिक—दशा विषयक अथवा उद्योग—धन्धों के बोधक उद्धरणों के विषय में यद्यपि विस्तृत उल्लेख का अभाव है तथापि कुछ उद्धरण कतिपय विशिष्ट विषयों की ओर संकेत करते हैं। यहाँ आर्थिक—गठन के रूप 'वार्ता' का साभिप्राय प्रयोग हुआ है। इस प्रसंग में वायु—पुराण के उद्धरण त्रेतायुग का संदर्भ देते हैं जबकि मनुष्य का अपकर्ष हुआ और इसके परिणामस्वरूप उनकी सहज और स्वाभाविक पूर्वकालीन सिद्धियों का तिरोभाव हुआ। यहाँ स्पष्टतः कथित है कि वार्ता का प्रवर्तन इसी विशिष्ट युग में हुआ था।<sup>१</sup> जनसमूह की वृत्ति के स्थापनार्थ ब्रह्मा ने पृथ्वी के दोहन द्वारा बीजों को उत्पन्न कर उनकी 'वार्ता' (जीविका) की व्यवस्था की। इस प्रकार वार्ता का तात्पर्य कृषि से उत्पन्न औषधियों से लिया गया है।<sup>२</sup> अन्यत्र वार्ता का अभिप्राय कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को मानते हुए कहा गया है कि जिस समय जनसमूह ने पृथु से वृत्ति की याचना की, उनके संरक्षण में कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य का विकास हुआ।<sup>३</sup> ब्रह्मा द्वारा वैश्य को अध्ययन, यज्ञ और दान के अतिरिक्त पशुपालन, वाणिज्य और कृषि विशिष्ट कर्म, वार्ता (जीविका) रूप में दिये गये थे।<sup>४</sup>

पुराणकालीन आर्थिक—स्थिति को अध्येय पुराण के कतिपय उद्धरणों द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—

#### कृषि एवं पशुपालन :

पशुपालन एवं कृषिरूप जीविकोपाय मुख्य रूप से वैश्यों को दिया गया।<sup>५</sup> नृप वैश्य के

<sup>१</sup> (क) त्रेतायुगे चापकर्षद्वार्ताणः संप्रवर्तनम् ॥ वायु० १/१०९

(ख) वार्तार्थसाधिकाऽप्यन्या वृत्तिस्तासां हि कामतः । तत्रैव, ८/१३०

<sup>२</sup> ततः स तासां वृत्त्यर्थं वार्तोपायं चकार ह । तत्रैव, ८/१५९

<sup>३</sup> न सस्यानि न गोरक्षा न कृषिर्न वणिक्पथः । तत्रैव, ६२/१७४

<sup>४</sup> संसिद्धायां तु वार्तायां ततस्तासां स्वयंभुवा । तत्रैव, ८/१६१

<sup>५</sup> पाशुपाल्यं वाणिज्यं कृषिं चैव विशां ददौ । तत्रैव, ८/१७०

लिए कथित 'क्षेत्रपाल' पद से यह व्यञ्जित होता है कि राजा के संरक्षण में कृषि का विकास अपेक्षित था।<sup>1</sup> वार्ताव्यवस्थोपरान्त उत्पन्न अनाजों को 'कृष्टापच्य' विशेषण देकर कृषि—कर्षण की उपयोगिता स्पष्ट की गई है।<sup>2</sup> यहीं पर नहीं, प्रत्युत सर्वत्र कृषि आरम्भ करने का श्रेय 'पृथु' को दिया गया है। इन्होंने ही राज्य की सुव्यवस्था के लिए अपने धनुष की कोटि से सैकड़ों पर्वतों को उखाड़ा और यथास्थान पर उन्हें निहित कर भूमि को समतल बनाया।<sup>3</sup> कृषि—उपयोगी उपकरण 'हल' के लिए 'फाल' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसकी प्रयोजनीयता के विषय में उस अतीतकाल का उल्लेख किया है जबकि फल—मूल वाली चौदह प्रकार की औषधियाँ स्वाभाविक रूप से कृषि आदि की योजना के बिना ही प्राप्त होती थीं।<sup>4</sup> यहाँ पर धान, जौ, गेहूँ आदि ग्रामीण और आरण्यक दोनों ही प्रकार की औषधियों का उल्लेख हुआ है।<sup>5</sup>

### वाणिज्य :

वाणिज्य वृत्ति का आविर्भाव मानवीय समाज के उस संवर्द्धनशील स्तर पर हुआ, जब वैश्य के शासनाधिरूढ़ होने के साथ—साथ अराजकता, अव्यवस्था तथा सामाजिक विक्षोभ का अन्त हुआ। अध्येय पुराण में इस व्यवस्था के सूचक कतिपय ऐसे उद्धरण मिलते हैं जो इसके प्रति अश्रद्धा प्रकट करते हैं। इस वृत्ति को मुख्य रूप से वैश्यों के लिए विहित किया गया और कहा गया कि यदि ब्राह्मण इस वृत्ति का अनुसरण करेंगे तो वह पाप के

<sup>1</sup> स एष पशुपालोऽभवत्क्षेत्रपालस्तथैव च । वायु०, ९४/३४

<sup>2</sup> ततः प्रभृत्यथौषध्यः कृष्टपच्यास्तु जज्ञिरे ॥ तत्रैव, ८/६०

<sup>3</sup> ततः उत्सारयामास शिलाजालानि सर्वशः ।

धनुष्कोट्या ततो वैश्यस्तेन शैला विवर्षिताः ॥ तत्रैव, ६२/१७१

<sup>4</sup> (क) अफालकृष्टाश्चानुप्ता ग्राम्यारण्याश्चतुर्दश ॥ तत्रैव, ८/१३३

(ख) अफालकृष्टा औषध्यो ग्राम्यारण्यास्तु सर्वशः ॥ तत्रैव, ८/१५६

<sup>5</sup> तत्रैव, ८/१४३—१५५ (प्रस्तुत शोध—प्रबन्ध के 'वनौषधि' शीर्षक के अन्तर्गत विभिन्न ग्राम्य एवं आरण्यक अनाजों का तथा 'जीव—जन्तु' शीर्षक के अन्तर्गत ग्राम्य एवं आरण्यक पशु आदि का उल्लेख द्रष्टव्य है।)

भागीदार होंगे।<sup>१</sup> अन्यत्र उल्लिखित है कि यदि ब्राह्मण वेद का विक्रय करेगा तो उसे नरक की प्राप्ति होगी।<sup>२</sup> द्वापर —प्रसंग में विवेचित है कि इस युग में लोभ और अधैर्य की प्रबलता रहती है। ऐसे समय में ही मानव वाणिज्य—व्यापार के प्रति उन्मुख रहते हैं।<sup>३</sup> कलियुग विवेचन में वर्णित है कि जब वर्ण—व्यवस्था में व्यतिक्रम का पद—विन्यास होगा उस समय समाज के सभी व्यक्ति वाणिज्य—वृत्ति का अनुसरण करेंगे।<sup>४</sup>

### मुद्रा (निष्क) :

तत्कालीन समाज में निष्क और सुवर्ण जैसी मुद्रा के प्रचलन का कई स्थलों पर उल्लेख मिलता है। इसमें निष्क के अपहर्ता व्यक्ति को नरकगामी कहा गया है।<sup>५</sup> शिव—स्तोत्र के अन्तर्गत शिव को 'निष्क' कहा गया है।<sup>६</sup> निष्क—दान के विषय में मिलता है कि जो व्यक्ति योग—परायण होकर पितरों को जल में दीपदान करता है, उसे एक सहस्र निष्कों के दान का फल प्राप्त होता है।<sup>७</sup>

### उद्योग—धन्ये :

पंच कर्मेन्द्रियों में दोनों हाथों का कार्य शिल्प मानते हुए हस्तकला की ओर संकेत किया गया है।<sup>८</sup> योग के प्रभाव से इसकी प्राप्ति बताई गयी है।<sup>९</sup> शिव को शिल्पियों का स्वामी, श्रेष्ठ शिल्पी की संज्ञा<sup>१०</sup> तथा विमान, आभूषण आदि के निर्माणकर्ता शिल्पी विश्वकर्मा

<sup>१</sup> क्रयविक्रयिणौ चैव जीवितार्थं विगर्हितौ ।

वृत्तिरेषा तु वैश्यस्य ब्राह्मणस्य तु पातकम् ॥ वायु०, ७९/७६

<sup>२</sup> वेदो विक्रीयते येन वेदं दूषयते च यः । तत्रैव, १०१/१५६

<sup>३</sup> तत्रैव, ५८/३

<sup>४</sup> तत्रैव, ५८/५१

<sup>५</sup> तत्रैव, १०१/१६६

<sup>६</sup> तत्रैव, ३०/१९१

<sup>७</sup> अथ निष्कसहस्राणां फलं प्राप्नोति मानवः । तत्रैव, ८०/१६

<sup>८</sup> तत्रैव, ४/६३

<sup>९</sup> तत्रैव, १२/७

<sup>१०</sup> शिल्पीशः शिल्पिनां श्रेष्ठः सर्वशिल्पप्रवर्तकः' तत्रैव, ३०/२५३

को प्रजापति की संज्ञा<sup>१</sup> देकर शिल्पकारों को जहाँ विशिष्ट सम्मान प्रदान किया गया है वहीं एक उद्धरण में कारीगर एवं शिल्पी को अधार्मिक बताते हुए शिल्प को पिशाचों की जीविका का साधन बताकर शिल्पियों अमर्यादित और अप्रतिष्ठित स्थिति को व्यक्त किया गया है।<sup>२</sup> अन्यत्र उल्लिखित है कि ब्रह्मा ने शूद्रों के लिए जीविकोपाय के रूप में शिल्प और दासत्व की व्यवस्था की।<sup>३</sup>

कतिपय उद्धरण चक्र द्वारा भाण्ड—निर्माण विधि एवं कुम्भकार का संकेत करते हैं।<sup>४</sup>

आभूषण—निर्माण का सम्बन्ध प्रजापति विश्वकर्मा से स्थापित किया गया है।<sup>५</sup> तैलपीडाकर का संकेत करते हुए कहा गया है कि कोल्हू का चक्का जैसे स्वयं घूमता हुआ दूसरे को घुमाता है उसी प्रकार वायु द्वारा आबद्ध ज्यातिर्मण्डल सर्वत्र घूमता है।<sup>६</sup>

### खनिज पदार्थ ( धातु एवं रत्न ) :

प्रकृत पुराण में अनेक खनिज पदार्थों—सुवर्ण,<sup>७</sup> रजत (चाँदी),<sup>८</sup> ताम्र,<sup>९</sup> अयस् (लौह)<sup>१०</sup> और रत्नों, जैविक,<sup>११</sup> मणि,<sup>१२</sup> हीरा,<sup>१३</sup> वैदूर्यमणि<sup>१४</sup>, मुक्ता,<sup>१५</sup> स्फटिक,<sup>१६</sup>

<sup>१</sup> वायु०, ६६/२८—३०

<sup>२</sup> तत्रैव, ६९/२८५

<sup>३</sup> तत्रैव, ८/१७१

<sup>४</sup> तत्रैव, १४/१९—२०; ५०/१४१, ५०/१४४; ५०/१४८; ५०/१५० आदि।

<sup>५</sup> तत्रैव ६६/२८—२९

<sup>६</sup> तत्रैव, ५२/८९

<sup>७</sup> तत्रैव, ३४/२०, ६७; ३५/३०; ३९/४; ४५/३८; ५०/१९२; ८०/१९, २१, ७४/१, ५; ९२/४३; १०१/२३३, २३४, २३७, २३९, २४९, २५२, ३०३, १०४/६१ आदि।

<sup>८</sup> तत्रैव, ५०/१९२; ६२/१८८; ७३/५१, ७४/१, २, ३, ५, ९; ८०/२०—२१, ८३/११६, १०१/२५०, ३०३ आदि।

<sup>९</sup> तत्रैव, ७०/५९; ७४/१ आदि।

<sup>१०</sup> तत्रैव, ५२/८०

<sup>११</sup> तत्रैव, ३९/२

<sup>१२</sup> तत्रैव, ३४/६७; ३८/१४; ४५/३८; ७८/५३; ५०/१५९ (पद्मरगमणि); १०१/२४४; १०१/२५० (इन्द्रनीलमणि) १०१/२४९ (स्फटिक मणि); १०१/३०८ (वैदूर्यमणि) १०१/२९९ (चन्द्रकान्तमणि) आदि।

<sup>१३</sup> तत्रैव, ७८/५३; १०१/२५० आदि ।

<sup>१४</sup> तत्रैव, ३४/२०; ३५/१७; ३८/४; ३९/४; ७३/७३; ७८/५३; ८०/१० आदि।

<sup>१५</sup> तत्रैव, ७३/७३; ७७/२६—२७; ७८/५३; ८०/१०; १०१/२३४; आदि ।

<sup>१६</sup> तत्रैव, ५०/१९२; १०१/२४९, ३०८ आदि ।



शंख,<sup>१</sup>शुक्ति,<sup>२</sup> कौड़ी,<sup>३</sup> आदि का यथास्थान उल्लेख हुआ है।

आर्थिक व्यवस्था सम्बन्धी उपर्युक्त स्थलों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि पुराणकालीन भारत आर्थिक दृष्टि से सर्वथा समृद्ध था। यहाँ कृषिकर्म अपनी उन्नत अवस्था में था। समस्त प्रकार के ग्राम्य और वन्य खाद्यान्नों का उत्पादन प्रचुर मात्रा में होता था। सोना, चाँदी आदि विविध धातुओं, मणि, हीरक आदि बहुमूल्य रत्नों तथा विभिन्न प्रकार के रंग—विरंगे सुन्दर वस्त्रों का पर्याप्त मात्रा में उपयोग होता था। प्रजाजनों को किसी सुख—सुविधा का अभाव नहीं था। दुर्भिक्ष अथवा दुर्दिनों का अस्तित्व केवल कलियुग के अतिलोलुप राजाओं के राज्य काल में ही प्रतिपादित किया गया है, अन्यथा देश की आर्थिक दशा सर्वतोभावेन सन्तोषप्रद थी।

### शिक्षा

समीक्ष्य पुराण में ज्ञान के पारमार्थिक रूप पर प्रकाश डाला गया है। ज्ञान की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि ज्ञान से मनुष्य को शाश्वत सत्य की प्राप्ति होती है।<sup>४</sup> एक स्थल पर विद्या की साधना और ब्रह्मचर्य में अभिन्न सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है।<sup>५</sup> यहाँ उपलब्ध शिक्षा—सम्बन्धी उद्धरण नवीनता एवं प्राचीनता के समन्वायक हैं। कतिपय उद्धरण इस प्रकार हैं—

### गुरु और आचार्य :

‘गुरु’ को तीर्थ से उपमित करते हुए उसे सब तीर्थों में श्रेष्ठ बताया गया है।<sup>६</sup> गुरु की सेवा—शुश्रूषा करना योगी शिष्य का प्रथम अनिवार्य कर्तव्य बताया गया है।<sup>७</sup> यद्यपि ब्राह्मणों

<sup>१</sup> वायु०, ६९/२९४, २९६; ४५/३७, ७७/२६—२७, ७८/५३ आदि।

<sup>२</sup> तत्रैव, ६९/२९६

<sup>३</sup> तत्रैव, ६९/२९६

<sup>४</sup> तत्रैव, ११/२२

<sup>५</sup> तत्रैव, ५९/२३

<sup>६</sup> तत्रैव, ७७/१२८

<sup>७</sup> तत्रैव, १६/१८

द्वारा विहित कर्तव्यों में सेवाकार्य वर्जित है तथापि गुरु—सेवा करना निरूपित है।<sup>१</sup> आचार्य पद का निर्वचन करते हुए उनके विविध गुणों पर प्रकाश डाला गया है— वृद्ध, निर्लोभ, आत्मनिष्ठ, दम्भरहित, विपुल विद्यावान्, विनम्र तथा सरल हों उन्हें आचार्य कहते हैं।<sup>२</sup> शिष्य के प्रति इनके कर्तव्यों को स्पष्ट करते हुए पुराणों में वर्णित है कि सज्जन को शिष्य एवं पुत्र में कोई भेद नहीं रखना चाहिए। प्रकृत पुराण में इस स्नेह की चिरन्तनता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जन्मान्तर के शिष्यों को भी पिण्डदान देना चाहिए।<sup>३</sup>

### विद्यार्थी :

विद्यार्थी—जीवन का स्वरूपांकन, आचार्य से उसका सम्बन्ध तथा विद्यार्थी जीवन की महत्ता आदि से सम्बन्धित विभिन्न तथ्य यहाँ उल्लिखित हुए हैं। विनम्रता, आज्ञापालन तथा श्रद्धाभाव छात्रोचित व्यवहार के अन्तर्गत परिगणित हैं जिनकी झलक यहाँ भिन्न—भिन्न स्थलों पर देखने को मिलती है। नैमिषारण्य में उपस्थित शौनकादि ऋषियों ने अपनी ज्ञान—पिपासा को बड़े विनय के साथ प्रस्तावित किया था।<sup>४</sup> गुरु वसिष्ठ की आज्ञापालनार्थ ही सगर ने अपने बाहुपराक्रम का प्रदर्शन किया था।<sup>५</sup> श्रद्धाभाव की विशिष्टता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि सृष्टि का रहस्य उसी व्यक्ति को समझाना चाहिए जिसमें श्रद्धा हो।<sup>६</sup> शिष्य की पात्रता—अपात्रता के सम्बन्ध में कल्पित है कि योग—विद्या ऐसे शिष्य को सिखानी चाहिए जो गुरु के समीप एक वर्ष तक रह चुका हो। इसके विपरीत पापी, अपवित्र तथा एक वर्ष से कम समय का निवासी हो ज्ञान का वितरण करना निषिद्ध किया गया है।<sup>७</sup> भोजनार्थ ब्रह्मचारी

<sup>१</sup> वायु०, ७९/७०

<sup>२</sup> तत्रैव, ५९/२९

<sup>३</sup> तत्रैव, ११०/५५

<sup>४</sup> तत्रैव, २१/२

<sup>५</sup> तत्रैव, २१/२

<sup>६</sup> तत्रैव, १०३/७०

<sup>७</sup> तत्रैव, १०३/६९

को भिक्षावृत्ति का आश्रय लेना चाहिए।<sup>१</sup> 'शिष्य द्वारा देशाटन' का नवीन तथ्य यहाँ अवलोकनीय है। कहा गया है कि ऐसा करने से ज्ञान और ज्ञेय की वस्तुस्थिति का पता चलता है।

### प्रवचन एवं शास्त्रार्थ (व्याख्यान एवं विवाद) :

प्रवचन—सम्बन्धी कथन यहाँ गाथाओं के रूप में देखने को मिलते हैं। शास्त्रार्थ एक—दूसरे को निस्तेज या पराजित करने के लिए किया जाता है। इसके कई उद्धरण यहाँ उपलब्ध हैं। विवाद में ऋषियों द्वारा पराजित होने पर 'वसु' का अधःपतन हुआ था।<sup>२</sup> नैमिषारण्य में ऋषियों ने वितण्डात्मक वचनों द्वारा अपने प्रतिवादियों को निस्तेज किया था।<sup>३</sup> इसी प्रकार याज्ञवल्क्य ने शास्त्रार्थ में शाकल्य को पराजित किया था।<sup>४</sup>

### वेद और पुराण :

पुराणों में वेद और पुराण दोनों की ही महत्ता प्रतिपादित है। वेदों की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि वेद ही मनुष्य के संवरण हैं तथा वेद का त्याग करने वाले लोग 'नग्न' कहे गये हैं।<sup>५</sup> तीर्थ—विषयक विवरण में विवेचित है कि इस क्षेत्र में सभी वस्तुओं का परित्याग किया जा सकता है किन्तु वेद का नहीं।<sup>६</sup> वेदाध्ययन एवं साम—गान सम्बन्धी अनिवार्यता एवं उपयोगिता के संदर्भ में उल्लिखित है गुरु—आश्रम में वेदाध्ययन होता था और ऋषिगण सामसंहिता का सस्वर पाठ करते थे।<sup>७</sup> इनकी धार्मिक उपयोगिता के विषय में कहा गया है कि वरुण—यज्ञ के अवसर पर चारों वेद मूर्तिमान् होकर प्रकट हुए थे।<sup>८</sup> एक

<sup>१</sup> वायु०, ८/१८३

<sup>२</sup> तत्रैव, १/१११

<sup>३</sup> तत्रैव, २/३२

<sup>४</sup> तत्रैव, ६०/५९—६०

<sup>५</sup> तत्रैव, ७८/२६—२७

<sup>६</sup> तत्रैव, १०५/२८

<sup>७</sup> तत्रैव, ६२/६३

<sup>८</sup> तत्रैव, ७९/५५—५६

स्थल पर वेदज्ञ को पंक्तिपावन कहकर समाज में उसे प्रतिष्ठित पद प्रदान किया गया है।<sup>१</sup>

यहाँ वेदों की तरह पुराणों की महत्ता भी विद्यमान है। पुराणज्ञ, पुराणार्थ—विशारद आदि पद पुराण के पठन—पाठन की महत्ता के द्योतक हैं।<sup>२</sup>

### पुस्तक :

‘महादेव की पुरी में विविध प्रकार की शुभ कथाएँ निरन्तर चलती रहती थीं। यह पंक्ति पुराणोक्त कथा के स्वतः पाठ की ओर इंगित करती है।<sup>३</sup>

आलोच्यकाल में पुस्तक लिखने अथवा लिखवाने का कार्य पुण्य समझा जाता था। गयाख्यान—प्रसंग में उल्लेख है कि पुस्तक—लेखन से लक्ष्मी प्रसन्न रहती है।<sup>४</sup>

### अवकाश अथवा अनध्याय :

मनु<sup>५</sup> तथा याज्ञवल्क्य<sup>६</sup> स्मृतियों में पहली, आठवीं, चौदहवीं, पूर्णमासी एवं अमावस्या, तिथियों में वेदाध्ययन का निषेध किया गया है। इसके अतिरिक्त रामायण, विभिन्न सूत्रग्रन्थों, पुराणों में भी शिक्षण—निषेध की विभिन्न तिथियों के संकेत मिलते हैं। यदि इन तिथियों में कोई अध्ययन करता था तो महान् हानि एवं दण्ड मिलता था। इस विषय में यहाँ आख्यात है कि अनध्याय के दिन अध्ययन करने के कारण इन्द्र ने सुकर्मा के शिष्यों का संहार किया था।<sup>७</sup>

### गाथा :

किसी मान्य महीपति की शौर्य अथवा दान—माहात्म्य सम्बन्धी स्तुतिअज्ञातकर्तृक, लोकविख्यात, लोगों की जिह्वा पर वर्तमान रहने वाले श्लोकों की संज्ञा ‘गाथा’ है जिसका

<sup>१</sup> वायु०, ६५/२४

<sup>२</sup> तत्रैव, ७०/७७

<sup>३</sup> तत्रैव, १०१/३०५

<sup>४</sup> तत्रैव ११२/६४

<sup>५</sup> मनु० ४/११३—११४

<sup>६</sup> याज्ञ० १/१४

<sup>७</sup> वायु० ६१/२९

आश्रय वेदव्यास ने पुराण—संहिता के प्रणयन में लिया।<sup>१</sup> आलोच्य पुराण में राजा राम,<sup>२</sup> ध्रुव<sup>३</sup> मूलक,<sup>४</sup> भगीरथ,<sup>५</sup> योगेश्वर,<sup>६</sup> शन्तनु,<sup>७</sup> दैत्य—हिरण्यकशिपु,<sup>८</sup> दत्तात्रेय,<sup>९</sup> मान्धाता,<sup>१०</sup> विश्वामित्र,<sup>११</sup> शशबिन्दु,<sup>१२</sup> राजर्षि अलर्क,<sup>१३</sup> कार्तवीर्यार्जुन,<sup>१४</sup> देववन्द,<sup>१५</sup> आहुक<sup>१६</sup> आदि के प्रसंग में विभिन्न गाथाओं का उल्लेख हुआ है।

### इतिहास :

लिंगोद्भव की कथा को यहाँ 'पुरातन इतिहास' कहा गया है।<sup>१७</sup> प्रारम्भ में इतिहास और पुराण की पृथक्—पृथक् सत्ता थी। संभवतः इसीलिए यहाँ दोनों का अलग — अलग उल्लेख हुआ है।<sup>१८</sup>

### आयुर्वेद—धनुर्वेद आदि की शिक्षा :

धन्वन्तरि को आयुर्वेद का उद्धारक कहा गया है।<sup>१९</sup> आयुर्वेद के प्रणयनकर्ता भरद्वाज ऋषि को कहे गए हैं।<sup>२०</sup> गदा—शिक्षा के विषय में उल्लेख मिलता है कि दुर्योधन ने मिथिला

<sup>१</sup> वायु०, ६०/२१

<sup>२</sup> तत्रैव, ८८/१९१—१९७

<sup>३</sup> तत्रैव, ६२/८२

<sup>४</sup> तत्रैव, ८८/१७९

<sup>५</sup> तत्रैव, ८८/६९

<sup>६</sup> तत्रैव, ६६/१५२—१५३

<sup>७</sup> तत्रैव, ९९/२३८—९

<sup>८</sup> तत्रैव, ६७/६५—६६

<sup>९</sup> तत्रैव, ७०/७७

<sup>१०</sup> तत्रैव, ८८/६८—६९

<sup>११</sup> तत्रैव, ८८/११५—६

<sup>१२</sup> तत्रैव, ९५/१९—२२

<sup>१३</sup> तत्रैव, ९२/६७—६८

<sup>१४</sup> तत्रैव, ९४/१९ ...

<sup>१५</sup> तत्रैव, ९६/१३—१७

<sup>१६</sup> तत्रैव, ९६/१२१—१२३

<sup>१७</sup> तत्रैव, ५५/२

<sup>१८</sup> तत्रैव, १०४/२,

<sup>१९</sup> तत्रैव, ९२/१६

<sup>२०</sup> तत्रैव, ९२/२२

जाकर बलभद्र से गदा—शिक्षा ग्रहण की थी।<sup>१</sup> शतानन्दपुत्र सत्यधृति को धनुर्वेद में पारंगत कहा गया है।<sup>२</sup>

उपर्युक्त शिक्षा सम्बन्धी उद्धरणों पर वैदिक स्मृतियों तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

### स्त्री—दशा

विश्व के पितृसत्तात्मक समाज में पुत्र की अपेक्ष पुत्री कम अभीष्ट रही है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि कन्याएँ अप्रिय थीं। वास्तव में उनके रक्षण, पोषण, विवाह आदि की चिन्ताओं के कारण ही उन्हें कष्टकारिणी कहा गया है। अध्येय पुराण में नारी के प्रति उदार दृष्टिकोण प्रस्तुत हुआ है। वह कन्या, माता, पत्नी, भगिनी आदि विविध रूपों में निरूपित हुई है। स्वतंत्रता, समानता, अतिथिसत्कार, राजनीति, व्रत, तपस्या, दान आदि के उसे अधिकार प्राप्त थे।<sup>३</sup> चक्रवर्ती राजाओं के सात रत्नों में स्त्री को भी गिना गया है।<sup>४</sup> श्राद्ध से बची हुई भोजनादि वस्तुएँ स्त्री के लिए वर्जित कही गई हैं<sup>५</sup> जो नारी जगत् की प्रतिष्ठा का प्रतिपादक है। यहाँ नारी को सृष्टि तथा सामाजिक सन्तुलन का कारणभूत अंग माना गया है। स्त्रीरूपधारिणी वसुन्धरा वैश्य से कहती है कि जन—जन के अस्तित्व में उसकी कारणभूत प्रतिष्ठा है।<sup>६</sup> पुरुष की भाँति स्त्री भी प्रजापति का अर्द्धाङ्ग थी क्योंकि प्रजापति ने अपनी देह को स्त्री और पुरुष दो भागों में विभक्त किया था।<sup>७</sup> कलियुग प्रसंग वर्णन में कहा गया है कि कलियुग के अन्त में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक होगी।<sup>८</sup> यहाँ स्त्रियों को शूद्रों

<sup>१</sup> वायु०, ९६/८३

<sup>२</sup> तत्रैव, ९९/२०२

<sup>३</sup> तत्रैव, १०/७—८

<sup>४</sup> तत्रैव ५७/६८

<sup>५</sup> तत्रैव ७९/८३

<sup>६</sup> तत्रैव, ६२/१५७—१५९

<sup>७</sup> तत्रैव, १०/७—८

<sup>८</sup> तत्रैव, ५८/५२

और वैश्यों के साथ परिगणित करते हुए उन्हें रुद्रलोक की प्राप्ति के लिए दक्ष—शिव—संघर्ष की कथा सुनने की सलाह दी गई है।<sup>१</sup>

पौराणिक युग में नारी की दशा समीक्ष्य पुराण के उद्धरणों के आधार पर संक्षेप में इस प्रकार समझी जा सकती है—

### जननी—रूप में नारी की प्रतिष्ठा :

नारी का सबसे अधिक समादृत रूप 'माता' का है, क्योंकि उसके अन्य रूपों की निन्दा भी प्राप्त होती है, मातृरूप की नहीं। कश्यप—पत्नियों को ब्रह्मवादिनी एवं लोकमाता—स्वरूप कहा गया है।<sup>२</sup> मातृ—रक्षा के सन्दर्भ में कश्यप खशा—पुत्रों को माता की रक्षा करने का आदेश देते हैं।<sup>३</sup> ध्रुव—माता सूनृता को परम चतुर, वित्तभाविनी, परम धार्मिक तथा कल्याणी कहा गया है।<sup>४</sup>

### मातृसत्तात्मक परिवार :

यहाँ मातृसत्तात्मक परिवार के भी संकेत मिलते हैं। असुरपत्नी सिंहिका के चौदह पुत्र 'सैहिकेय' असुर कहलाये। इनके अतिरिक्त दस सहस्र राक्षसों का समूह भी 'सैहिकेय' नाम से प्रसिद्ध हुआ।<sup>५</sup> पुलोमा और कालिका के पुत्र क्रमशः 'पौलोम' और 'कालकेय' कहलाये।<sup>६</sup> खशा की सात कन्याएँ— आलम्ब, उत्कचा, कृष्णा, निर्ऋता, कपिला, शिवा और केशिनी थीं जिनकी सन्तानें क्रमशः आलम्बेय, उत्कचेय, कार्ष्णेय, कापिलेय और शैवेय कही गई।<sup>७</sup> केशिनी की कन्या नीला के पुत्र 'नैल' नाम से विख्यात हुए।<sup>८</sup> लौहेयी, भरत, कृशांगी और

<sup>१</sup> वायु०, ३०/३२०—१

<sup>२</sup> तत्रैव, ६५/११८; ६०/५४; ६९/३४७

<sup>३</sup> तत्रैव, ६९/१०६

<sup>४</sup> तत्रैव, ६२/७५—७६

<sup>५</sup> तत्रैव, ६८/१७—२१

<sup>६</sup> तत्रैव, ६८/२३—२७

<sup>७</sup> तत्रैव, ६९/१७०—१७७

<sup>८</sup> तत्रैव, ६९/१७८—१७९

विशाला के पुत्र लौहेय, भरतेय, कृशागेय और विशालेय नाम से विख्यात हुए।<sup>१</sup> इसी प्रकार अग्निका के पुत्र आग्नेय, कम्बला के पुत्र काम्बलेय के नाम से ख्यात हुए।<sup>२</sup> धर्म—पत्नी साध्या के पुत्रों की साध्यगणों के नाम से ख्याति हुई।<sup>३</sup>

### स्त्री की अवध्यता :

अध्येय पुराण में कई स्थलों पर स्त्री की अवध्यता का उल्लेख हुआ है। उसे अदण्डनीय माना गया है। जब कंस देवकी के वधार्थ उद्यत होता है तो उस समय वसुदेव स्त्री—अवध्यता की ओर कंस का ध्यान आकृष्ट करते हैं।<sup>४</sup> स्त्रियों की अवध्यता के कारण ही राजा मूलक परशुराम के डर से स्त्रियों से घिरा रहता था।<sup>५</sup> गोरूपधारिणी पृथ्वी ने राजा पृथु से स्त्री—वध का निषेध किया था।<sup>६</sup> स्त्रियों की वध्यावध्यता के विषय में जब पृथ्वी स्त्री अवध्यता का संकेत करती है तब राजा पृथु गो—रूपधारिणी पृथ्वीसे कहता है कि यद्यपि स्त्री अवध्य है किन्तु यदि उसके वध से अधिक लोगों का हित होता है तो उसका वध किया जा सकता है।<sup>७</sup> कलियुग—वर्णन प्रसंग में उल्लिखित है कि उस युग में स्त्रीवध अधिक होगा।<sup>८</sup> शुक्राचार्य की माता का वध करने के कारण ही भगवान् विष्णु को भृगु के शापवश सात वार दैवी स्तर से च्युत होकर मानवीय स्तर पर जन्म धारण करना पड़ा।<sup>९</sup>

### स्त्री का भोग्या रूप :

वायुपुराण के युग में स्त्रियों को उपभोग की सामग्री—रूप में भी यत्र—तत्र स्वीकृत किया

<sup>१</sup> वायु०, ६९/१४—१६

<sup>२</sup> तत्रैव, ६९/२०—२३

<sup>३</sup> तत्रैव, ६६/४

<sup>४</sup> तत्रैव, ९६/२२४

<sup>५</sup> तत्रैव, ८८/१७८—९

<sup>६</sup> तत्रैव ६२/१५७—१६१

<sup>७</sup> तत्रैव, ६२/१६१—१६६

<sup>८</sup> तत्रैव, ५८/६७; ९९/३९०

<sup>९</sup> तत्रैव, ९७/१४१



गया है। जब ययाति अपने पुत्र से वृद्धावस्था को ग्रहण करने तथा यौवनावस्था देने की बात कहता है तो पुत्र वृद्धावस्था के दोषों का उल्लेख करते हुए कहता है कि वृद्धव्यक्ति हाथी, घोड़ा, रथ और स्त्री का आनन्द नहीं उठा सकता।<sup>१</sup> ययाति स्वयं भी स्त्रियों को अन्न स्वर्ण, पशु आदि के समान उपभोग्या बताते हैं।<sup>२</sup> वासुदेव कृष्ण की तेरह पत्नियाँ थी जिनमें से दो को परिचारिका के रूप में स्वीकार किया गया है।<sup>३</sup> शिव की प्रार्थना करने वाले व्यक्ति को मृत्यु के बाद स्वर्ग में हजारों अप्सराओं को प्राप्त करने की बात कही गयी है।<sup>४</sup> इसी प्रकार श्राद्ध में दान करने वाले व्यक्ति के लिए बहुत—सी सुन्दर स्त्रियों का स्वामी होने की बात कही गयी है।<sup>५</sup>

### याज्ञिक अनुष्ठान में भार्या का सहयोग :

याज्ञिक अनुष्ठान में भार्या द्वारा दिये गये सहयोग का उल्लेख प्राप्त होता है। नैमिषारण्य में सम्पादित यज्ञ में स्वयं तप यजमान थे और इला ने पत्नी रूप में साथ दिया था।<sup>६</sup> पृथ्वी—उद्धारक वराह की क्रिया को यज्ञ का रूपक माना गया है। उसी वर्णन—क्रम में निरूपित है कि उस समय उनकी पत्नी छाया भी उनके साथ थी।<sup>७</sup> इसी प्रकार पुष्कर क्षेत्र में सम्पन्न कश्यप के अश्वमेध यज्ञ में पत्नी दिति उनके समीप बैठी थी।<sup>८</sup>

### बहुभार्यत्व :

भारतीय परम्परा एवं आदर्शों के अनुसार एक—पत्नीत्व ही अधिक स्वाभाविक है। ऐसा होते हुए भी राजाओं, ऋषि—मुनियों की एक से अधिक पत्नियों का उल्लेख मिलता है।

<sup>१</sup> वायु०, ९३/४८

<sup>२</sup> तत्रैव, ९३/९६

<sup>३</sup> तत्रैव, ९६/१६१

<sup>४</sup> तत्रैव, ३०/३१७

<sup>५</sup> तत्रैव, ८०/३६

<sup>६</sup> तत्रैव, २/६

<sup>७</sup> तत्रैव, ६/२१—२२

<sup>८</sup> तत्रैव, ६७/५७

स्वायम्भुव मन्वन्तर में दक्ष की २४ कन्याओं में से श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, तुष्टि, पुष्टि, मेधा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपु, शास्ति, सिद्धि और कीर्ति को धर्म ने पत्नी रूप में वरण किया ।<sup>१</sup> वैवस्वत मन्वन्तर में धर्म की दस पत्नियाँ थीं जो प्राचेतस दक्ष ने उन्हें दी थीं।<sup>२</sup> इसी प्रकार चन्द्रमा की २७ पत्नियाँ थीं।<sup>३</sup> चौदह कश्यप की,<sup>४</sup> विश्रवा की चार,<sup>५</sup> राजा सगर की दो,<sup>६</sup> ययाति की दो,<sup>७</sup> कृष्ण की १६ हजार,<sup>८</sup> वसुदेव की तेरह,<sup>९</sup> दुष्यन्त—पुत्र भरत की तीन,<sup>१०</sup> पाण्डु की दो,<sup>११</sup> पत्नियाँ थीं। इससे स्पष्ट है कि पौराणिक युग में पिता द्वारा एक ही वर को अपनी एक से अधिक कन्या देने की प्रथा प्रचलित थी।

### एक—पत्नीत्व :

बहुपत्नीत्व के साथ—साथ एक पत्नीनिष्ठ राजा के भी संकेत मिलते हैं। राजा ज्यामघ की पत्नी शैव्या से यद्यपि कोई पुत्र नहीं था तथापि राजा होकर उसने दूसरी स्त्री से विवाह नहीं किया था।<sup>१२</sup>

### परस्त्री :

राजा ज्यामघ ने विजयोपरान्त प्राप्त कन्या को अपनी स्त्री रूप में स्वीकार न करके अपनी पत्नी से कहा कि यह तुम्हारी पुत्रवधू होगी.....।<sup>१३</sup> कुरुवर्ष लोगों के विषय में आख्यात

<sup>१</sup> वायु०, १०/२६

<sup>२</sup> तत्रैव, ६६/२—३

<sup>३</sup> तत्रैव, ६६/५३

<sup>४</sup> तत्रैव, ६६/५४

<sup>५</sup> तत्रैव, ७०/३२

<sup>६</sup> तत्रैव, ८८/१५५

<sup>७</sup> तत्रैव, ९३/१५—१६

<sup>८</sup> तत्रैव, ९६/२३५

<sup>९</sup> तत्रैव, ९६/१५९

<sup>१०</sup> तत्रैव, ६९/१३७

<sup>११</sup> तत्रैव, ६९/२४३

<sup>१२</sup> तत्रैव, ९५/३२

<sup>१३</sup> तत्रैव, ९५/३३—३५

है कि उन्हें पराई स्त्री की चाह नहीं रहती।<sup>१</sup> कलियुग—प्रसंग में कथित है कि सभी लोग दूसरे की स्त्री में चित्त लगाकर अपने धर्मपथ से भ्रष्ट होंगे,<sup>२</sup> साथ ही दूसरों की स्त्रियों के साथ बलात्कार करने वाले होंगे।<sup>३</sup>

### नारी—स्वतंत्रता का दिग्दर्शन :

पुराणकाल में नारियों के लिए कोई प्रतिबन्ध न था। वह पति के साथ धार्मिक कृत्यों में भाग लेती थी। यद्यपि कुछ धार्मिक कृत्यों में वह सम्मिलित नहीं हो सकती थी लेकिन तप और व्रत स्वतंत्र रूप से कर सकती थी। केवल गृहिणी ही नहीं, प्रत्युत कन्या एवं विधवा भी इसमें भाग लेती थीं। इनके व्रत और तप का उद्देश्य सन्तान प्राप्ति, अभीष्टवर की प्राप्ति और कभी—कभी परलोक की प्राप्ति होता था। उमा,<sup>४</sup> एकपर्णा,<sup>५</sup> एकपाटला,<sup>६</sup> शतरूपा<sup>७</sup> दिति,<sup>८</sup> धूमिन,<sup>९</sup> धर्मव्रता,<sup>१०</sup> केशिनी<sup>११</sup>, सुमति,<sup>१२</sup> असिकनी,<sup>१३</sup> भृगुपत्नी काव्यामातर<sup>१४</sup> आदि पुराणस्थनारियों के दुष्कर तप का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त कश्यप की प्यारी पत्नियों को ब्रह्मवादिनी कहा गया है।<sup>१५</sup> राजा बाहु द्वारा पत्नी सहित वन में तप किये जाने का स्पष्ट संकेत मिलता है।<sup>१६</sup>

<sup>१</sup> वायु०, ४५/२०

<sup>२</sup> तत्रैव, ५८/५१

<sup>३</sup> तत्रैव, ५८/५७

<sup>४</sup> तत्रैव, ४१/३१; ७२/८, १०, ११

<sup>५</sup> तत्रैव, ७२/८७—९

<sup>६</sup> तत्रैव, ७२/७—९

<sup>७</sup> तत्रैव, १०/१०

<sup>८</sup> तत्रैव, ६७/८८—९५

<sup>९</sup> तत्रैव, ९९/२१२

<sup>१०</sup> तत्रैव, १०७/४—६

<sup>११</sup> तत्रैव, ८८/१५५—८

<sup>१२</sup> तत्रैव, ८८/१५५—८

<sup>१३</sup> तत्रैव, ६५/१२८—९

<sup>१४</sup> तत्रैव, ९७/१२६..

<sup>१५</sup> तत्रैव, ६५/११८

<sup>१६</sup> तत्रैव, ८८/१२९

### नारी और राज्याधिकार :

सम्भवतः स्त्री जाति को राज्यपद पर अभिषिक्त करना वैधानिक नहीं था। इस दिशा में सुद्युम्न का विवरण उल्लेखनीय है। इक्ष्वाकु ने अपने सभी पुत्रों को राज्य का उत्तराधिकार दिया लेकिन कन्या होने के कारा सुद्युम्न को इस अधिकार से वंचित रखा।<sup>1</sup> इससे यही ध्वनित होता है कि उस काल में स्त्री को राज्याधिकार प्रदान करना विहित एवं वैधानिक नहीं माना जाता था।

### सती—प्रथा :

आजकल भारत में सती—प्रथा को एक अपराध माना जाता है किन्तु प्राचीन काल में यह एक धर्म था जो केवल ब्राह्मण तक ही सीमित नहीं था प्रत्युत् सम्पूर्ण मानव समाज के प्राचीनतम धार्मिक एवं अन्धविश्वासपूर्ण कृत्यों में समाविष्ट था। पौराणिक युग में अनुमरण को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। पतिव्रता एवं साध्वी स्त्रियों को उनके हठ करने पर रोका भी नहीं जाता था लेकिन छोटे बच्चों की माँ, गर्भिणियों तथा अपत्यहीन नारियों को वंशवृद्धि, सन्तानपालनार्थ रोका भी जाता था; जैसे राजा बाहु की मृत्यु के अनन्तर उनकी महिषी ने सती होने का प्रण किया पर चूँकि वह उस समय गर्भिणी थी, अतः परिस्थितिवश औरव मुनि के आदेशानुसार उन्हें अपना निश्चय बदलना पड़ा।<sup>2</sup>

### नियोग—प्रथा :

पति के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति से सन्तानोत्पत्ति 'नियोग' कहलाता है। भारतीय वाङ्मय में नारी के सतीत्व एवं पातिव्रत्य के अनगिनत उद्धरण मिलते हैं। यह प्रथा केवल वैदिक काल में ही प्रचलित न थी अपितु इतिहास—पुराण, सूत्र, स्मृति आदि में भी दृष्टिगोचर

<sup>1</sup> वायु०, ८५/२१

<sup>2</sup> तत्रैव, ३८/१३२

होती है। दीर्घतमा—उत्पत्ति—प्रसंग में विवेचित है कि दीर्घतमा ने सुरभि—पुत्र वृषभ से गोधर्म का श्रवण—ग्रहण कर पुत्रवधू के समान (अनुजवधू) के साथ समागम किया और परिणामतः ऋषि शरद्वान द्वारा गृह से निष्कासित कर दिये गये। x x x राजा बलि की पत्नी सुदेष्णा ने ऋषि दीर्घतमस् के नियोग से ही सन्तान की प्राप्ति की थी। x x x वृषभ ने ऋषि दीर्घतमा के गोधर्म से प्रसन्न होकर उन्हें बृहस्पति के शाप (अन्धत्व एवं वृद्धत्व) से मुक्त किया था।<sup>१</sup> पितर—कन्या गन्धकाली के विषय में मिलता है कि वह ब्रह्मतुंग सरोवर पर अच्छोदक सरोवर में अच्छोदा नदी के रूप में प्रादुर्भूत हुई और पुनः वारण के नियोगवश वह मत्स्य योनि में उत्पन्न हुई।<sup>२</sup>

#### व्यभिचार :

इस सम्बन्ध में उल्लिखित है कि एक बार पितरों की मानसी कन्या 'अच्छोदा' पितरों का ध्यान कर तपस्या में लीन थी। उसके दुष्कर तप से सन्तुष्ट होकर पितर उसको वरदान देने के लिए आये। पितर अमावसु को देखकर वह कामातुर होकर मोहित हो गयी, इस व्यभिचार से वह योग भ्रष्ट हुई।<sup>३</sup>

#### दुर्व्यवहार :

नारी के प्रति हुए दुर्व्यवहार का भी यहाँ उल्लेख है, जो इनकी दुर्दशा का द्योतक है। दक्ष—यज्ञ—विध्वंस में रुद्रगणों ने देव—पत्नियों को भी घसीटा था।<sup>४</sup> इसी प्रकार कश्यप—पत्नी खशा के प्रति पुत्रों द्वारा हुए दुर्व्यवहार का भी उल्लेख है।<sup>५</sup>

<sup>१</sup> वायु०, ९९/३५ ...

<sup>२</sup> तत्रैव, ७७/७६

<sup>३</sup> तत्रैव, ७३/७—८

<sup>४</sup> तत्रैव, ३०/१५४

<sup>५</sup> तत्रैव, ६९/८४—८६

### पातिव्रत्य एवं वात्सल्यभाव :

इस पुराण में नारी के विविध रूपों का चित्रण हुआ है। प्रजापति अत्रि के वंश—वर्णन में उनकी पत्नियों के पातिव्रत्य धर्म की ओर संकेत किया गया है।<sup>१</sup> गया—प्रसंग में 'धर्म' की पत्नी विश्वरूपा को पतिव्रत—परायण कहा गया है।<sup>२</sup> कार्तिकेय जन्म पर नारी की स्नेहमयी एवं वात्सल्यमयी दोनों ही छवियाँ देखने को मिलती हैं।<sup>३</sup> इसके अतिरिक्त कश्यप—पत्नियों के शील एवं स्वभाव के विवेचन के अन्तर्गत स्त्रीसुलभ अन्य विविध गुणावगुणों का भी द्रष्टव्य है।<sup>४</sup>

### आतिथ्य एवं सत्कार :

धर्मव्रता अतिथि—पूजा को पति—सेवा से उच्चतर एवं मान्य मानती हुई मरीचि की सेवा अर्थात् पैर दबाना छोड़कर पूर्ण आतिथ्य सत्कार करती है लेकिन इससे अनभिज्ञ मरीचि उन्हें शिला हो जाने का शाप देते हैं।<sup>५</sup> इस पंक्ति से यह भी स्पष्ट है कि नारी को आतिथ्य सत्कार की पूर्ण स्वतंत्रता थी।

### गान्धर्व विवाह :

पुराणकाल में भी इस विवाह पद्धति का प्रचलन यत्र—तत्र देखने को मिलता है। इस गान्धर्व विवाह का प्रचलन प्रायः क्षत्रियों में था। उदाहरणार्थ पुरुरवा—उर्वशी का विवाह गान्धर्व पद्धति से ही सम्पन्न हुआ था।<sup>६</sup> किन्तु वह सशर्त विवाह था जिसमें शर्त उर्वशी की ओर से

<sup>१</sup> वायु०, ७०/६७

<sup>२</sup> तत्रैव, १०७/२

<sup>३</sup> तत्रैव, ७२/३९

<sup>४</sup> तत्रैव, ६९/९२—९५; ३४३—३४८

<sup>५</sup> तत्रैव, १०७/२१—३०

<sup>६</sup> तत्रैव, अध्याय ९९

रखी गई थी। यही व्यवस्था इस्लाम में 'मेहर' के रूप में मिलती है किन्तु वाङ्मय में इसके अन्य उदाहरण नहीं मिलते।

अस्तु, स्त्रियों की दशा—सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यहाँ आदि से अन्त तक नारी के प्रति उदार भावना व्यक्त हुई है। अनेकत्र स्त्री के अभाव में मनुष्य की अपूर्णता और स्त्री की महत्ता दृष्टिगोचर हुई है। कन्या, माता, पत्नी आदि प्रतिष्ठित पद उन्हें प्राप्त है। पत्नी रूप में पतिव्रता, प्राण—प्रिया, सौभाग्यवती, वरारोहे, चतुर, वरवर्णिनि, वित्तभाविनी आदि विशेषणों द्वारा उन्हें सुसज्जित या सम्बोधित किया गया है। कुल मिलाकर इस पुराण में नारी का जो रूप देखने को मिलता है उसके आधार पर यही कहा जा सकता है कि पौराणिक युग में नारी—दशा अनेक दृष्टियों से सन्तोषप्रद थी।

### स्वास्थ्य एवं रोग

अध्येय पुराण में विभिन्न प्रसंगों में अनेक रोगों तथा उनके निदान प्रसंग में चिकित्साशास्त्र का उल्लेख हुआ है। अग्नि—पुराण इस दृष्टि से धनी है क्योंकि उसमें न केवल नुस्खे ही दिये गये हैं अपितु स्वास्थ्य सम्बन्धी सिद्धान्तों और औषधितत्त्वों का भी विवेचन करते हुए रोग निवारण की अनेक विधियाँ बताई गयी है। वायुपुराण में भी रोग निदान की कई विधियों, औषधियों अथवा उपायों और औषधियों का उल्लेख है। रोग—उत्पत्ति के कारण का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति प्रमादवश योग साधते हैं उनके शरीर में अनेक विघ्नकारक दोष अथवा रोग उत्पन्न हो जाते हैं जैसे जड़ता, बहिरापन, मूकत्व, अन्धत्व, स्मृति—लोप, जरा प्रभृति।<sup>१</sup> वायुपुराणकार ने यहीं पर विभिन्न रोगों और उनके उपायों को निर्दिष्ट करते हुए लिखा है; वातगुल्म रोग स्निग्ध—पदार्थ—मिश्रित गर्म यवागु को खाकर तथा

<sup>१</sup> जड़त्वं बधिरत्वं च मूकत्वं चाधिगच्छति ।  
अन्धत्वं स्मृतिलोपश्च जरारोगस्तथैव च ॥ वायु० ११/३७ :

कुछ काल तक रुग्ण स्थान पर धारण करने से नष्ट हो जाता है। गुदावर्त रोग वैसे तो दही अथवा यवागु का भोजन करने से तथा वायु ग्रन्थि का भेदन करके उसे ऊर्ध्वदेश में परिचलित करने से दूर हो जाता है और यदि इससे शान्त न हो तो मस्तक में धारणा करने से इस रोग की पीड़ा से मुक्त हुआ जा सकता है। रोगी के सर्वांग में विद्यमान कम्पन शरीर को स्थिर कर मन से किसी पर्वत की धारणा करने से दूर जाता है। उरोद्घात या वक्षोभ्रंश (छाती का रोग) होने पर उरःस्थान या कण्ठ देश में, वागरोध होने पर वचन में, बधिरत्व होने पर कानों में, तृषार्त होने से जिह्वा स्थान में धारणा करने से, भयभीत रोगी के सिर पर बाँस की कील से ताड़ना करने पर भय दूर हो जाता है। संज्ञालुप्त होने पर रोगी के सिर पर दोनों हाथों से धारणा कराने से संज्ञा लौट आती है। नाग के डँस लेने पर हृदय और उदर में धारणा करने को कहा गया है। विषपान कर लेने पर एक साथ कई उपाय बताये गये हैं यथा, विशल्या धारण करने, मन में पर्वतमय पृथ्वी की धारणा कर हृदय में देवता और समुद्र की धारणा कराकर, हजार घड़े जल से स्नान कराकर भी इसे दूर किया जा सकता है, अकवन के सूखे पत्ते की दोनियाँ बनाकर दीमक की मिट्टी पीने से भी लाभ होता है। योगज रोगों की भी पुराणकार ने यही चिकित्सा बताई है।<sup>१</sup>

शिव के तेजोरूप ज्वरोत्पत्ति के सम्बन्ध में जीव—सम्बन्धी विभिन्न रोगों का उल्लेख हुआ है, यथा नागों के लिए शीर्षाभिताप, पर्वतों के लिए शिलारोग, जल के लिए शैवाल, सांपों के लिए केंचुल ज्वर, गौओं के लिए खुरका, पृथ्वी के लिए ऊसर, हाथियों के लिए दृष्टिव्याघात, घोड़ों के लिए रन्ध्रजनित, मयूरों के लिए शिखा (चन्द्रक) उद्भेद का काल, कोकिलों के लिए नेत्ररोग, बकरों के लिए पित्तभेद, शूकों के लिए हिमिका ज्वर, सिंहों के लिए

---

<sup>१</sup> वायु०, ११/४०-५९



परिश्रम ज्वर तथा मनुष्यों के लिए 'ज्वर', जो जन्म—मरणकाल में और बीच में भी शरीर में प्रवेश करता है।<sup>१</sup>

वास्तव में ये रोग न होकर प्रकृतिजन्य विशेषताएँ हैं जिनसे प्रभावित व्यक्ति की क्षमता कुछ समय के लिए नष्ट या कम हो जाती है। इन अवसरों पर प्रभूत कष्ट भी होता है। इसीलिए इन्हें पुराणकार ने रोग की संज्ञा दी है।

रोग सम्बन्धी चर्चा पुराण में अन्यत्र भी देखने को मिलती है। कलियुग—प्रसंग में महामारी रोग का संकेत मिलता है।<sup>२</sup> श्राद्धकल्प—विवेचन में ईख को कफ—कारक कहा गया है।<sup>३</sup> यक्ष्मारोग का उल्लेख अपंक्तिपावन ब्राह्मणों के सन्दर्भ में<sup>४</sup> तथा चन्द्रवंश—वर्णन<sup>५</sup> में हुआ है। अध्याय १०५ में दृष्टिजन्य दोष का उल्लेख है।<sup>६</sup> भगवान् आदिगदाधर के दर्शनमात्र को कुष्ठरोग का विनाशक कहा गया है।<sup>७</sup> ज्वरोत्पत्ति—प्रसंग में उल्लिखित है कि जो मनुष्य सुप्रसन्नचित्त से एकाग्रमन होकर इस ज्वरोत्पत्ति को पढ़ता है वह रोग से छुटकारा पाकर आनन्द प्राप्त करता है।<sup>८</sup>

चिकित्सा या उपाय के विषय में कहा गया है कि इन चिकित्साओं का जो फल है, उसकी प्रतीक्षा करे, रोगी सुखी अवश्य होगा।<sup>९</sup> रोगी को स्निग्ध और अल्पाहार कराने से भी बहुत लाभ होता है।<sup>१०</sup> अन्यत्र कहा गया है कि जब सत्त्वगुणकी अधिकता, आरोग्य—लाभ का

<sup>१</sup> वायु०, ३०/२९९—३०४

<sup>२</sup> कलौ प्रमारको रोगः सततं क्षुद्भयानि वै। तत्रैव, ५८/३३

<sup>३</sup> श्लेषमणः शीतला हृद्या मधुरश्च तथेक्षवः । तत्रैव, ७८/८

<sup>४</sup> कितवो मद्यपो यक्ष्मी पशुपालो निराकृतिः । तत्रैव, ८३/६९

<sup>५</sup> प्रसङ्ग धर्षितस्तत्र विवंशो राजयक्ष्मणा।

ततो यक्ष्माभिभूतस्तु सोमःप्रक्षीणमण्डलः ॥ तत्रैव, ९०/४६

<sup>६</sup> नाऽऽवाहनं न दिग्बन्धो न दोषो दृष्टिसंभवः । तत्रैव, १०५/३८

<sup>७</sup> कुष्ठरोगदिनिर्मुक्ता यास्यन्ति हरिमन्दिरम् । तत्रैव, १०९/३७

<sup>८</sup> इमां ज्वरोत्पत्तिमदीनमानसः पठेत्सदा यः सुसमाहितो नरः ॥

विमुक्तरोगः स नरो मुदा युतो लभेत कामान्स यथा मनीषितान् ॥ तत्रैव, ३०/३०५

<sup>९</sup> फलं वै चिन्तयेद्योगी ततः संपद्यते सुखी । तत्रैव ११/४७

<sup>१०</sup> स्निग्धमल्पं च भुञ्जीत ततः संपद्यते सुखी । तत्रैव, ११/५२

अभाव, कान्ति, सुन्दर स्वर, सुभगमूर्ति, उत्तमगन्ध, मूत्रपुरीष की अल्पता जब शरीर में हो जाय, तब योग की प्रथम प्रकृति को सिद्ध समझना चाहिए । अपने को और पृथ्वी को यदि जलता हुआ देखें और सृष्ट पदार्थ में प्रवेश कर सके तो सिद्धि को अवश्य उपस्थित समझे।<sup>१</sup>

स्पष्ट है कि वायुपुराण में विभिन्न रोगों और उनके उपचार सम्बन्धी विवेचन के प्रसंगों का नितान्त अभाव नहीं है। वर्तमान समय में इन नियमों का संभवतः लोप हो गया है। इन विधियों की ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह नियम बहुत ही लाभदायक हैं। इनसे यदि लाभ नहीं होगा तो हानि भी नहीं होगी । इनके द्वारा रोगी में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से साहस और उत्साह की भावना जाग्रत होती है जो उसके स्वास्थ्य को ठीक करने में सहायक सिद्ध होगी।

### मनोविनोद

प्राचीन भारतीय इतिहास में समाज का अनुरंजन करना राजा का प्रमुख कर्तव्य था। समाज का मनोविनोद होना आवश्यक एवं स्वाभाविक है। पुराण काल में इसके विविध प्रकार और साधन प्रचलित थे। वाद्य, गीत और नृत्य विनोद साधनों के अतिरिक्त पूजा में भी प्रचलित थे। इनका मुख्य उद्देश्य शोक का विनाश तथा सुख की प्राप्ति कराना है। इसलिए समाज में हास्य, क्रीड़ा और प्रमोद का महत्त्व है।

प्रकृत पुराण में अनेक स्थलों पर सामाजिक मान्यता के परिचायक मानव मनोविनोद के साधनभूत अनेक उपकरणों का प्रासंगिक एवं सोद्देश्य उल्लेख हुआ है। यहाँ उल्लिखित उपकरणों की परिचर्चा निम्नरूप में विवृत्त है—

<sup>१</sup> सत्त्वं तथाऽऽरोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रभा सुस्वरसौम्यता च ।  
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिः प्रथमा शरीरे ॥  
आत्मानं पृथिवीं चैव ज्वलन्तीं यदि पश्यति ।  
कृत्वाऽन्यविशते चैव विद्यात्सिद्धिमुपस्थिताम् ॥ वायु०, ११/६३-६४

### मृगया :

मृगया क्षत्रिय राजाओं के मनोविनोद का प्रमुख साधन रहा है। दिग्विजय के लिए यात्रा करने में जितना उद्देश्य राज्य विस्तार का है, उतना ही मनोरञ्जन का भी और मृगया मनोरञ्जन का पूरक या उत्तम उपाय है। वायुपुराण में मृगयाप्रेमी अनेक राजाओं का वर्णन हुआ है। मनु-पुत्र सुद्युम्न के विषय में आख्यात है कि वह मृगया खेलते हुए पार्वती के अभिशप्त वन में प्रविष्ट हुए थे।<sup>१</sup> इसी प्रकार इक्ष्वाकु-पुत्र विकुक्षि ने पित्राज्ञा से श्राद्धार्थ मृग-मांस के लिए वन-गमन और मृगया से उत्पन्न थकान के निराकरणार्थ एक खरगोश का भक्षण किया था।<sup>२</sup> राजा शन्तनु ने मृगया खेलते हुए ही कृपा और कृपी (गौतमी) इन दो बच्चों को देखा था तथा बाद में इन्होंने ही उनका पालन-पोषण किया था।<sup>३</sup> शिव-स्तुति में शिव को मृगयाशील कहा गया है।<sup>४</sup>

### दोला :

दोला (झूला) का प्रसंग भी मिलता है। शिव द्वारा अधिष्ठित कैलासपर्वत-वर्णन में वर्णित है कि.....कहीं स्त्रियाँ हिंडोले पर चढ़ी हुई थीं जिनके संपात से ध्वजा में लटकने वाली घण्टियाँ बज रही थीं।<sup>५</sup>

### अभिनय :

देवताओं के चरित्र का अनुकरण (अनुकर्ता) करने वाले ब्राह्मणों को हवन एवं श्राद्ध आदि में वर्जनीय कहकर अभिनय एवं नाटक की ओर संकेत किया गया है।<sup>६</sup> इससे यह स्पष्ट

<sup>१</sup> वायु० ८५/२७,

<sup>२</sup> तत्रैव, ८८/१३,

<sup>३</sup> तत्रैव, ९९/२०४

<sup>४</sup> तत्रैव, २४/१३६

<sup>५</sup> तत्रैव, ५४/३६

<sup>६</sup> तत्रैव, ७९/६८

होता है कि अभिनय मनोरञ्जन का साधन था किन्तु ब्राह्मण वर्ण के लिए यह वर्जित था।

### संगीत और नृत्य :

संगीत के अन्तर्गत गीत, वाद्य एवं नृत्य का ग्रहण किया जाता है। संगीत कला का महत्त्व सामवेद से ही स्पष्ट है। वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार प्राचीन समय में राजा, महाराजा और अभिजात वर्ग के साथ-साथ साधारण वर्ग भी इस कला के पूर्ण शौकीन थे। अध्येय पुराण में गान्धर्व विद्या या संगीतशास्त्र अठारह विद्याओं की सूची में परिगणित है।<sup>१</sup> संगीत की आकर्षण शक्ति या तल्लीनता के विषय में आख्यात है कि राजा ककुद्बी (रैवत) अपनी कन्या के साथ ब्रह्मा की सभा में संगीत सुनने गये थे, जिसमें वे इतने तल्लीन (मग्न) हो गये कि जब वे लौटे तो उनका राज्य यदुवंशियों के अधीन हो चुका था।<sup>२</sup> यहाँ गान्धर्व विद्या अर्थात् सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छनाओं, उन्नचास तालों आदि का विस्तृत उल्लेख हुआ है।<sup>३</sup> अध्येय पुराण में अनेकत्र भी गायकों और गीतशैलियों का प्रसंग मिलता है। गायक ब्राह्मण की गणना अपंक्तिपावन ब्राह्मणों के अन्तर्गत करते हुए कहा है कि इनको दिया गया दान समस्त फल को नष्ट कर देता है।<sup>४</sup> यह पंक्ति गायकों के प्रति अश्रद्धेय भाव प्रकट करती है। इसके अतिरिक्त इसे शिव आदि से संयुक्त कर इसके प्रति अपार श्रद्धा की भावना भी प्रकट की गई है। संगीत के समग्र भाव को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि वरुण—यज्ञ में साम मूर्त स्वरूप थे, वृत्त से संवलित सामवेद अपने सभी उपकरणों से संयुक्त होकर शोभित हो रहा था।<sup>५</sup> पृथु द्वारा सम्पादित यज्ञ में जिस समय सामगान हो रहा था उस समय ही इन्द्र और बृहस्पति की हवियों के मिश्रण स्वरूप ही सूत की उत्पत्ति हुई थी।<sup>६</sup> यह

<sup>१</sup> वायु०, ६१/७८-०

<sup>२</sup> तत्रैव ८६/२६-३३

<sup>३</sup> तत्रैव, ८६/३५-६९; ८७/१-४६;

<sup>४</sup> तत्रैव, ८३/६१

<sup>५</sup> तत्रैव, ६५/२२-६

<sup>६</sup> तत्रैव, तत्रैव, ६२/१४०

पंक्ति भी संगीत—तल्लीनता का अस्पष्ट संकेत करती है। पृथुवंशानुकीर्तन के अन्तर्गत गायकों की उत्पत्ति के विषय में मिलता है कि प्रवाही ने यज्ञ—क्षेत्र में दस गायक—पुत्रों (गन्धर्वों) को उत्पन्न किया था।<sup>१</sup> संगीत में सुमधुरता परम आवश्यक है, जिसका स्पष्ट संकेत त्रेतायुगीन इन्द्र द्वारा सम्पादित अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में मिलता है।<sup>२</sup>

### शिव और संगीत :

शिव के लिए उद्धृत विभिन्न विशेषण उनको संगीत का विशिष्ट अनुरागी सिद्ध करते हैं। शिव— स्तोत्रों के अन्तर्गत शिव को गायक, सुगीत,<sup>३</sup> तुम्बवीणाप्रिय,<sup>४</sup> किंकिणीधारी<sup>५</sup> आदि पदों से विभूषित किया गया है। इसके अतिरिक्त शिव को गीतवादित्रनृत्याङ्ग तथा गीतवादनकप्रिय<sup>६</sup> मुखवादित्रकारिण<sup>७</sup> (मुख—वाद्य बजानेवाले), गीतवाद्यरत<sup>८</sup> भी कहा गया है। आदि गणेश्वर भगवान् महेश्वर की संगीत और नृत्य के साथ पूजा कर उन्हें प्रसन्न किया करते थे।<sup>९</sup> सिद्ध भी संगीत के साथ उनका ध्यान करते थे।<sup>१०</sup> दक्ष—यज्ञ—विध्वंस कथानक के अन्तर्गत शिव, पार्वती से कहते हैं कि भले ही यज्ञ में उनका आह्वान नहीं किया गया है पर रथन्तर सामगान द्वारा हमारी ही प्रार्थना की जा रही है।<sup>११</sup>

### गन्धर्व, अप्सरा और किन्नर :

देव और गन्धर्वों को नृत्य एवं संगीत में निपुण कहा गया है।<sup>१२</sup> श्राद्ध में दिये गये

<sup>१</sup> वायु०, ६८/३७—३९

<sup>२</sup> तत्रैव, ५७/९३

<sup>३</sup> तत्रैव, २४/१४२—३

<sup>४</sup> तत्रैव, ३०/२०३

<sup>५</sup> तत्रैव, २४/१४८

<sup>६</sup> तत्रैव, ३०/२४८

<sup>७</sup> तत्रैव, ३०/१९८

<sup>८</sup> तत्रैव, ३०/१९९

<sup>९</sup> तत्रैव, ४०/२४—५

<sup>१०</sup> तत्रैव, २४/१४४

<sup>११</sup> तत्रैव, ३०/१९९

<sup>१२</sup> तत्रैव, ६९/४४—५

दान—फल विवेचन में कहा गया है कि दानकर्ता का गन्धर्व और अप्सराओं के वृन्द मनोहर गायन और वादन से मनोरञ्जन करते हैं। अप्सराएँ मनोरम संगीतमय स्वरों से उन्हें जगाती हैं।<sup>१</sup> अमावस्यातिथि में दिये गये दान, तर्पण के फल—वर्णन में कथित है.....सहस्रों अप्सराएँ नृत्य, गान, वाद्य से प्रसन्न करती हैं।<sup>२</sup> कार्तिकेय जन्मोत्सव पर गन्धर्वों द्वारा गाना तथा विद्याधरों, सिद्धों तथा किन्नरों द्वारा उत्सव मनाने का भी उल्लेख है।<sup>३</sup> इसके अतिरिक्त नैमिषारण्य में सम्पादित यज्ञ में गन्धर्वों द्वारा सामगान का उल्लेख करके संगीत की धार्मिक महत्ता को प्रतिपादित किया गया है।<sup>४</sup> इस प्रकार गन्धर्व, अप्सराएँ और किन्नरों का संगीत और नृत्य से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

#### वाद्य—यंत्र :

संगीत के विभिन्न वाद्य—यंत्रों का यहाँ उल्लेख हुआ है; आनक, (९६/१४५) गोमुख (५०/२४—२५); झंझर (४०/२४—२५); डिण्डिम (४०/२४—२५); तुम्बवीणा (३०/२०३); दुन्दुभि (५५/५५, ३०/१९८—२००, ७२/३५, ४९/९); पटह (४०/२४—२५), पणव (४५/४०); भेरी (४०/२४—२५); मृदंग (४५/४०, ९६/१४४—१४५); मुखवादित्र (३०/१९८, ५४/३५—३७); वीणा (४५/४०, ७२/४६); वेणु (४५/४०); शंख (४५/३७) आदि।

#### नृत्य—कला :

शिव को संगीत के साथ—साथ नृत्य के साथ भी सम्बद्ध किया गया है। शिव—स्तोत्र के अन्तर्गत शिव को नर्तनशील<sup>५</sup> वाद्य—नृत्य—प्रेमी<sup>६</sup> और नृत्यरत<sup>७</sup> कहा गया है। शिव के क्रोध से उत्पन्न वीरभद्र रूप—वर्णन में आख्यात है कि क्रोध से उसकी आँखें नाच रही थीं। विचित्र

<sup>१</sup> वायु०, ८०/१०—१५

<sup>२</sup> तत्रैव, ८१/२१—४

<sup>३</sup> तत्रैव, ७२/३६

<sup>४</sup> तत्रैव, २/३१

<sup>५</sup> तत्रैव, २४/१४५; ३०/१९८—२००;

<sup>६</sup> तत्रैव, २४/१४५; ३०/१९८—२००

<sup>७</sup> तत्रैव, २४/१४५

भावभंगी से वह नाच उठता था तो कभी मधुर स्वर में बोल उठता तो कभी गाता था।<sup>१</sup> गन्धर्व, अप्सरा एवं किन्नरों को नृत्य के साथ संयुक्त करते हुए कहा गया है कि नैमिषारण्य में सम्पादित यज्ञ में अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं तथा मुनिगण चित्र—विचित्र अक्षरों और पदों वाली वाणी का उच्चारण कर रहे थे।<sup>२</sup> शिविवंशीय राजा बृहदुक्थ की कन्या बृहती थी, जिसका एक नाम नर्तकोन्नेयी भी था।<sup>३</sup> यह नाम अस्पष्ट रूप से नृत्य कला की ओर संकेत करता है। यहाँ नृत्य के एक विशिष्ट भेद 'अलातचक्र' नृत्य का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।<sup>४</sup>

उपर्युक्त पंक्तियों में मनोविनोद के जिन साधनों का उल्लेख हुआ है, यद्यपि वे प्रासंगिक है तथापि इतिहास की दृष्टि से उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन उद्धरणों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि पुराणकालीन समाज में उत्सवों और त्यौहारों के अवसर पर नर—नारी संगीत व नृत्य द्वारा अपना मनोरञ्जन करते थे। कार्तिकेय, वासुदेव के जन्मोत्सवों पर आनक, दुन्दुभि आदि वाद्यों का उल्लेख करते हुए मांगलिक अवसर पर इनकी उपयोगिता प्रदर्शित की गई है। इससे यह भी स्पष्ट है कि तद्युगीन समाज भारतीय उत्सवों को मात्र श्रान्त मस्तिष्क का त्राण न समझकर उन्हें मंगलमय मानता था। आचार्य भरतमुनि ने भी इन साधनों को विघ्ननाशक, मांगल्य के जनक तथा सुललित फल प्रदाता कहा है।<sup>५</sup> उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि देवता गन्धमाल्य से उतने प्रसन्न नहीं होते जितने नाट्य और नृत्य से होते हैं।<sup>६</sup>

<sup>१</sup> वायु०, ३०/१३४-५

<sup>२</sup> तत्रैव, २/३१

<sup>३</sup> तत्रैव, ९६/२४६

<sup>४</sup> तत्रैव, ५२/९०

<sup>५</sup> माङ्गल्यं ललितश्चैव ब्रह्मणो वदनोद्भवम् ।

सुपुण्यं च पवित्रं च शुभं पापविनाशनम् ॥ नाट्य० ३७/७३

<sup>६</sup> तत्रैव, ३६/७७

### जीव—जन्तु

सतयुग में जन्तुवर्ग का विस्तृत अस्तित्व नहीं था। इस विषय में अध्येय पुराण में उल्लिखित है कि सतयुग में लोगों का जीवन सुख—सम्पन्न था। उस समय पशु—पक्षी, सरीसृप आदि जीवन न थे, अतएव लोग आनन्दपूर्वक विचरण किया करते थे।<sup>१</sup> इनकी रचना के सम्बन्ध में उक्त है कि ब्रह्मा ने अष्टविध देवयोनि की रचना के उपरान्त अपने शरीर के विभिन्न अंगों से पशुओं की सृष्टि की थी।<sup>२</sup> चाक्षुष मन्वन्तर में द्विपद (मनुष्य) और चतुष्पद (पशु) प्राणियों की रचना दक्ष प्रजापति द्वारा मानसिक संकल्प से हुई<sup>३</sup> तथा वैवस्वत मन्वन्तर में इनकी सृष्टि कश्यप—सन्तति के रूप में हुई।<sup>४</sup> इस प्रकार चाक्षुष मन्वन्तर में जीव—जन्तुओं का अस्तित्व हुआ, यह स्पष्ट होता है।

#### विभाजन :

जन्तुवर्ग का चतुर्वर्गीय (जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज) विभाजन इस पुराण में पुनः दर्शनीय है। स्वेदज जन्तुओं की यहाँ सूची भी उपलब्ध है।<sup>५</sup> द्विपद एवं चतुष्पद पशुओं का एक विभाजन दक्ष सृष्टि—रचना में विवेचित है। इसके अतिरिक्त ग्राम्य और आरण्य पशु—विभाग भी यहाँ मिलता है। गो, अज, पुरुष, मेष, अश्व, अश्वतर, गर्दभ ग्राम्य पशु है। श्वापद, द्विखुर, हस्ती, वानर, पक्षी, उन्दक ( ऊदविलाव) और सरीसृप ये जंगली पशु हैं।<sup>६</sup> यहाँ मेष ग्राम्य (पालतू) पशुओं की तालिका में उद्धृत है जबकि राजा सत्यव्रत—आख्यान में वर्णित है कि उन्होंने महिष का शिकार किया था। इससे यह एक जंगली जानवर स्पष्ट होता है किन्तु

<sup>१</sup> वायु०, ८/५४

<sup>२</sup> तत्रैव, ९/४९

<sup>३</sup> तत्रैव, ६३/४०

<sup>४</sup> तत्रैव, ६९/२८९

<sup>५</sup> तत्रैव, ६९/२९८

<sup>६</sup> तत्रैव, ९/४४—८



श्राद्ध-प्रसंग में इसके दूध को वर्जित कहा गया है जो इसे पालतू पशु ही सिद्ध करता है। इसी प्रकार अरण्य पशुओं की सूची में उद्धृत हस्ती के विषय में अन्यत्र कहा गया है कि यह पहले जंगली जानवर नहीं था बल्कि पालतू पशु था।

### पशु-पक्षी एवं क्षुद्र प्राणिजगत :

अध्येय पुराण में विभिन्न वन्य पशुओं, पालतू पशुओं, सरीसृप, जलचर, कीट-पतंग और विभिन्न पक्षियों का निर्देश हुआ है। वायुपुराणागत निम्न जन्तुवर्ग का उल्लेख द्रष्टव्य है; अज (९/४३; ९६/४०६; ७२/४६); अश्व (९/४२, ४६-४७; ८०/१५; ५७/६८; ९०/१०; ८२/१४) ; अश्वतर (९/४२-४४); आवि (७८/१७); उलूक (६९/३३५) उष्ट्र (६९/२०७); कपोत (६९/३१५, ३३६; ३०/२४१); करन्ध (४१/१७) कलविंक (६९/३३६, ३६/४); कलहंस (६९/३३७); काक (६९/३२७, ३३५); कुक्कुट (६९/३३५); कुकुद (७८/३८-४०), कुरर (६९/३१५, ३३६); कुलीरक (६९/३१५); कूर्म (११/१९, ९३/९४, ६९/२९४); कोकिल (३६/१०६), क्रौञ्च (६९/३२८, ३३६, ५४/१९-२१); खड्ग (६९/२०७); खद्योत (६/७, ८/४, ५९/२९७); गण्डूक (६९/२९५) गरुड (६९/३२९-३०, ३५, ३९, ९७/२२; २४/१०८, ७०/१०); गृध्र (६९/३२७, ३०/१७०, १९/६, ४०/२१-२२); गौ (६९/३१३); गौरमुख (६९/२०७); घुण (६९/३१०); चक्रवाक (६९/३३८); चकोर (३६/१-५); छगल (६९/२५९); तरक्षु (६९/२०८); तित्तिर (६९/३३६); तुरग (६९/३०९); न्यूक (६८/२०६); नाग और सर्प (७३/१०३); २४/१०८, ४१/७३, ५८/६१), पिपीलिका (६९/३०१); पृषत (६९/२०६), बक (६९/३३६); भ्रमर (६९/३१७, ७०/६४, ३४/१८, ३७/७, २९, ३८/५३, ३८/९-१०, ३९/२०, ३३/२०); भृंगराज, (३६/२); मकर (६९/२९२); मक्षिका (६९/३११-३१६); मत्स्य (६९/३१३), मदोत्कट (३६/२, ५); मधुकर (३६/५); मयूर, ६९/३३६, ५४/१९-२१); मशक (६९/३१७), मूषिका (५४/६१); यूका (६९/३१५), रुरु (६९/२०६), रासभ (५२/८३); वराह (६९/२०७); वृश्चिक (६९/३१२); वृषभ (९/४२-४४, २३/६९, २३/५-१२, ६२/१३६, ९६/२-८, ९७/१२, ३०/२६१, २६७-६८, ७०/१०, ५४/१०७-८, ५५/५४, ३०/१८०, २४/१०६, २४/६०); वाघ (६९/२०८, २८९) वानर (६९/२०८); विडाल (५४/४०), शकुनि (३०/२६०), शरभ (६९/२०६), ९७/१८०, ९/४२-४४); शश (६९/२०६); शार्दूल (३०/१३९, ९३/६८,

८८/१६५, ९२/१४, ८८/१९२, ५४/६७५५, ९६/३३—३४, ७०/३—४, १०/१३); शिवा (३०/१७०); शिशुमार (६९/२९३); शुक (६९/३२८—३२९); सम्बूक (६९/२९५); सारस (६९/३२६, ३३६); सारिका (३६/२); हंस (६९/३३७, ४१/७०); हरिण (६९/२०६); हस्ती (६९/२११, २३१—३४, २२४, ९/४२, १०/८३, ८०/१५, ४५) इत्यादि।

### वानस्पतिक—सम्पदा

पेड़—पौधों की उत्पत्ति का सम्बन्ध सोम के क्रम में माना जाता है। सोम को औषधियों का पति कहा गया है।<sup>१</sup> स्वयं ब्रह्मा ने इनको वीरुधों से आधिपत्य पद पर अभिषिक्त किया था।<sup>२</sup> चाक्षुष मन्वन्तर के प्रसंग में मिलता है कि प्रचेताओं के तपोबल से पृथ्वी तल पर से वृक्षों का नाश हुआ था और वृक्षों की शेष बची शाखाओं के रक्षार्थ सोम ने उन प्रचेताओं से निवेदन किया जिसके परिणामस्वरूप अवशिष्ट वृक्षों से नवीन वृक्षों की उत्पत्ति हुई।<sup>३</sup> अन्यत्र मिलता है कि त्रेतायुग के आदिकल्प में ब्रह्मा ने अपने रोमों से औषधि एवं फलफूल उत्पन्न किये थे।<sup>४</sup>

### विभाग :

त्रेतायुग में भगवान् स्वयंभू ने ग्राम्यारण्य और यज्ञीय औषधियों का निर्माण किया था।<sup>५</sup> इस तरह इसके ग्राम्य, आरण्य और यज्ञीय तीन भेद हुए। वहाँ ग्राम्य और आरण्य औषधियों की एक सूची है, लेकिन मूलग्रन्थ काफी विकृत हो गया है जिसके कारण मुख्य निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन हो जाता है। इसके अतिरिक्त यहाँ यज्ञीय औषधियों की कोई सूची नहीं है। फल पकने तक जिनके बीज रहें वे औषधियाँ हैं।<sup>६</sup> औषधि शब्द यहाँ सामान्य रूप से वनस्पति

<sup>१</sup> वायु०, ३१/३८

<sup>२</sup> तत्रैव, ७०/३

<sup>३</sup> तत्रैव, ६३/२७—३

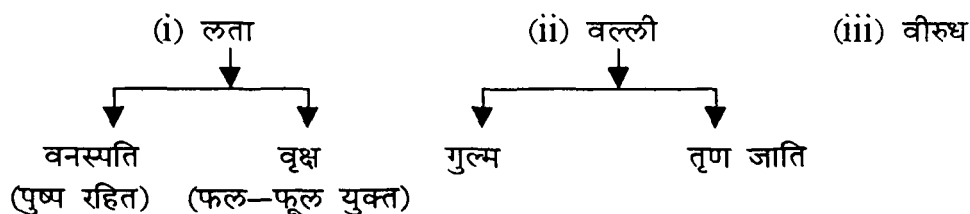
<sup>४</sup> तत्रैव, ९/४५

<sup>५</sup> तत्रैव, ८/१४३—१४९

<sup>६</sup> तत्रैव, ८/५०

की दुनियाँ को सूचित करता है।<sup>1</sup> इनके अतिरिक्त यहाँ वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली, वीरुध, तृण जाति का भी उल्लेख हुआ है। इन छः वर्गों के अन्दर ही वनस्पति की दुनियाँ समाहित है।<sup>2</sup>

लता, वल्ली और वीरुध के विषय में कश्यप—प्रजा—सर्ग के अन्तर्गत उल्लिखित है कि इनकी तीन पुत्रियाँ थी—लता, बल्ली और वीरुध । ये सभी वनस्पतियाँ, वृक्षों और लताओं की माता थी। इनमें से लता ने नदी आदि तट प्रदेश में स्थित रहने वाले पुष्परहित वनस्पतियों को उत्पन्न किया। साथ ही इसने पुष्पो और फलों से संयुक्त वृक्षों को भी उत्पन्न किया। वल्ली ने गुल्मों तथा समस्त तृणजाति को उत्पन्न किया तथा वीरुधानी सन्ततियाँ वीरुध के नाम से विख्यात हुई।<sup>3</sup> इस वर्गीकरण को निम्न चार्ट द्वारा स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है—



पुराणस्थ विषयानुक्रमणिका के अन्तर्गत दिव्यौषधि एवं वनौषधि का भी पृथक् निर्देश हुआ है।<sup>4</sup> वायुपुराण में भी इनका संकेत मिलता है; जैसे कैलास पर्वत,<sup>5</sup> तथा मेरुपर्वत<sup>6</sup> को दिव्यौषधि से युक्त कहा गया है। इसी प्रकार प्लक्षद्वीप को दिव्यौषधि और फलों से युक्त तथा सभी वनस्पतियों से पूर्ण कहा गया है।<sup>7</sup>

### पेड़—पौधों की तालिका :

समीक्ष्य पुराण में निम्नांकित वनस्पतियों एवं औषधियों का उल्लेख हुआ है :—

<sup>1</sup> वायु०, ८/१४९—५६

<sup>2</sup> तत्रैव, ८/१५७

<sup>3</sup> वायु०, ६९/३३८—४९

<sup>4</sup> तत्रैव, ३/१४

<sup>5</sup> तत्रैव, ४७/४

<sup>6</sup> तत्रैव, ३४/५४

<sup>7</sup> तत्रैव, ४९/२९

अक्षोटक (३८/६९); अगरु (४५/३१, ७५/३२); अगस्त्य (७८/९); अणु (८/१५०, १५३)  
 अतसी (३८/६९); अम्बुद (९४/३७); अश्वत्थ (३५/३८, ७७/२९, ७५/१, ७, ७१,  
 ९१/४२-४८); अशोक (३८/६६-६८); आढक्य (८/१५२); आम्र (३८/१८, २९,  
 ६९/३०७, ३८); आम्लक (११०/२५) इक्षु (४९/२८-३०, ४६/९, ७८/७-८); उदार  
 (८/१५१); उदुम्बर, (३८/३, ७५/६७, ७१); उशीर (७५/३२); कदली (३८/६९,  
 ४५/३६); कपित्थ (७५/७५-७६); करम्भ (८/१५२, ७८/१२, ८०/४२); कल्पवृक्ष  
 (८/१२८, ४५/४०); कारुष (८/१५२); कालाम्र (४३/६); काश (७५/४१); काश्मर्य  
 (७५/२); किंशुक (३८/२८-३०); कुरण्डक (७५/३४); कुरुविन्द (८/१५५); कुत्थिक  
 (८/१५१, १५४) खर्जूर (३८/६८, ६५/७५-८४, ७५/७४); खादिर (७४/९); गृञ्जन  
 (७८/१२-१४), गवेधुक (८/१५४); गोधूम (८/१५०, १५३); चणक (८/१५२); जर्तिल  
 (८/१५४); जपा (७५/३४); जम्बू (३५/२६-३२, ४९/२७, ६९/३०७); तण्डुल  
 (६९/३०८); तमाल (४५/३१, ७५/३२); ताल (३७/२३); तिल (८/१५०); तिलक  
 (३८/६८-७०); तुरुष्क (७५/३२); दर्भ (७५/१७-१८, ४३); द्राक्षा (३८/६८), दाडिम  
 (३८/६९); दुर्वार (७५/३८); देवदारु (७५/७२); न्यग्रोध (३२/४२, ३८/५५, ४९/१३५,  
 ३५/४०-४२, ५७/६६-६७, ७५/७१, ६९/१५०, ३०/२५०, ५४/३-५, ७२/२);  
 नाग (३८/६८); निष्ठाव (८/१५१); नीप (७५/७५-७६) नीलाशोक (३८/६८); नीवार  
 (८/१५४, ७५/३९); पटोल (७८/९); पद्म : अम्बुज, कमल, कुमुद, उत्पल (४५/३३,  
 ४१/१४-१६, ३७/२-३, ३६/६-८, ३८/५१, इत्यादि, ६२/१८७-१८८, २४/५२,  
 २३/११३, ५४/६५, २४/११-१३, ५/३१ इत्यादि, ४१/८६, ५७/७९); पनस (४३/४,  
 ६९/३०८); परूषक (३८/६३); पलाण्डु (७८/१२); पलाश (३७/१८-१९, ६२/१९१,  
 ७५/१); पाटल (७२/८-९); पारिजात (३९/२३); पूग (६९/३०७-८), प्लक्ष  
 (४९/२७, ४४, ४६/७, ७५/१, ७१); प्रियंगु (८/१५१, १५४); फल्गु (७५/३); बदरी  
 (३८/७०); बल्भज (७५/६१); वृहतीफल (७८/९); ब्रह्मवृक्ष (९/११४); बिल्व  
 (३८/२४-२५, ६९/३०७, ७५/३-४, ७०-७४, ७७/२९), ब्रीहि (८/१५०, १५३),  
 भण्डी (७५/३४); मधूक (७५/३); मर्कटक (८/१५५); मसूर (८/१५१); महाबोधिसत्त्व  
 (११/२८-३०); माष (८/१५१, १५३); मातुलुंग (३८/४२); मुद्ग (८/१५१,  
 ६९/३०७-८); यव (८/१५०-१५३, १५५); लव (७५/५१); लशुन (७८/१२); वट  
 (३०/२५०); वंशीकरीर (७८/११); विकण्टक (७७/२९; ७५/७१); विभीतक

(७५/७५-७६); वेणु (८/५५, ७५/५); श्यामक (८/१५०-१५५); ७८/६-९); श्लेष्मक (६९/१३५); शाक (४९/८८, १३४); शाल (४३/६, ७५/७२); शात्मलि (४९/४४, १३३, ७५/७५); शालमाला (७५/७५-७६) सर्जक (७८/११); सवीनक (८/१५१); हस्तिनाम (७८/९) इत्यादि। इनमें से माष, मुद्ग आदि खाद्यान्न हैं।

उपर्युक्त तालिका में फलवृक्षों, शोभावृक्षों, पुष्पपादपों, लताओं और खाद्यान्न-पौधों आदि का उल्लेख है, जो पुराणकालीन भारत की वानस्पतिक समृद्धि का परिचायक है। इसके अतिरिक्त यहाँ श्राद्ध-वर्जित एवं यज्ञोपयोगी दोनों ही प्रकार के वृक्षों का उल्लेख है। पुराणस्थ विषयानुक्रमणिका में भी वृक्षों, औषधियों और लताओं का वर्णन है।<sup>१</sup>

### अस्त्र-शस्त्र एवं अन्य युद्धोपयोगी सामग्री

प्रकृत पुराण में यथावसर अन्यानेक अस्त्र-शस्त्रों एवं युद्धोपयोगी सामग्री का उल्लेख मिलता है। यहाँ पर वायुपुराणगत इन अस्त्र-शस्त्रों एवं संग्राम में उपयोगी सामग्री की अतिसंक्षेप में तालिका संकलित की जा रही है, यथा—

१. अङ्कुश (१६/२०); असि (३०/१२४; १०१/२७२; ६९/२५३); अस्त्र (९७/८१; ९७/१०१; ९०/३२; २३/१६७; ९४/४९; ८८/१३५; ९६/७४; ९६/१८८); कवच (२४/१६०; ९७/१९१; ९६/८०; ८८/१९७); कुलिश (३०/१२७); कुशवज्र (२/२२-३); खड्ग (९६/२२२; ९४/२१); खट्वाङ्ग (८८/१८२; ३०/२३७); गदा (३०/२३७; ३०/२४७ ... ३०/१२४; २४/९... ; ५५/१२; ९६/८३); चक्र (९७/१३८-९; ८४/८३; ५५/४४-५; ३०/१२४); चर्मी (१०/४७); तिग्म (२४/१३५; ९७/१८३); दण्ड (३०/२५१; ३०/२६०; ३०/२६६...; ३०/१३०); धनुष (९७/९१; ९९/२०३; ३०/३६; ६६/२९; २५/२; २४/१३२; ५४/१०७-१०८; ५४/६०; ५५/५४; ९७/१६६-७१...; ९७/२८३-९१; ३०/२३५; ९०/३१; ६२/१२७; ६२/१५१; ९४/३५; ९६/१८४; ९५/४०; ९२/६१; ९५/३०-३; ९२/८१-५; ९५/२५-६; ९३/९३; ९३/१८; ५७/६६);

<sup>१</sup> वायु०, १/५८

नख (७६/६४-६६); पट्टिश (२४/१६०; ५५/४५); परशु (३०/१२४; २५/२); पाश (२४/१६०; २४/११७); भुर्भुरी (२०/२३७); मुद्गर (३०/१२३; ६९/२५३); वज्र (६४/७; ९२/८५, ११७; ५४/६६; ३०/२३५; १०९/३-४); वर्म (१०/४७); वरूथ (२४/७७; ९७/१९१; १०/४७); शक्ति (४१/३८-९; ५४/२४); शङ्ख (२४/१६०; २४/१२४; ३०/१२४); शूल (२६/२; ५५/३०; ५४/३; ९७/१६६-७१, ९६/२८९; ७०/८; २४/३६ etc. ; २५/१७; ५५/५४; २५/७०; २५/८९; ५४/१०७-८; २४/५५; ३०/२१५; ३०/१२' २३/२०६; ९/९१; २३/१०५. हलायुध (९४/६४; ९७/७५; २३/१९९ ) इत्यादि ।

### खाद्य एवं पेय

खान—पान द्वारा मनुष्यमात्र के शरीर की पुष्टि के साथ—साथ मन एवं मस्तिष्क का भी संवर्द्धन होता है। आलोच्य पुराण में जिन भोज्यान्तों एवं पेय—पदार्थों का विवरण मिलता है उसे निम्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

अन्न भोजन — व्रीहि, नीवार, तण्डुल, श्यामक, गोधूम, तिल, मसूर, मुद्ग, माष, निष्पाप, चना, कुलित्य आदि।

पक्वान्न — अपूप, गुडौदन, व्यञ्जन, करम्भ, कृशर, सर्पिस्तल,

पेय पदार्थ — आसव, सुरा, दूध, सोम, अमृत, मधु आदि ।

अन्य उपभोग्य पदार्थ—एला, लवंग, ताम्बूल, कूर्पर, हरिद्रा आदि विभिन्न फल, मूल, एवं कन्द पदार्थ।

प्रकृत पुराण में भोज्यान्तों एवं पेयपदार्थों की उत्पत्ति एवं महत्ता के विषय में अनेकत्र उल्लेख मिलता है। पुराणस्थ अनुक्रमणिका में अन्नादि से शरीरों की सृष्टि का संकेत है।<sup>१</sup> पृथु—काल में पृथ्वीलोक में सभी वस्तुओं की उत्पत्ति कही गयी है और कहा गया है कि इनसे पूर्व फूल, मूल आदि आहार द्वारा बड़ी कठिनाई से लोगों का जीवन चलता था।<sup>२</sup> अन्यत्र

<sup>१</sup> वायु० १/६०

<sup>२</sup> तत्रैव, ६२/१७६

मिलता है कि त्रेतायुग के आदि में पृथ्वी ने जिन औषधियों को छिपा लिया था, बाद में ब्रह्मा ने पृथ्वी को दुहा और तब धेनुरूपा पृथ्वी ने जंगली और ग्रामीण बीजों को पृथ्वीतल पर उत्पन्न किया।<sup>१</sup> श्राद्ध के अवसर पर इसकी महती महत्ता उल्लिखित है। अन्नदान को सबसे बड़ा दान कहा गया है।<sup>२</sup> नवीन अन्न के दानकर्ता को सर्व-भोग-प्राप्तकर्ता पूज्य एवं स्वर्गगामी कहा गया है।<sup>३</sup> कामनाओं के विषय में कहा जाता है कि वह कभी पूरी नहीं होती है। इसी संदर्भ में यहाँ कहा गया है कि समस्त पृथ्वी पर जितना अन्न, जौ आदि है वे सब मिलकर भी एक मनुष्य के लिए पर्याप्त नहीं है।<sup>४</sup>

### खाद्यान्न एवं पक्वान्न :

प्रकृत पुराण में निम्नलिखित खाद्यान्नों एवं पक्वान्नों का उल्लेख हुआ है, जैसे—ओदन(६९/२८७, ८०/४६); कर्दम (३०/१५२), करम्भ (८०/४२, ८/१५२, ७८/१२); कृशर (६९/२४७); कुलमाष (८०/४७); क्षीरचाशु (७५/५१), खण्डकशर्करखालुका (३०/१५७); गुडकुल्या (३०/१५२); गुडौदन (६९/२८७); तिलचूर्ण (६९/२८७, ८३/५०, ६९/२८); मधु—मण्डोदका (३०/१५१); पृथक् (८०/४७); पिण्याक (१६/१४); पिष्टक (८०/४२); पूपा (८०/४८, ८०/४३, ८१/३); यवागू (११/४२, १६/१३); यावक (१६/१३); व्यञ्जन (४०/४८), सक्तु (८०/४८); सक्तुलाजा (८०/४८), सर्पिस्तिल (७५/२२) इत्यादि ।

### पेय पदार्थ :

पेय पदार्थों में अमृत (४५/२८; ३०/२१; ३५/२८ इत्यादि; १६/५; १/२; ४२/२; ४९/१०; ३०/२२६-७; २७/१९७-८०; ९७/२२; ६२/१९७), दूध (१६/१३; ३३/२६६; ८०/४६-८ इत्यादि, ६२/१५१..; १/१२४; ८/१४८..., ८०/२८; ९१/११; ८०/४२-४; ११/४२-२; १६/१३); मधु (८/९२; ५८/९७; ९९/४०४; ८/१२८;

<sup>१</sup> वायु०, ८/१४७-५०

<sup>२</sup> तत्रैव ८०/५५-५७;

<sup>३</sup> तत्रैव, ८०/४९;

<sup>४</sup> तत्रैव, ९३/९६

४६/७; ३९/२६६-७; ४६/२८७; ३९/२६६-७; ७९/११-२; १८/२०-१; ८०/५०; ४५/२६-८); सुरा (३०/२६६-७; ६९/२८७; ६५/११६; ८२/३६-७; ८२/६१-३; ५८/४; ५८/४३; ६०/७५; १०/४९; ३०/१००); सोम (९७/१९७-८०; ३०/२६६६१-७ इत्यादि; ६२/११०; ३०/१००; ३०/१० इत्यादि; ३०/१६; ६/१९; ९९/१०२; ७८/६; ७१/६५-६; ७३/१४; ७३/२६; ७३/५२; ३०/७ इत्यादि...; ६२/१७६-७; ८१/२०-२; ८३/६२; ९०/१-२०) के साथ साथ विभिन्न फलों के रस (४६/९; ४५/१४-२०; ४५/६-९; ४३/३-५; ४६/१२-२९; ३५/३०-१; ४३/४-५; ३८/६५) विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

पिशाचादि द्वारा पका व कच्चा मांस खाने का भी अनेकत्र उल्लेख हुआ है।<sup>१</sup> मांसभक्षण, मदिरा, दुग्ध-प्रयोग, शाक-भाजी, तरकारी आदि के भोज्य-अभोज्य सम्बन्धी विविध कथन उद्धृत हुये हैं। गया में दुग्ध मिश्रित चरु, सक्तु, पेठा, चावल, विभिन्न फल एवं मूल, तिलकल्क, घृतसमेत गुडखण्ड अथवा दही या मधु या घृत सहित पिण्याक द्वारा श्राद्ध अक्षय फलदायी कहा गया है।<sup>२</sup> लहसुन, गाजर, प्याज, पिण्डमूलक करम्भ आदि वस्तुएँ रस और गन्ध से निन्द्य होने के कारण श्राद्धकर्म में वर्जित कही गयी हैं।<sup>३</sup>

मांस<sup>४</sup> और मदिरा<sup>५</sup> के प्रति अपेक्षित एवं उपेक्षित दोनों ही भाव यहाँ मिलते हैं। दूध, मदिरा, मांस आदि वस्तुओं के विक्रेता को 'पूयवह' नरकगामी कहा गया है।<sup>६</sup> इसके अतिरिक्त सोमरस के विक्रेता, मांस-भक्षण, और मदिरापान करने वाले को भी नरकगामी कहा गया है।<sup>७</sup> बिना मिलाये (दूसरी वस्तु को मिलाये बिना) अर्थात् कोई एक अन्न, मधु, मांस, अधिक नमक

<sup>१</sup> वायु०, ९/३९; ६९/२५७; ३०/२०३; १०/४९; ७०/६३; ६९/२५४; ५८/९७; १८/२०-१; ७८/५; ८१/३; ८३/२-९२; ३०/१५०-२; ८८/१२-२४; ८६/१-२; ६९/१९७; ६९/११४; ६९/२६७-७९; ५८/५३;

<sup>२</sup> तत्रैव, १०५/३३-३५

<sup>३</sup> तत्रैव, ७८/१२

<sup>४</sup> तत्रैव ६९/२८७, १०/४९; ८३/४-९, १०१/१६८ इत्यादि।

<sup>५</sup> तत्रैव, १०/४७; १०/४९; ६५/११६; ६९/२८७; १०१/१६५ इत्यादि।

<sup>६</sup> तत्रैव, १०१/१६२

<sup>७</sup> तत्रैव, १०१/१६५



यतियों के लिए वर्जित कहा गया है।<sup>१</sup>

उपर्युक्त समस्त उद्धरणों से प्रतीत होता है कि शास्त्रीय दृष्टि से निषिद्ध होने पर भी मांस—भक्षण और मदिरापान अप्रचलित नहीं था । यहाँ भोजन विषयक औपचारिकताओं का उल्लेख है किन्तु भोजन के नियत समय का उल्लेख नहीं मिलता । इसके अतिरिक्त खाद्य—पेय विषयक सम्पूर्ण दृष्टिकोण परिवर्तनशीलता का परिचायक है।

### वस्त्र और आभूषण

वस्त्राभूषण भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का अभिन्न अंग रहा है। सामान्यतः स्त्री पुरुष अपने को तथा अपने इष्टदेव को विभिन्न वस्त्राभरणों द्वारा सँवारते आये हैं। वस्त्रों में दुकूल, अंशुक, उत्तरीय, उष्णीष आदि का उल्लेख तथा अलंकरणों में अंगद, वलय, हार, कुण्डल आदि का उल्लेख हुआ है। वायुपुराणगत वस्त्रों एवं आभरणों का विवरण इस प्रकार है :

#### वस्त्र— विधान :

यहाँ वस्त्र के लिए 'वास' या 'वसन' पद भी प्रयुक्त हुआ है।<sup>२</sup> वसनहीनता, वस्त्रों का विकास, वस्त्रों की उपयोगिता एवं महत्ता, इनके आकार—प्रकार, चीर और वल्कल योगियों के विशिष्ट वस्त्रों, सूती, रेशमी, ऊनी आदि का यहाँ स्पष्ट निरूपण हुआ है। इसके अतिरिक्त बाल—प्रसाधन, दाढ़ी—मूँछ, उष्णीष का भी अनगिनत स्थलों पर कथन हुआ है। स्कन्दी कहे जाने वाले पिशाचगणों को नग्न,<sup>३</sup> शिवपुत्रों को वसनहीन<sup>४</sup> तथा शिव—स्तुति के अन्तर्गत शिव को 'दिग्वासा'<sup>५</sup> कहकर उनकी वसनहीनता की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है। त्रेतायुग में

<sup>१</sup> वायु०, १८/२०

<sup>२</sup> तत्रैव, १०/४५—६; २४/१३२; ५४/७२ etc.

<sup>३</sup> तत्रैव, ६९/२७९

<sup>४</sup> तत्रैव, १०/४५—६

<sup>५</sup> तत्रैव, २४/१३२; २४/१२९; ५४/७२; ५४/७७; ९७/१९२

वस्त्र एवं आभरण वृक्षों से प्राप्त होते थे।<sup>१</sup> वस्त्रों को सभी देवताओं द्वारा प्रशंसित तथा सर्वदेवमय कहा गया है। यहाँ स्पष्टतः कथित है कि इनके अभाव में न तो कोई क्रिया सम्पन्न होती है और न ही तप—यज्ञ सफल होता है। इसलिए श्राद्ध के अवसर पर विशेष रूप से वस्त्रों का दान करना चाहिए।<sup>२</sup> अन्यत्र कहा गया है कि दीर्घायु, ऐश्वर्य, सुन्दरता तथा पुत्र की प्राप्ति के लिए श्राद्धकर्म में बिना फटा हुआ ओढ़ने का वस्त्र प्रदान करना चाहिए।<sup>३</sup> जटाधारण, चीरपत्र और अजिन वानप्रस्थियों के धर्म कहे गये हैं।<sup>४</sup> चीर, वल्कल वस्त्र धारण करने वालों का अन्यत्र भी उल्लेख मिलता है; जैसे शुक्राचार्य के आदेश पर दैत्यों ने चीर और वल्कल धारण किया था।<sup>५</sup> उपवीर कहे जाने वाले पिशाचगणों को चीर धारण करने वाला कहा गया है।<sup>६</sup> शिव—स्तुति में शिव के लिए चीरवासा,<sup>७</sup> हिरण्यमय चीरधारी,<sup>८</sup> वल्कलाजिनधारी,<sup>९</sup> चीराम्बरधारी,<sup>१०</sup> आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। कलियुग—विवेचन और कल्कि—अवतार में भी वृक्ष से प्राप्त वल्कलों और चीरपत्रों का तथा अजिन (मृगचर्मों) का उल्लेख हुआ है।<sup>११</sup>

वायुपुराण में खाल अथवा त्वचा से निर्मित वस्त्रों का भी स्पष्ट संकेत हुआ है; शिव को चर्मवसनधारी,<sup>१२</sup> रक्तमयबाघम्बर पहने,<sup>१३</sup> कृष्णचर्म से विभूषित,<sup>१४</sup> कृष्णाजिनोत्तरीयधारी<sup>१५</sup> इत्यादि कहा गया है।<sup>१६</sup> एक स्थल पर विष्णु को कृष्णाजिनावृतरूप में दिखाया गया

<sup>१</sup> वायु०, ८/८९

<sup>२</sup> तत्रैव, ८०/३९—४०

<sup>३</sup> तत्रैव, ८०/४—६

<sup>४</sup> तत्रैव, ८/१८३

<sup>५</sup> तत्रैव, ९७/१०८—२५

<sup>६</sup> तत्रैव, ६९/२७३

<sup>७</sup> तत्रैव, ९७/१६४

<sup>८</sup> तत्रैव, ५५/४८

<sup>९</sup> तत्रैव, ३०/२२४

<sup>१०</sup> तत्रैव, २४/९३

<sup>११</sup> तत्रैव, ५८/९८/१२९; ९९/४०५

<sup>१२</sup> तत्रैव, २१/५०—१

<sup>१३</sup> तत्रैव, ३०/१२५

<sup>१४</sup> तत्रैव, ५५/१४

<sup>१५</sup> तत्रैव, ३०/२२१

<sup>१६</sup> तत्रैव, २५/८१

है।<sup>१</sup> श्राद्धीय वस्तुओं में वस्त्र को परिगणित करते हुए कृष्णाजिन अर्थात् कृष्ण मृगचर्म वितरण का विधान विहित है।<sup>२</sup> कलियुग—विवेचन में भी कृष्णमृगचर्म का उल्लेख हुआ है।<sup>३</sup>

वायुपुराणकाल में सूती, रेशमी, ऊनी और सन से बने वस्त्रों का प्रयोग होता था। श्राद्ध में ब्राह्मणों को ऊनी, रेशमी वस्त्र, कम्बल, चर्म, सुवर्ण, निर्मित पट्ट, मृगलोम दान करने का विशेष महत्त्व बताया गया है।<sup>४</sup> श्राद्ध में कौशेय, क्षौम, कार्पास, दुकूल दान करने वाला समस्त मनोरथों को प्राप्त करता है।<sup>५</sup> श्राद्ध और यज्ञ में दिये जाने वाले वस्त्र के विषय में विशिष्ट तथ्य पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि नवीन क्षौम (अलसी अथवा पाटकी खाल से बना हुआ सूत) सूत्र, कपास—सूत, शाणसूत पितरों के उद्देश्य से दान करे किन्तु ऊन, पत्ते या रेशम का सूत पितरों के उद्देश्य से नहीं देना चाहिए। इसी प्रकार यज्ञ में वस्त्र के अंचल भाग को भले ही वह नवीन वस्त्र क्यों न हो, वर्जित रखना चाहिए।<sup>६</sup>

कलियुग—प्रसंग में विवेचित है कि लोग चूल धारण करने वाले, कषाय वस्त्र धारण कर धर्माचरण करने वाले तथा वस्त्र की चोरी करने वाले चोर होंगे।<sup>७</sup> यहाँ वस्त्रों के वर्ण—भेद का भी उल्लेख हुआ है। कल्प—निरूपण प्रसंग में पीत, श्वेत, रक्तिम और कृष्ण वस्त्रों का उल्लेख है।<sup>८</sup> राक्षसों के स्वरूप—वर्णन के अन्तर्गत उनके वस्त्रों को विचित्र रंग का कहा गया है। उत्तरीय एवं उत्तरासंग विशिष्ट परिधानों का उल्लेख शिव<sup>९</sup> और विष्णु<sup>१०</sup> के सन्दर्भ में हुआ है।

<sup>१</sup> वायु०, २५/३४

<sup>२</sup> तत्रैव, ७४/४—५

<sup>३</sup> तत्रैव, ९९/४१०

<sup>४</sup> तत्रैव, ८०/३४

<sup>५</sup> तत्रैव, ८०/३

<sup>६</sup> तत्रैव, ७५/२९—३०

<sup>७</sup> तत्रैव, ५८/५८—९

<sup>८</sup> तत्रैव, २२/१०, २३, ३१; २३/२, १७, २६, ३१ इत्यादि।

<sup>९</sup> तत्रैव, ३०/२२१

<sup>१०</sup> तत्रैव, २५/३२

### प्रसाधन :

केश—प्रसाधन तथा दाढ़ी—मूँछ सम्बन्धी अनेक कथन भी यहाँ देखने को मिलते हैं। शिव—स्तोत्रों के अन्तर्गत शिव को चूड़ाल,<sup>१</sup> त्रिजट,<sup>२</sup> मुक्तकेश,<sup>३</sup> आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है। अन्यत्र शिव की एक जटा का उल्लेख है।<sup>४</sup> १९वें द्वापर युग में शिव का जटामाली नाम बताया गया है।<sup>५</sup> शिव के अट्टहास के समय उनकी बगल से उत्पन्न कुमारों में से कोई जटी था, कोई मुण्डी, कोई शिखण्डी तो कोई अर्द्धमुण्डी था।<sup>६</sup> भूति से उत्पन्न भूतगणों को मुंजकेश, हृषीकेश कहा गया है।<sup>७</sup> जटाधारण को ब्रह्मचारियों द्वारा पालनीय धर्मों में परिगणित किया गया है।<sup>८</sup> इसके अतिरिक्त स्कन्दी पिशाचगणों के लम्बे केश कहे गये हैं।<sup>९</sup> कलियुग—प्रसंग में लोगों को मुक्तकेश अर्थात् विखराये हुए केशों वाला कहा गया है।<sup>१०</sup> तुम्बुरु की दो कन्याओं में से एक का सुकेशा नामकरण किया गया है।<sup>११</sup> उपवीर नामक पिशाचगणों को दाढ़ी—मूँछ रखे हुए कहा गया है।<sup>१२</sup> राजा सगर के विषय में आख्यात है कि उन्होंने शकों का आधा सिर मुण्डित कराकर, यवनों और कम्बोजों के पूरे सिर को, पारदों के केवल केश छोड़कर दाढ़ी—मूँछों को मुण्डित कराकर तथा पहलवों की केवल दाढ़ी रखवाकर छोड़ दिया था।<sup>१३</sup>

---

<sup>१</sup> वायु०, ३०/२५०

<sup>२</sup> तत्रैव, ३०/१८९

<sup>३</sup> तत्रैव, ९७/६५

<sup>४</sup> तत्रैव, ५५/५१—५

<sup>५</sup> तत्रैव, २३/१८६—८

<sup>६</sup> तत्रैव, २३/५९

<sup>७</sup> तत्रैव, ६९/२४५

<sup>८</sup> तत्रैव, ८/१८२—३

<sup>९</sup> तत्रैव, ६९/२७९

<sup>१०</sup> तत्रैव, ५८/५८—९

<sup>११</sup> तत्रैव, ६९/४९

<sup>१२</sup> तत्रैव, ६९/२७३

<sup>१३</sup> तत्रैव, ८८/१४०—१

उष्णीष (पगड़ी) का भी यहाँ अनेकत्र उल्लेख मिलता है; श्वेतोष्णीष,<sup>१</sup> पीतोष्णीष,<sup>२</sup> कृष्णाम्बरोष्णीष<sup>३</sup> का कल्प—विवेचन में उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त विष्णु के वरदान स्वरूप ब्रह्मा के सिर पर सुशोभित श्वेत पगड़ी का भी यहाँ उल्लेख है।<sup>४</sup> एक स्थल पर राक्षसों द्वारा पगड़ी बाँधने का उल्लेख है।<sup>५</sup> अन्यत्र इसे शिवदूतों द्वारा प्रयुक्त कहा गया है।<sup>६</sup>

### अलंकरण :

प्रकृत पुराण में वस्त्रों के साथ हार, मुकुट, मालादि, अलंकरणों के प्रचलन का भी स्पष्ट संकेत हुआ है। भिन्न—भिन्न अंगों में विभिन्न धातुओं के आभरण पहने जाते थे। अलंकार निर्माण एवं प्रयोग में शरीरांग की अनुकूलता के संदर्भ में इसमें विवरण मिलता है कि जिस प्रकार गीतों के अलंकार में विपर्यास गर्हित है वैसे ही चरणों में कुण्डल तथा कण्ठ में रसना धारण करना अर्थात् अलंकारों का अनुपयुक्त अंगों में प्रयोग अनुचित है।<sup>७</sup> वराहरूपधारी हरि की श्रुति का अलंकार वेदांग को बताकर कर्णालंकार के साथ दैवी सम्बन्ध स्थापित किया गया है।<sup>८</sup> स्यमन्तकमणि का प्रभाजनीय शरीराङ्ग कण्ठ वर्णित करते हुए कण्ठाभूषण की ओर संकेत किया गया है।<sup>९</sup> शिव के विषय में कहा गया है कि उनका शरीर विविध आभूषणों से सुशोभित था तथा विविध रत्नों से उनके अंगों की शोभा चित्र—विचित्र हो रही थी।<sup>१०</sup> शिवदूत वीरभद्र की मूर्द्धा को नाना प्रकार के कुसुमों से सुसज्जित वर्णित किया गया है।<sup>११</sup> इसी प्रकार

<sup>१</sup> वायु०, २२/१०; २३/६३—४

<sup>२</sup> तत्रैव, २३/३,१७

<sup>३</sup> तत्रैव, २३/२६,३१

<sup>४</sup> तत्रैव, २४/५२

<sup>५</sup> तत्रैव, ७०/६२

<sup>६</sup> तत्रैव, ३०/१३२

<sup>७</sup> तत्रैव, ८७/२५

<sup>८</sup> तत्रैव, ६/९७

<sup>९</sup> तत्रैव, ९६/२५

<sup>१०</sup> तत्रैव, ५५/५३

<sup>११</sup> तत्रैव, ३०/१३३

भुवन—विन्यास निरूपण में स्वामी पुलोमा को वेश—भूषा और मालाओं से सुसज्जित कहा गया है।<sup>१</sup> अन्यत्र विवेचित है कि पुष्टि के आदेश पर छाया शीघ्र ही दिव्याभूषणों से विभूषित तथा दिव्य अंगावयवों से सुशोभित स्त्री रूप में परिणत हो गयी थी।<sup>२</sup> वास्तव में नारी की सौन्दर्यवृद्धि नाना आभूषणों द्वारा होती है।<sup>३</sup> एक स्थल पर वर्णित है कि दीर्घतमा के पास अपनी धाय को भेजने के पूर्व बलि—पत्नी सुदेष्णा ने उसे आभूषणों से सुसज्जित किया था।<sup>४</sup> इन अलंकरणों के अतिरिक्त लाक्षारस,<sup>५</sup> अनुलेप एवं अञ्जन<sup>६</sup> का भी यथावसर यहाँ उल्लेख हुआ है।

अध्येय पुराण में निम्नलिखित आभूषणों का उल्लेख हुआ है : अक्षमाला (५०/५०), अंगद, (२४/१, ७०/६२, ५०/४७, ४५/४५); किंकिणी (४१/३८, २४/१४८, ७३/७३); किरीट (२४/९, २४/५३); कुण्डल (४५/४५, ५०/४७, ७०/६२); केयूर (२४/१५३, ४५/४५); मुकुट (४५/४५, ७०/६२); मेखला (८/१८२, २४/५६) वलय (४५/४५) श्रीवत्स (२५/२५) श्रोणीबन्ध (३२/४७), सूत्र (२४/१५४), हार (६९/१४३, ४५/४५, ५९/४९), इत्यादि।

इस प्रकार आभूषणों में रत्नजटित, स्वर्णाभूषण, मुक्ताभूषण, रजताभूषण एवं पुष्पाभूषण का उल्लेख हुआ है और कण्ठाभरण, हस्ताभूषण कर्णालंकार का स्पष्ट निर्देश हुआ है। उपर्युक्त उद्धरण वायुपुराणकालीन जनमानस की परिष्कृत नागरिक सुरुचि के सुस्पष्ट प्रमाण हैं।

<sup>१</sup> वायु०, ३८/१६-७

<sup>२</sup> तत्रैव, ६२/८३

<sup>३</sup> तत्रैव, ८७/२४

<sup>४</sup> तत्रैव, ९९/६९

<sup>५</sup> तत्रैव, १००/१६५; १०१/१६९

<sup>६</sup> तत्रैव, ३०/१३३; ६९/२४७



### उपसंहार

पौराणिक वाङ्मय भारतीय संस्कृति का विश्वकोश है। यह वाङ्मय अपने विशाल कलेवर में भारतीय संस्कृति के अनेक प्राचीन एवं मध्यकालीन सन्दर्भों को संजोये हुए है। पुराण शब्द प्राचीनता (जिसमें नवीनता का पुट है) का प्रतीक है। पुराण में पञ्चलक्षण—सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर एवं वंशानुचरित, सभी पुराणों में कम या अधिक रूप में विद्यमान है। इन मुख्य पञ्च विषयों के अतिरिक्त भी असंख्य विषय इसमें निहित हैं। पुराण—उपपुराण एवं औपपुराण की संख्या अठारह—अठारह है। प्राचीनता एवं रचनाकाल के पक्ष में यदि विचार किया जाय तो यह भी वेदवत् अपौरुषेय, नित्य एवं प्रामाणिक सिद्ध होते हैं क्योंकि वेद, ब्राह्मण ग्रन्थों, सूत्र ग्रन्थों, उपनिषदों, महाकाव्यों आदि में इनका उल्लेख है जो इन्हें अपने से पूर्ववर्ती सिद्ध करते हैं। पुराणों की रचना मुख्यतः जनसामान्य के शिक्षण हेतु हुई।

चार पाद अथवा खण्डों में विभक्त वायुपुराण वेदव्यास द्वारा प्रणीत सुललित महापुराण है। स्वल्पभेद से इसे उपपुराण कहा जा सकता है किन्तु यह उत्तम कोटि का महापुराण ही है। इसके प्रथम पाद के प्रथम अध्याय में सम्पूर्ण पुराणस्थ विषय—सामग्री निर्दिष्ट है। वायुपुराण के कई स्थल शिव पुराण और ब्रह्माण्ड पुराण में मिल जाते हैं जो इनके एक होने की शंका उत्पन्न कर देते हैं किन्तु गहन अनुशीलन इस शंका का निराकरण कर इसे स्वतंत्र महापुराण की कोटि में लाकर खड़ा कर देता है। पञ्चलक्षणों का इसमें पूर्ण समावेश है। त्रिदेव—समन्वय इसे साम्प्रदायिक भावना से ग्रस्त पुराणों की कोटि से पृथक् कर देता है। प्राचीनता सम्बन्धी विभिन्न तथ्य इसे अति प्राचीन पुराण सिद्ध करते हैं। यद्यपि कुछ अध्याय इसकी अर्वाचीनता के प्रतिपादक हैं किन्तु, फिर भी इसकी रचना ३५० से ५५० के बीच स्वीकार की जा सकती है।

भाषा अत्यन्त सरलता, सरसता, सहजता सुन्दरता एवं नैसर्गिता से परिपूर्ण है जिसमें सम्प्रेषणीयता एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति पद—पद पर विद्यमान है और जो यत्र—तत्र आह्लादकता एवं रमणीयता से भी युक्त है। प्रसाद एवं माधुर्य गुण सर्वत्र तथा यत्र—तत्र ओज भी अवलोकनीय है। सूक्ति एवं मुहावरे भाषा के सौन्दर्य को द्विगुणित कर देते हैं। निरुक्ति—निर्वचन एवं पारिभाषिक पदों द्वारा भाषा में स्पष्टता झलकती है। अनुष्टुप्, उपजाति, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वंशस्थ आदि छन्दों का सुन्दर समावेश है। यद्यपि कहीं—कहीं इनमें छन्दों भंगता भी दिखाई देती है। शब्द एवं अर्थ के सौन्दर्यवर्धक विविध शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों का प्रयोग मानो भाषा की सम्प्रेषणीयता एवं भावों की सफल अभिव्यक्ति के लिये ही किया गया है।

असंख्य आख्यानों द्वारा यह पुराण अपने प्रणयनकाल से ही अपने पाठकों को सदैव सद्गुणों की प्रेरणा देता रहा है। इनके माध्यम से हम भारतीय वाङ्मय के मर्म तक पहुँचने में सफल होते हैं। इन आख्यानों में जिज्ञासा, कौतूहलता, रोचकता एवं सरलता का पुट है जो आदि से अन्त तक पाठकों को बाँधे रहता है। इन आख्यानों में तत्कालीन समाज की झाँकी भी दर्शनीय है। कतिपय आख्यान अतिशयोक्तिपूर्ण हैं फिर भी पुराणकार अपने मूल लक्ष्य पर अडिग है। विन्टरनिट्स जैसे उच्चकोटि के विद्वान् ने तो इस कथा—साहित्य को सम्पूर्ण विश्व को भारत की अद्भुत देन कहा था ।

सर्ग—प्रतिसर्ग सम्बन्धित अध्यायों के अन्तर्गत सृष्टि एवं प्रलय सम्बन्धी प्रक्रिया का विवेचन हुआ है। इसमें नवसर्ग का वर्णन बड़ी सरल रीति से प्रस्तुत किया गया है। सृष्टि—रचना, सांख्यदर्शन से बहुत प्रभावित है। किन्तु यहाँ निरीश्वर सांख्य से भिन्न सेश्वर सांख्य के कारण किञ्चित् भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। यहाँ तीनों गुणों में क्षोभ होने पर महदादि तत्त्वों की उत्पत्ति कही गई है और इसे ही सर्ग कहा गया है। पुराणों के गहन निरीक्षण



से सृष्टि और प्रलय सम्बन्धी मत सहज ही अवगत हो जाते हैं। पुराणकार ने इसके सम्बन्ध में सुलझा हुआ विचार प्रकट किया है।

ब्रह्मा से उत्पन्न राजाओं की भूत, भविष्य और वर्तमान कुल परम्परा का यहाँ क्रमबद्ध विवेचन हुआ है। पुराणों के अन्तर्गत व्यास जी ने विस्तृत वंश को संक्षिप्त किन्तु सुस्पष्ट लेखबद्ध किया है। 'गागर में सागर' वाली कहावत का यथार्थ दिग्दर्शन इन वंशावलियों के चिंतन मनन से स्पष्ट हो जाता है। विभिन्न पुराणों की परस्पर तुलना करने पर इन वंशावलियों में विरोध दिखाई देता है। वास्तव में विस्तृत वंशावली को संक्षिप्त करने के कारण ऐसा हुआ है क्योंकि चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षों के एक पौराणिक कल्प और अन्य कल्पान्तरो के समूचे वंशक्रम को उद्धृत कर देना अत्यन्त दुष्कर ही नहीं असम्भव भी है।

वंशानुचरित के अन्तर्गत वंश में उत्पन्न विशिष्ट व्यक्ति के चरित्र—निर्माण का कथन किया गया है। यहाँ किंकर्तव्यविमूढ़ व्यक्तियों के लिए आख्यानदि के द्वारा अनेक धर्म व्यवस्थाएँ दी गई हैं जो चरित्र निर्माण में सहायक होती हैं। भूगोल एवं खगोल सम्बन्धी विवरणों में पूर्ण यथार्थता का समावेश न होना कुछ अटपटा लगता है। फिर भी यह पुराणकार के गहन ज्ञान का परिचायक है।

भारतीय धर्म, दर्शन एवं संस्कृति पर यहाँ विस्तृत विचार मिलते हैं। धर्म प्रसंग में शैव, वैष्णव, शाक्त आदि धर्म सम्बन्धी विचारधारा के द्वारा भारतीय संस्कृति की अद्भुत विशेषता 'समन्वय की भावना' की ओर इंगित किया गया है। यह तत्त्व इस पुराण को अन्य साम्प्रदायिक पुराणों से विलक्षण एवं उत्तम कोटि का पुराण सिद्ध करता है। यहाँ निर्दिष्ट देवी—देवताओं सम्बन्धी कथन वैदिक प्रभाव से आवृत्त हैं। नास्तिक सम्प्रदाय, जैन एवं बौद्ध धर्म सम्बन्धी तथ्य यहाँ सांकेतिक रूप में उल्लिखित हैं। यज्ञ एवं याज्ञिक क्रियाओं के निरूपण के साथ—साथ विभिन्न यज्ञीय उपकरणों का भी यहाँ यथावसर उल्लेख वैदिककालीन

धार्मिक परिकल्पना को सजीव बना देता है। अनेक वैदिक अथवा पौराणिक मंत्र यहाँ अवलोकनीय हैं ।

स्तुति—सम्पदा के द्वारा पुराणकार ने विभिन्न देवी—देवताओं के स्तवन एवं वन्दन के साथ महात्म्य को वर्णित कर इसके अद्भुत महत्त्व को प्रस्तुत किया है। दुःख, विषाद, निराशा आदि के क्षणों में व्यक्ति इनके द्वारा शान्ति का अनुभव करता है।

अन्य पुराणों की भाँति यह पुराण भी तीर्थ—माहात्म्य वर्णनों से भरा पड़ा है। यह वर्णन भौगोलिक ज्ञान का परिचायक है। यहाँ लगभग २५० तीर्थों की सूची में शैव, वैष्णव, शाक्त, बौद्धादि तीर्थों का सम्मिश्रण है। तीर्थ—यात्रा द्वारा यज्ञ—लाभ की चर्चा है।

दार्शनिक तत्त्वों में सांख्य—दर्शन का स्पष्ट रूप से उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त पाशुपत योग के शाश्वत धर्म : प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा तथा स्मरण का स्पष्ट उल्लेख है। इनमें से प्रथम चार का पातञ्जल—योग के समान वर्णन हुआ है। इस प्रकार से दर्शन सम्बन्धी ये स्थल इस पुराण की दार्शनिक महत्ता के परिचायक हैं।

भारतीय संस्कृति के परिचायक विभिन्न तत्त्वों (वर्ण—चतुष्टय एवं अन्य जातियाँ, आश्रम व्यवस्था, आर्थिक दशा, संस्कार, मनोविनोद, नारी—दशा, शिक्षा, स्वास्थ्य एवं रोग, जीव—जन्तु, वनौषधि, खान—पान आदि) का विस्तृत एवं सुस्पष्ट वर्णन मिलता है।

वर्णाश्रम धर्म मनुष्य को धर्म—मार्ग से ले जाता हुआ नरपशु से नरमानव बनाकर मोक्ष के गन्तव्य स्थान पर ले जानेवाला सिद्ध हुआ है। संस्कारों का सोद्देश्य वर्णन न होकर प्रासंगिक रूप में हुआ है। साथ ही विवाह संस्कार का अन्य की अपेक्षा कुछ विस्तृत उल्लेख मिलता है। स्त्री कन्या, माता, पत्नी आदि विभिन्न प्रतिष्ठित पद पर आसीन हैं। सर्वत्र उसकी महत्ता को स्वीकार करते हुए उदारभाव व्यक्त किये गये हैं। कन्यादान, अन्नदान, गोदान आदि दान के विशिष्ट महत्त्व का प्रतिपादन भी यहाँ दृष्टव्य है। मनोविनोद के साधनों द्वारा

शोक का संहार एवं सुख की प्राप्ति कही गई है। खाद्य एवं पेय सम्बन्धी विभिन्न पदार्थों का भी यहाँ प्रचुर उल्लेख है। कौषेय, क्षौम, और पट्टसूत्र द्वारा निर्मित विविध प्रकार के रेशमी, ऊनी एवं सूती वस्त्रों का उल्लेख इनके तत्कालीन प्रचलन के स्पष्ट प्रमाण है। जन्तु—वर्ग एवं वृक्ष—सम्पदा की यहाँ विस्तृत सूची मिलती है। विभिन्न रोगों एवं उनकी चिकित्सा सम्बन्धी सन्दर्भ चिकित्सा—शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान के स्पष्ट परिचायक हैं। प्रकृत शोध—प्रबन्ध के अतर्गत मैंने यथावसर जन्तुवर्ग, वनस्पति , खाद्य— पेय , अलंकरण, वाद्य—यन्त्र, तीर्थ सम्बन्धी तालिकाओं को उद्धृत किया है जो अपूर्ण है और तत्रागत बहुत—से पदों से मैं अनभिज्ञ भी हूँ।

इस प्रकार प्राचीन पुराणों में अन्यतम वायुपुराण, धर्म, दर्शन एवं संस्कृति की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण पुराण है। वास्तव में पुराण हमारे सर्वस्व हैं और यही हमें सुखमय प्रकाश की ओर ले जायेंगे।

॥ श्रीगुरुदेव चरणार्पणमस्तु ॥

शिवमस्तु

परिशिष्ट

## सूक्तियाँ

साधारणतः सारगर्भित, हितकारी एवं विस्तृत तथ्य को संक्षेप में कहना ही सूक्ति कहलाता है। सूक्ति भाषा का प्राण है। वह स्वर्णनिर्मित आभूषण में रत्नसदृश तथा कर्णेन्द्रिय—रूपी शुक्ति से पान किये जाने वाले सुमधुर मधु के समान है—

“अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम् ।”<sup>१</sup>

समीक्ष्य पुराण में अनेक सूक्तियाँ विविध विषयों यथा— पुरुषार्थ, भवितव्यता, महिमा, करुणा, मित्र, तप, यज्ञ, पुत्र, कर्तव्य, नारी, अनुराग, मनोरथ, ज्ञान, बुद्धि की चञ्चलता एवं विवेकशीलता इत्यादि से सम्बद्ध हैं । कतिपय सूक्तियाँ आस्वादनार्थ प्रस्तुत हैं —

➤ सुखमर्थः समासेन महानप्युपलभ्यते ।<sup>२</sup>

लम्बी बात थोड़े में कहने पर सहज में ही समझ ली जाती है।

➤ सर्वस्वमपि यो दद्यात्कलुषेणान्तरात्मना ।

न तेन धर्मभाक्स स्याद् भाव एवात्रकारणम् ।<sup>३</sup>

कलुषित हृदय से सर्वस्व दान करके भी कोई धर्मभाजन नहीं हो सकता; क्योंकि उसकी भावना शुद्ध नहीं । धर्म लाभ के विषय में मानसिक भावना ही कारण है।

➤ ब्रह्मणा समनुज्ञाते सदा सर्वमभूत्किल ।<sup>४</sup>

विधाता के आदेश से ही सब कार्य हुआ करते हैं

➤ एकेनैव तु गन्तव्यं सर्वमृत्युनिवेशनम् ।

<sup>१</sup> संस्कृत—नाटक—सूक्ति—तरङ्गिणी, कृष्ण कुमार, आमुख भाग (मिश्र, शिवशेखर) ।

<sup>२</sup> वायु० १/११८

<sup>३</sup> तत्रैव, ८/९२

<sup>४</sup> तत्रैव, १०/६३;

एकेनैव च भोक्तव्यं तस्मात्सुकृतमाचरेत् ॥<sup>१</sup>

मृत्युपुर में अकेले ही जाना होता है और कर्मफल का भोग भी अकेले ही करना पड़ता है, इसलिए सुकृत कार्यों को ही करना चाहिए।

➤ मानावमानौ द्वावेतौ तावेवाऽऽहुर्विषामृते ।<sup>२</sup>

मान और अपमान दोनों विष अमृत कहे जाते हैं ।

➤ चक्षुष्मूतं व्रजेन्मार्गं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।

सत्यपूतां वदेद्वाणीमिति धर्मानुशासनम् ॥<sup>३</sup>

आँख से देखकर राह में चलना चाहिए, कपड़े से छानकर जल पीना चाहिए और सत्य से शुद्धकर वचनों का उच्चारण करना चाहिए ।

➤ अल्पसौख्यं बहुक्लेशं जराशोकसमन्वितम् ।

जीवितं मरणं चैव संभवं च पुनः पुनः ॥<sup>४</sup>

बुढ़ापा और शोकग्रस्त जीवन में सुख बहुत कम और क्लेश ही अधिक है, साथ ही जीवन—मरण और पुनर्जन्म का गोरखधन्धा लगा ही रहता है।

➤ स्वप्नभूतं पुनः स्वर्गं दुःखानि नरकास्तथा ।

जीवन में स्वर्ग—सुख स्वप्न है केवल नरक—दुःख का ही भोग करना है।

➤ अचिन्त्याः खलु ये भावास्तांस्तर्केण भावयेत् ।<sup>५</sup>

जो अचिन्तनीय विषय हैं, उनके सम्बन्ध में तर्क नहीं करना चाहिए।

➤ अपग्रहास्ततस्ता वै लोकाचेष्टास्तु वृन्दशः ।

<sup>१</sup> वायु०, १४/३१

<sup>२</sup> तत्रैव, १६/३

<sup>३</sup> तत्रैव, १६/६—७

<sup>४</sup> तत्रैव, २४/८१

<sup>५</sup> तत्रैव, २४/८२

उपहिंसन्ति चान्योन्यं प्रपद्यन्ते परस्परम् ॥<sup>१</sup>

किसी शासक के अभाव में (बिना नियन्त्रण के) सभी लोगों की चेष्टाएँ एक—दूसरे के मारने, लूटने, खसोटने की ओर हो जाती है।

➤ उपायतः समारब्धाः सर्वे सिध्यन्त्युपक्रमाः ।<sup>२</sup>

उपाय द्वारा आरम्भ किये जाने पर सभी कार्य सिद्ध होते हैं।

➤ एकस्यार्थाय यो हन्यादात्मनो वा परस्य वा ।

एकं प्राणं बहून्वाऽपि कामं तस्यास्ति पातकम् ॥

यस्मिंस्तु निहते भद्रे लभन्ते बहवः सुखम् ॥

तस्मिन्हते शुभे नास्ति पातकं चोपपातकम् ॥<sup>३</sup>

जो अकेले एक व्यक्ति के लिए, वह चाहे अपने लिए हो अथवा किसी दूसरे के लिए हो, किसी एक का अथवा अनेक लोगों के प्राणों का हरण करता है उसे घोर पातक सहन करने पड़ते हैं । किन्तु, यदि एक व्यक्ति के मारे जाने पर बहुतेरे लोगों को सुख मिलता है तो उसके मारे जाने पर पातक क्या थोड़ा भी पातक नहीं लगता।

➤ यस्मिन्दोषाः प्रपश्येरन्सदर्भिर्वा वर्जितस्तु यः ।

जानीयाद्वापि संवासाद्वर्जयेत्तं प्रयत्नतः ॥<sup>४</sup>

जिसमें लोग दोष देखते हैं अथवा सज्जन जिसे समाज से बहिष्कृत रखते हैं अथवा जिसके संसर्ग से यह मालूम पड़े कि वह कुसंगी है, ऐसे लोगों को

<sup>१</sup> वायु०, ३४/८

<sup>२</sup> तत्रैव, ६२/१६

<sup>३</sup> तत्रैव, ६२/१६३-१६४

<sup>४</sup> तत्रैव, ७९/६

प्रयत्नपूर्वक वर्जित रखना चाहिए।

➤ दुःखलाभेन तापश्च सुखानुस्मरणं तथा।

मनोभिलषित वस्तु की प्राप्ति में बाधा पड़ने से दुःख होता है, उसके रात-दिन के अनुस्मरण से सुख का अनुभव होता है।

➤ तस्मान्नानुशयः कार्यो वैरिष्विह कदाचन ।

जात्यन्तरगतस्यापि भावितस्य शुभाशुभैः ।

जन्तुं न मुञ्चति ख्यातिस्तत्र कार्यं विजानता ॥<sup>१</sup>

वैरियों के प्रति कभी भी विद्वेष नहीं करना चाहिए क्योंकि शुभाशुभ कर्म से परिचालित जन्तु के आन्तरिक भाव दूसरे जन्म में भी नहीं छूटते हैं।

➤ अपूज्यपूजने चैव पूज्यानां चाप्यपूजने ॥

नरः पापमवाप्नोति महद्वै नात्र संशयः ।<sup>२</sup>

अपूज्यों को पूजने और पूज्यों को न पूजने से मनुष्य घोर पाप का भागी होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ।

➤ ऋणं च भुङ्क्ते पापात्मा यः पचेदात्मकारणात् ।

जो केवल अपने लिए भोजन बनाता है वह पापात्मा है और ऋण का भोजन करता है।

➤ इन्द्रियाणां मनो घोरं बुद्ध्यादीनां प्रवर्तनम् ।

अनाहारात्क्षयं याति विद्यादनशनं ।<sup>३</sup>

अनशन करने से इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि का प्रवर्तन अनाहार क्षीण होता है। अतः अनशन तप है। निराहार रहने से मन की चञ्चलता और कठोरता

<sup>१</sup> वायु०, ३०/७८

<sup>२</sup> तत्रैव, ३०/१०३

<sup>३</sup> तत्रैव, ७७/१३२



नष्ट हो जाती है।

- निग्रहाद्बुद्धिमनसो रम्या बुद्धिस्तु जायते ।<sup>१</sup>  
चञ्चल बुद्धि और मन इन दोनों को वश में रखने से सुन्दर बुद्धि उत्पन्न होती है।
- योऽभिप्रत्याहरन्कामान्कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ॥<sup>२</sup>  
जो मनुष्य सभी प्रकार की कामनाओं को कछुए के अंगों की तरह समेट कर छिपा लेता है, वही सच्चा मनुष्य है।
- न जातु कामःकामानामुपभोगेन शाम्यति ।  
हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते ॥<sup>३</sup>  
कामनाएँ कभी इच्छित पदार्थों के उपभोग से शान्त नहीं होती प्रत्युत वे आग में घृत पड़ने के समान उपभोग करने से उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है।}
- जीविताशा धनाशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति ।<sup>४</sup>  
जीवन की आशा और धन की आशा वृद्ध होने पर भी वृद्ध नहीं होती।
- न शक्यमन्यथाकर्तुमदृष्टं हि बलवत्तरम् ।<sup>५</sup>  
अदृष्ट महाबलवान् होता है, उसे हम टाल नहीं सकते।
- “अवश्यं भावमर्थत्वम्”<sup>६</sup>  
‘अवश्य घटित’ होने वाली घटना तो घटकर ही रहेगी।

<sup>१</sup> वायु०, ९३/९४

<sup>२</sup> तत्रैव, ९३/९४

<sup>३</sup> तत्रैव, ९३/९५

<sup>४</sup> तत्रैव, ९३/१००

<sup>५</sup> तत्रैव, ९८/४९

<sup>६</sup> तत्रैव, ९८/४८, ६०

➤ शत्रोर्वधे न दोषोऽस्ति ।<sup>१</sup>

शत्रु का वध करने में कोई दोष नहीं है।

➤ अनाव्यानादवेद्यत्वान्नव प्रश्नो विधीयते ।<sup>२</sup>

जो अचिन्तनीय एवं सर्वथा अज्ञात है—ऐसा प्रश्न नहीं करना चाहिए।

➤ पूजकानां सदोत्कर्षो नास्तिकानामधोगतिः ॥<sup>३</sup>

पूजा आदि करने वालों की सदा उन्नति होती है और जो नास्तिक विचार वाले होते हैं, उनकी सदा अधोगति होती है।

इस प्रकार अध्येय पुराण सुभाषितों तथा सूक्तियों का अगाध भण्डार है। यहाँ पग—पग पर उद्धृत सूक्तियों में दीर्घकाल के अनुभव से उत्पन्न ज्ञानात्मक उपदेशों को प्रस्तुत किया गया है, जो नीतिशास्त्र के समान नीरस न होकर सरस—सुबोध हैं, साथ ही अपने पैसेपन के कारण श्रोता के कठोर से कठोर अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर गहरी चोट करते हैं और उसे रुचिरता से प्रभावित करते हैं। ये उपदेश जीवन के कठिन से कठिन प्रसंगों में दीप—स्तम्भ के समान पथ को आलोकित करने में सफल सिद्ध होंगे।

<sup>१</sup> वायु०, ६७/१०९

<sup>२</sup> तत्रैव, १०१/१९७

<sup>३</sup> तत्रैव, ८१/६



### सन्दर्भ—ग्रन्थ सूची

#### आधार—ग्रन्थ, 'वायुपुराण' विविध संस्करण :

- ☆ आचार्य, श्रीराम शर्मा; संस्कृति—संस्थान, बरेली, प्रथम संस्करण, १९६७.
- ☆ तर्करत्न, पञ्चानन; नवभारत प्रकाशन, ९२ महात्मा गाँधी रोड, कलकत्ता—८, प्रथम संस्करण, आषाढ़, १७८९.
- ☆ राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता, १८८८ (भाग—२).
- ☆ शास्त्री, रामप्रताप त्रिपाठी; हिन्दी—साहित्य—सम्मेलन, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, १९८७.
- ☆ नाशपब्लिशर्स, दिल्ली, १९८३.

#### आनुषंगिक ग्रन्थ ( अन्य सहायक मूल ग्रन्थ ) :

- ☆ अग्निपुराण— (१) संस्कृति—संस्थान, ख्वाजाकुतुब, बरेली, (२) हिन्दी—साहित्य—सम्मेलन, प्रयाग, (३) नागपब्लिशर्स, दिल्ली, (४) चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी ।
- ☆ अष्टाध्यायी, जिज्ञासु (पं०) श्रीब्रह्मदत्त, संशोधक—युधिष्ठिर मीमांसक, प्रकाशक—प्यारेलाल कपूर, प्रथम संस्करण, मार्गशीर्ष वि०सं० २०२२.
- ☆ कूर्मपुराण— (१) संस्कृति—संस्थान, ख्वाजाकुतुब, बरेली, (२) हिन्दी—साहित्य—सम्मेलन, प्रयाग ।
- ☆ कादम्बरी, बाणभट्ट, सम्पा०—(पं०) कृष्णमोहन, चौखम्बा—संस्कृत—सीरीज ऑफिस, वाराणसी— ११, द्वितीय संस्करण, २०१८ (१९६१)।
- ☆ काव्यानुशासनम्, हेमचन्द्र, सम्पा०—पारीख, रसिक लाल सी०, श्री महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई ।
- ☆ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति : (कामधेनुटिप्पणीसहित) , सम्पा०—नारायण नाथजी, कुलकरनी, ओरियण्टल बुक एजेंसी, पूना १९२७.
- ☆ कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, सम्पा०—रघुनाथ सिंह, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण, वि०सं० २०४० (१९८३).
- ☆ छन्दःशास्त्र, पिङ्गलनाग, व्याख्या—हलायुधभट्ट; सम्पा०—केदारनाथ, द्वितीय संस्करण, निर्णयसागर, बम्बई, १९३८.

- ☆ छन्दोमञ्जरी, गंगादास—(१) व्याख्या०—हरिदत्तशास्त्री तथा शंकरदेव पाठक, सम्पा०—अनन्तराम शास्त्री वेताल, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९४८, (२) सम्पा०—तारानाथ भट्टाचार्य, तृतीय संस्करण, कलकत्ता, यन्त्र, १८७६.
- ☆ छन्दोविंशतिका, झा (पं०) रामचन्द्र, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, वि०सं० २०४०.
- ☆ छान्दोग्योपनिषद्, सम्पा०—शास्त्री, काशीनाथ, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १९३४.
- ☆ देवीभागवत पुराण, नागपब्लिशर्स, दिल्ली।
- ☆ निरुक्त, यास्काचार्य (१) सम्पा०—ऋषि (डॉ०) उमाशंकर, चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी, पञ्चम संस्करण, १९८९; (२) दुर्गाचार्यवृत्ति, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६४.
- ☆ नारदीयपुराण— (१) हिन्दी—साहित्य—सम्मेलन, प्रयाग, (२) संस्कृति—संस्थान, ख्वाजाकुतुब, बरेली ।
- ☆ पद्मपुराण, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली।
- ☆ पागशरोपपुराणम्, सम्पा० त्रिपाठी, (डॉ०) कपिलदेव, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी; प्रथम संस्करण, १९९०.
- ☆ ब्रह्मवैवर्तपुराण— (१) हिन्दी—साहित्य—सम्मेलन, प्रयाग, (२) संस्कृति—संस्थान, बरेली ।
- ☆ ब्रह्माण्डपुराण— (१) नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, (२) संस्कृति—संस्थान, बरेली।
- ☆ बुद्धचरित (प्रथम भाग), अश्वघोष, व्याख्याकार—रामचन्द्रदास शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सप्तम संस्करण, १९९५.
- ☆ भविष्यपुराण—(१) हिन्दी—साहित्य—सम्मेलन, प्रयाग, (२) संस्कृति—संस्थान, ख्वाजाकुतुब, बरेली।
- ☆ भागवतपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर ।
- ☆ मत्स्यपुराण— (१) संस्कृति—संस्थान, बरेली, (२) हिन्दी—साहित्य—सम्मेलन, प्रयाग, (३) नाग पब्लिशर्स, दिल्ली।
- ☆ मनुस्मृति, सम्पा०—शास्त्री (पं०) हरगोविन्द, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, पञ्चम संस्करण, वि०सं०, २०४१ (१९८४).
- ☆ महाभारत, गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर।
- ☆ महाभाष्य, पतञ्जलि (खण्ड—१, २, ३) सम्पा०— मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, मार्च, १९६७.

- ☆ मार्कण्डेयपुराण—(१) संस्कृति—संस्थान, बरेली, (२) हिन्दी—साहित्य—सम्मेलन, प्रयाग ।
- ☆ याज्ञवल्क्यस्मृति, महर्षि याज्ञवल्क्य, सम्पा०—पाण्डेय (डॉ०) उमेशचन्द्र; चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पञ्चम संस्करण, वि०सं० २०५०.
- ☆ लघुसिद्धान्तकौमुदी, सम्पा०—शास्त्री धरनन्द, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६१.
- ☆ लिंगपुराण— (१) नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, (२) संस्कृति—संस्थान, बरेली ।
- ☆ वामनपुराण— (१) नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, (२) संस्कृति—संस्थान, बरेली ।
- ☆ विष्णुपुराण— (१) नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, (२) संस्कृति—संस्थान, बरेली ।
- ☆ विष्णुधर्मोत्तरपुराण, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली।
- ☆ वीरमित्रोदय, श्रीमित्र मिश्र, सम्पा० पर्वतीय नित्यानन्द पन्त, Vol. I, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९१३.
- ☆ वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, दीक्षित, भट्टोजि, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
- ☆ शिवपुराण— (१) नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, (२) संस्कृति—संस्थान, बरेली ।
- ☆ साम्बपुराण, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण, वि०सं० २०४०.
- ☆ स्कन्दपुराण—(१) नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, (२) संस्कृति—संस्थान, बरेली,  
(३) हिन्दी— साहित्य—सम्मेलन, प्रयाग ।
- ☆ हर्षचरित, बाणभट्ट; सम्पा०—पाठक (पं०) श्री जगन्नाथ, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी षष्ठ संस्करण, १९८९.
- ☆ श्रीमद्भगवद्गीता, गीताप्रेस, गोरखपुर ।
- ☆ आलोचनात्मक अन्य सहायक ग्रन्थ :
- ☆ अग्रवाल, त्रामुदेवशरण; मार्कण्डेयपुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन; हिन्दुस्तानी एक्केडमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६१ ई०।
- ☆ अग्रवाल, हंसराज; संस्कृतसाहित्य का इतिहास, संस्कृत प्रबन्ध प्रदीप, शक्ति प्रकाशन, लुधियाना।
- ☆ अय्यर (डॉ०) लक्ष्मोदेवी शर्मा; अष्टादशपुराणेषु नारी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण, वि०सं०, २०५३, १९२७.
- ☆ अवस्थी (डॉ०) अवधबिहारी लाल; गरुडपुराण एक अध्ययन; कैलाश प्रकाशन, लखनऊ; प्रथम संस्करण, १९६८.
- ☆ उपाध्याय, बलदेव; पुराणविमर्श, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, तृतीय संस्करण, १९८७.

- ☆ उपाध्याय, बलदेव; भागवत सम्प्रदाय, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी; प्रथम संस्करण, वि०सं० २०१०.
- ☆ उपाध्याय, बलदेव; भारतीय धर्म और दर्शन, चौखम्बा ओरियन्टालिया वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७७.
- ☆ उपाध्याय, बलदेव; भारतीय धर्म और दर्शन का अनुशीलन, शारदा संस्थान, प्रथम संस्करण, १९८५.
- ☆ उपाध्याय, बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास; शारदा निकेतन वाराणसी, दशम संस्करण १९७८.
- ☆ उपाध्याय, बलदेव, संस्कृत—वाङ्मय का बृहद् इतिहास (प्रथम खण्ड—‘वेद’); सम्पादक—चौबे (प्रो०) ब्रज बिहारी; उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ; प्रथम संस्करण वि०सं० २०५२, १९९६ ई०।
- ☆ कश्यप, अर्जुन चौबे, धर्म शास्त्र का इतिहास (मूल लेखक—पी०वी०काणे), उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, राजर्षि पुरुषोत्तम टण्डन, हिन्दी भवन, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ, प्रथम संस्करण, १९७३.
- ☆ कृष्ण कुमार, संस्कृत—नाटक—सूक्ति—तरङ्गिणी, प्रथम संस्करण, १९८१ मयंक प्रकाशन, आलोक प्रेस, डिप्टीगंज, मुरादाबाद।
- ☆ गुप्त, (डॉ०) नत्थूलाल; महाभारत : एक समाजशास्त्रीय अनुशीलन; साहित्य प्रकाशन, मालीवाड़ा, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९८०.
- ☆ गुप्त, एस०एन०दास, भारतीय दर्शन का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९८८ (भाग—१—५)
- ☆ गुप्ता, (डॉ०) पवन कुमारी; पातञ्जलयोगसूत्र : एक समालोचनात्मक अध्ययन, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७९.
- ☆ चतुर्वेदी, (पं०) गिरिधरशर्मा; पुराणपरिशीलन; बिहार—राष्ट्रभाषा—परिषद्, पटना, प्रथम संस्करण,—२०००, शकाब्द १८९२, वि०सं० २०२६।
- ☆ चन्देल, (डॉ०) उमापति राय; पौराणिक आख्यानो का विकासात्मक अध्ययन, कोणार्क प्रकाशन, ६१ एफ. कमलानगर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७५.
- ☆ चौधरी, राममूर्ति; हरिवंशपुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन, सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, प्रथम संस्करण, १९८९.

- ☆ जग्गी, रत्न सिंह, दशम—ग्रन्थ की पौराणिक पृष्ठभूमि , भारतीयसाहित्य मन्दिर, फुब्बारा, दिल्ली; प्रथम संस्करण, १९६५.
- ☆ ठाकुर, (पं०) आद्या दत्त, वेदों में भारतीय संस्कृति, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण, १९६७.
- ☆ तिवारी, (डॉ०) भोलानाथ; भाषाविज्ञान, किताब महल प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण, १८८४.
- ☆ तिवारी, (डॉ०) रामजी, भविष्यपुराण : एक अनुशीलन, वैशाली प्रकाशन, बकशीपुर, गोरखपुर (उ०प्र०) प्रथम संस्करण, १९८६.
- ☆ त्रिपाठी, (डॉ०) श्रीकृष्णमणि; अष्टादशपुराणपरिचय, चौखम्बा सरस्वती भवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९८०, वि०सं० २०३७.
- ☆ त्रिपाठी, (डॉ०) श्रीकृष्णमणि; पुराणेतिहासयोः सांख्ययोगदर्शनविमर्श; सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण, वि०सं० २०३६, ई०१९७१।
- ☆ त्रिपाठी, (डॉ०) श्रीकृष्णमणि; पुराणतत्त्वमीमांसा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, १९९० ।
- ☆ त्रिपाठी, (डॉ०) श्रीकृष्णमणि; पुराणपर्यालोचनम् (संस्कृत), चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९७५.
- ☆ त्रिपाठी, (डॉ०) श्रीकृष्णमणि; पौराणिकपुरुषपात्रपर्यालोचन, चौखम्बा सरस्वती भवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९८० वि०सं० २०३७.
- ☆ त्रिपाठी, (डॉ०) श्रीकृष्णमणि; पौराणिक रहस्यों का समीक्षात्मक अनुशीलन, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९८४, वि०सं० २०४१.
- ☆ द्विवेदी, (डॉ०) पारसनाथ ; अग्निपुराणोक्तकाव्यालंकारशास्त्रम्, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९८५.
- ☆ पाठक, (डॉ०) सर्वानन्द, विष्णुपुराण का भारत, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६७, वि०सं० २०२४.
- ☆ पाण्डेय, (श्रीमती) वीणापाणि, हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक विवेचन; प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण, १९६०.
- ☆ पाण्डेय, (पं०) चन्द्रशेखर एवं व्यास (डॉ०) शान्ति कुमार नानूराम : संस्कृतसाहित्य की रूपरेखा; साहित्य निकेतन, प्रथम संस्करण, १९४५, २१वाँ संस्करण, १००६.

- ☆ पाण्डेय, (डॉ०) रामखेलावन, भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक चेतना; अनुपम प्रकाशन पटना-६, प्रथम संस्करण-१९६७ द्वितीय संस्करण-१९६९.
- ☆ पाण्डेय (डॉ०) रामसुरेश; महाभारत और पुराणों में सांख्यदर्शन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७२.
- ☆ पाण्डेय, (डॉ०) हरिशंकर, श्रीमद्भागवत की स्तुतियों का समीक्षात्मक अध्ययन, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनू, १९९४, प्रथम संस्करण ।
- ☆ बन्धु, (पं०) रघुनाथदत्त, पुराणकथाकौमुदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, जुलाई, १९६२.
- ☆ बंसल, रुनझुन, विष्णुधर्मोत्तरपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, १९९७.
- ☆ बोस, (डॉ०) सीमा, विष्णुपुराण : एक भाषावैज्ञानिक अध्ययन, भारत-भारती-भण्डार, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९९१.
- ☆ भगवदत्त, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास (प्रथम भाग), भारतीय साहित्य भवन, प्रथम संस्करण, विक्रम सं० २००८.
- ☆ भगवदत्त, वैदिक वाङ्मय का इतिहास (द्वितीय भाग), प्रथम संस्करण, दिसम्बर, १९२७.
- ☆ भट्टाचार्य, (डॉ०) रामशंकर, पुराणगत वेदविषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, शक् संवत् १८८७ (सन् १९६५ई०)।
- ☆ मिश्र, उमेश; भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण, १९५७.
- ☆ रॉय, सिद्धेश्वरी नारायण; पौराणिक धर्म एवं समाज; पञ्चनद पब्लिकेशंस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९६८.
- ☆ लज्जावती, देवीभागवतपुराण में नारी की स्थिति, निर्मल पब्लिकेशंस, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९९५.
- ☆ लाल, (डॉ०) जौहरी; श्रीमद्भागवत में काव्यसौन्दर्य, निर्माण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण, १९९४.
- ☆ वागीश, (डॉ०) भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी; पाणिनीयधातुपाठसमीक्षा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रथम-भाग, द्वितीय संस्करण, १९९४ तथा द्वितीय भाग, द्वितीय संस्करण, १९९६.
- ☆ विनोद शंकर; ईशानः सर्वदेवानाम्; सुभाष पब्लिशर्स, प्रथम संस्करण, १९९९.



- ☆ विश्वेश्वर, जी०; समाज (मैकाइवर एवं पेज कृत 'सोसाइटी' का हिन्दी अनुवाद) संशोधक एवं पुनरीक्षक, गौड, रामपाल सिंह, १९७७-१९७८, रतन प्रकाशन मंदिर, द्वितीय संस्करण, १९७२.
- ☆ व्यास, उमाशंकर, वैष्णव, शैव एवं अन्य धर्म (मूल लेखक-भण्डारकर आर०जी०) १९७८, इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, दिल्ली।
- ☆ व्यासशिष्य, (डॉ०) कुँवरलाल जैन, पुराणों में आदिभारत का इतिहास; इतिहासविद्या प्रकाशन, दिल्ली, १९९०.
- ☆ व्यासशिष्य, (डॉ०) कुँवरलाल जैन, पुराणों में वंशानुक्रमिक कालक्रम, इतिहासविद्या प्रकाशन, दिल्ली, १९८९.
- ☆ व्यासशिष्य, (डॉ०) कुँवरलाल जैन, पुराणों में इतिहास, इतिहास विद्या प्रकाशन, दिल्ली, १९८८.
- ☆ शर्मा, कुन्दनलाल; वैदिक वाङ्मय का बृहद् इतिहास (षष्ठ खण्ड) विश्वेश्वरानन्द, वैदिक शोध-संस्थान, होशियारपुर (पंजाब), प्रथम संस्करण, १९८३, वि०सं० २०३९.
- ☆ शर्मा, सत्यप्रकाश (सम्पा०), आम्भृणीयम्, (आचार्यरमेशचन्द्रशुक्लाभिन्नदनग्रन्थ), विजय प्रेस, बदायूँ, प्रथम संस्करण, नवम्बर, १९८३.
- ☆ शर्मा (पं०) हंसराज, पुराण और जैनधर्म, श्री आत्मानन्द जैन, पुस्तक-प्रचारक-मण्डल, रोशन मुहल्ला, आगरा, वि०सं० २४५३ (१९२७).
- ☆ शर्मा, (डॉ०) हरवंश लाल; भागवत दर्शन; भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़ ।
- ☆ शास्त्री (डॉ०) नेमिचन्द्र; आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, श्री गणेश प्रसाद वर्णी, ग्रन्थमाला, वाराणसी-प्रथम संस्करण, १९६८.
- ☆ शास्त्री (डॉ०) मंगलदेव, संस्कृतसाहित्य का इतिहास (मूल लेखक-ए०बी०कीथ), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, १९६७, पुनर्मुद्रण, १९७८.
- ☆ शास्त्री (पं०) माधवाचार्य; पुराणदिग्दर्शन, प्रकाशक-शास्त्री, प्रेमाचार्य, माधव विद्याभवन, दिल्ली, पंचम संस्करण, २०५५.
- ☆ शुक्ल (आ०) बदरीनाथ, मार्कण्डेयपुराण : एक अध्ययन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, वि०सं० २०१८ (१९६१).
- ☆ शुक्ल (डॉ०) बृजेश कुमार, पुराण-साहित्यादर्शः, न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९९८.

- ☆ सिंह (डॉ०) राजकिशोर; संस्कृत साहित्य का सुबोध इतिहास, विनोद पुस्तकमंदिर, आगरा, प्रथम संस्करण, १९७८.

अप्रकाशित शोध—ग्रन्थ :

- ☆ पुराणों में पुरुषार्थ चतुष्टय; शर्मा, (डॉ०) मंजूलता, डॉ० भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा, १९९६.
- ☆ वायुपुराण एक सांस्कृतिक अध्ययन; जायसवाल, मधु ; लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, १९९६.

☆ आंग्ल—ग्रन्थ :

- ☆ Bhatt (Dr.) G.P., Ancient Indian Tradition & Mythology, The Vāyu Purāṇa ( Part I, II) Translated and Annotated by Tagore, G.V., Motilal Banarsidass, First Edition, Delhi 1988.
- ☆ Biswas, Ashutosh Sharma; Bhāgwat Purāṇa : Linguistic Study, Dibrugarh (Assam), 1968.
- ☆ Dange, S.A. Encyclopaedia of Pauranic belief, Delhi, 1982.
- ☆ Hāzra, R.C.; Studies In The Paurāṇic Records On Hindu Rites & Customs , Motilal Banarsidass, New Delhi, IInd Edition, 1975.
- ☆ Kane, Pandurang Vaman; History of *Dharmaśāstra*, Bhandarkar Oriental Research Institute, Pune, 1950.
- ☆ Mani, Vettam; Paurāṇic Encyclopaedia, Motilal Banarsidass, Ist Edition, Delhi, 1975.
- ☆ Olivelle Patrick, Dharmasutras (Apastamba, Gautam, Baudhayana & Vasistha) Annotated text and Translation, Motilal Banarsidass, Delhi, Ist Edition, 2000.
- ☆ Pargiter, E.F., Ancient Indian Historical Tradition, Motilal Banarsidass, Delhi, 1922 (Re. 1972).
- ☆ Patil, D.K.R., Cultural History from Vāyu Purāṇa, Deccan College Post Graduate & Research Institute, Poona, 1946.

- ☆ Pusalkar, A.D., Studies in Epics & Purāṇās of India, Bhārtiya Vidya Bhawan, Bombay, 1963.
- ☆ Roy, S.N., Historical & Cultural Studies in the Purāṇas, Paurāṇic Publications, Allahabad, 1st Edition, 1978.
- ☆ Seth, Surabhi; Religion and Society in the Brahma Purāṇa, Sterling Publishers Pvt. Ltd. New Delhi, 1st Edition, 1979.
- ☆ Winternitz, Maurice; History of Indian Literature, Calcutta University, Calcutta, 1933.
- ☆ कोश — ग्रन्थ :
- ☆ अभिधानराजेन्द्र, विजयरजेन्द्रसूरि; सम्पा० दीपविजय, रतलाम, जैनश्वेताम्बर, समस्तसंघ, १९१३—१९३४.
- ☆ अमरकोश, अमरसिंह; (१) भाषा—टीका—श्रीमन्नालाल 'अभिमन्यु' चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १९९५, (२) खेमराज, श्रीकृष्णदास; श्री वेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, संवत्, २००९, सन् १९९२।
- ☆ आख्यानकर्मणिकोश, श्री नेमिचन्द्रसूरि; संशोधक एवं सम्पादक—मुनिपुण्यविजय; प्राकृत ग्रन्थ परिषद, वाराणसी, वि०सं० २०१८ (१९६२).
- ☆ नाटकलक्षणरत्नकोश, श्री सागरनन्दी; व्याख्याकार एवं सम्पादक—श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, प्रथम संस्करण, वि०सं० २०२८.
- ☆ पद्मचन्द्रकोश, सम्पा० (पं०) गणेशदत्त शास्त्री; प्रकाशक—मेहरचन्द लक्ष्मणदास, संस्कृत पुस्तकालय, सैदमिह्ना बाजार, लाहौर, १९२५.
- ☆ पुराण—विषय—समनुक्रमणिका, यशपाल टण्डन, विश्वेश्वरानन्द संस्थान, होशियारपुर, प्रथम संस्करण, १९५२.
- ☆ पुराण—विषयानुक्रमणी, (डॉ०) राजबली पाण्डेय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण, वि०सं० २०१४ (१९५७).
- ☆ पुराणसन्दर्भकोश पद्मिनी मेनन, ग्रन्थम्, रामबाग, कानपुर, प्रथम संस्करण, दिसम्बर, १९६९.
- ☆ पौराणिक आख्यानकोश, डॉ० रामशरण गौड, विभूति प्रकाशन, दिल्ली ।
- ☆ भारतवर्षीय प्राचीनचरित्रकोश, म०म०सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, भारतीय चरित्रकोश मण्डल, पूना, १९६४.

- ☆ मेदिनीकोश, श्रीमेदिनिकर; सम्पा० (पं०) जगन्नाथशास्त्री होशिंग, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी—१९६४.
- ☆ वाचस्पत्यम्, श्री तारानाथ भट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, १९६२.
- ☆ विश्वसूक्तिकोश (१—४ भाग) श्रीशरण, आर्य बुक डिपो, करौल बाग, नई दिल्ली।
- ☆ शब्दकल्पद्रुम, राधाकान्तदेव, सम्पा० हरिचरण वसु, कलकत्ता, पाथुरिया घाट स्ट्रीट, १९०९—१३.
- ☆ संस्कृत—हिन्दी—कोश, वामन शिवराम आप्टे; मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६६, द्वितीय १९६९.
- ☆ हलायुध कोश, सम्पा० जयशंकर जोशी, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण, १९५७, द्वितीय संस्करण, १९६७.
- ☆ Advanced Illustrated Oxford Dictionary of the English language (Anglo-Hindi Edition), Kapoor, R.K., Verma Book Depot, Nai Sarak, Delhi.
- ☆ पत्र एवं पत्रिकाएँ :
- ☆ अर्वाचीन संस्कृतम् (त्रैमासिक); देववाणी—परिषद्, दिल्ली ।
- ☆ आरण्यकम् (अर्द्धवार्षिक); संस्कृत प्रसार परिषद्, आरा, बिहार ।
- ☆ कल्याण 'पुराणकथांक'; गीताप्रेस, गोरखपुर ।
- ☆ पारिजातम् (मासिक); प्रेमनगर, कानपुर ।
- ☆ पावमानी (त्रैमासिकी) स्वामी, समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल प्रभात—आश्रम, (टीकरी), भोला झाल, मेरठ।
- ☆ पुराणम् (षाण्मासिक); काशिराजट्रस्ट फोर्ट, रामनगर, वाराणसी ।
- ☆ भारतोदयः (मासिक); गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर, हरिद्वार ।
- ☆ विश्वसंस्कृतम् (त्रैमासिकी); विश्वेश्वरानन्द—वैदिक—शोध—संस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर (पंजाब)।
- ☆ सम्मेलन—पत्रिका (त्रैमासिकी); हिन्दीसाहित्य—सम्मेलन, प्रयाग ।
- ☆ स्वरमंगला (त्रैमासिकी); राजस्थान संस्कृत अकादमी, (संगम) जयपुर ।

